स्वर्गीय पं० नलिन विलोचन शर्मा

✣ ✣

पर उनके पार्थिव शरीर का अग्नि-संस्कार कर रहे थे, तब लगा, जैसे हमारे किये-धिये कुछ होता नहीं।"

बोरिंग रोड, पटना—१ रामवृक्ष बेनीपुरी

✣
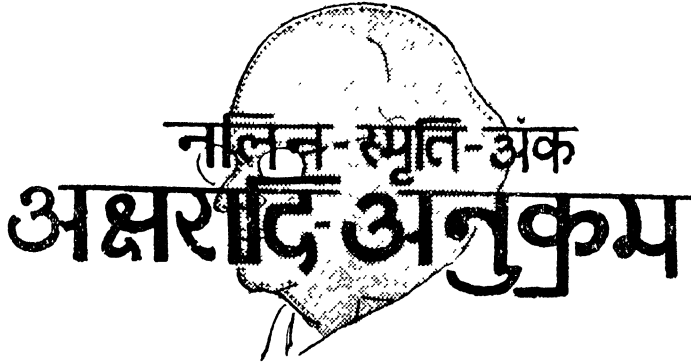
वर्ष १२ अङ्क ८-९

नवम्बर-दिसम्बर १९६१ ई०

कार्तिक-अगहन, १८८३ शा०

नलिन-स्मृति-अंक
अक्षरादि-अनुक्रम

विशेष

प्रेम-गीति : जो अधूरी छोड़ दी गई—नलिन विलोचन शर्मा

व्यक्तित्व

पत्र-पुष्प

✤

प्रेम-गीति जो अधूरी छोड़ दी गई

[स्वर्गीय नलिनजी की सर्वान्तिम कविता-कृति :
उनकी सहधर्मिणी कुमुदजी से साभार प्राप्त]

✲ ✲ ✲

मैं कविता लिख रहा था
तुम्हीं आ गईं
मैंने कविता लिखना बंद कर दिया।
ऐसा शायद ही कभी होता हो
अक्सर कविता पूरी हो जाती है
कभी-कभी एक से अधिक कविताएँ
लिखता रह जाता हूँ
मगर तुम नहीं आतीं।
तुम मेरी कविता पर हँसती हो
तुम्हारा आत्मविश्वास उचित ही है।

कविता फिर भी लिखी जा सकती है
अनेक कवि लिखते हैं, लिखेंगे।
लेकिन तुम दो नहीं हो, तुम पहले न थीं
फिर नहीं होंगी, और उस तरह तुम्हीं आ सकती हो।
जिस तरह शायद ही कभी तुम आ जाती हो।

तुम्हारी और तुम्हारे आने की अधूरी याद कविता होगी
तुम तुम्हारे सिवा कुछ नहीं हो सकता
यह तुम और मैं दोनों जानते हैं
तुम्हारा चित्र तुम्हें अमर और पुराना बना देगा।
तुम्हारी प्रतिमा तुम्हें शिलीभूत और स्थायी कर सकती है।
किन्तु जो चित्र के छाया और आलोक
और पाषाण के खंड के बीच छिपी तुम हो
वह तुम जो हो वही हो सकता है!

मैं इसी तुम को प्यार करता हूँ
और इस पर कविताएँ लिखता हूँ
क्योंकि कविता तुम्हें बाँधने की
चेष्टा नहीं करेगी
वह अपनी सीमा जानती है
और कहीं अपने को भूलने लगे
तो वह अधूरी रह जाए
यह अंतिम अस्त्र
उसके निर्माता—मेरे पास है
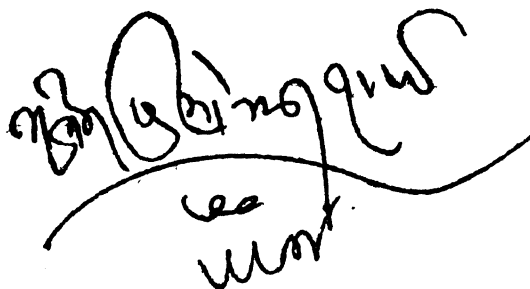
—'तुम विश्रब्ध रहना'

१८-८-६१

क्षर-क्षणभंगुर की स्मृति को स्थायी बनानेवाले
दो अश्रु-सिक्त अमर आलेख

"घर में आँधी चलती है,
किंतु तुम्हारे आदेश का
पालन कर रही हूँ—
तुम विश्रब्ध रहना"

—कुमुद

पत्नी के कम्पित कर से

अचानक छोड़कर चले जाने
वाले बाबूजी को क्या
कहूँ!...

राजीव शर्मा

अपत्य की अनाथ अंगुलियों द्वारा

नलिनजी की लेखनी ने ही नहीं, उनकी तूलिका ने भी आधुनिका की आकृति आँकी थी। उसी बहुमुखता का यह रूपायित रेखांकन !!!

व्यक्तित्व

"बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं !"

अजितनारायण सिंह 'तोमर'
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्,
पटना—६

❋

[*"विद्वत्ता के अतिरिक्त अपने शील और सौजन्य के कारण ही वे जगजाहिर हुए। बिहार के बाहर का कोई भी मूर्धन्य साहित्यकार उनसे मिले बिना अपनी पटना-यात्रा को सफल नहीं मानता था।"* ऐसे थे स्वर्गीय नलिनजी, जिनका प्राण-हारी बिछोह रह-रह यह अहसास कराता है कि—

"बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।"]

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में आने के बाद मैं नलिनजी के बहुत करीब हो गया था। वे जो कुछ बोलते थे तौलकर बोलते थे और जो कुछ करते थे, योजनाबद्ध करते थे। स्वाभिमान उनके हृदय में कूट-कूट कर भरा था, पैतृक संस्कार की तरह। अपने समकक्ष

लोगों के बीच अपनी मान-मर्यादा बनाये रखना भी उन्हें बड़ा प्रिय था। शील-निर्वाह में कुसुमादपि कोमल और अपने सिद्धान्त में वज्रादपि कठोर मैंने उन्हें सदा पाया। उनका व्यवहार आदर्शमय था। विद्वत्ता के अतिरिक्त अपने शील और सौजन्य के कारण ही वे जगजाहिर हुए। बिहार के बाहर का कोई भी मूर्धन्य साहित्यकार उनसे मिले बिना अपनी पटना-यात्रा को सफल नहीं मानता था।

मुझे सचिवालय से सामान्य प्रशासन में पूज्य आचार्य शिवपूजन सहायजी की सहायता के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में भेजा गया था। दैवदुर्विपाक से आचार्य शिवजी दीर्घ-काल तक रोगग्रस्त हो गए। मेरा कार्य-भार बढ़ा। नलिनजी से मैंने अपना दुःख बताया। वे परिषद् के अनुसंधान विभागों के कार्यों के निर्देशन के लिए तुरन्त तैयार हो गए। सचमुच उन्होंने अपने प्रताप और प्रभाव से अनुसंधान विभागों से उल्लेखनीय कार्य कराए।

मेरे द्वारा किए गए अनेक कार्यों में नलिनजी से समर्थन एवं सत्यपरामर्श मुझे सदैव प्राप्त होता रहता था। मैंने अपनी आँखों देखा था कि सारी रात जगकर वे लोगों की पाण्डुलिपियों के पोथों को पढ़कर उन्हें रंग देते थे। उनके ये संशोधन पाण्डुलिपियों में चार चाँद लगा देते थे। तभी तो वे सबके लिए चाँद से प्रिय थे।

नलिनजी सिद्धान्ततः, त्रैमासिक 'साहित्य' के रहते हुए 'परिषद्-पत्रिका' के प्रकाशन के पक्ष में नहीं थे। संचालक-मंडल में प्रकाशन के लिए प्राप्त अल्पराशि से वे 'परिषद्-पत्रिका' का प्रकाशन नहीं कराना चाहते थे, क्योंकि इससे प्रकाशनों के खर्च पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। कई महारथियों के समर्थन के बावजूद उन्होंने इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया था। पर शील का बाँध उनके विरोध के समय टूटने न पाया। बाहर आकर उनका मृदुव्यवहार वैसा ही तरोताजा रहा था। संचालक-मंडल की बैठकों में भी व्यक्ति-विशेष का पक्ष किसी सिद्धान्त द्वारा पुष्ट होने पर ही लेते थे और उसके लिए अपना निर्भीक विचार दृढ़तापूर्वक रखते थे। अपने सिद्धान्त के लिए मित्रता को दूरकिनार रखने को भी तैयार रहते थे। यही कुछ अविस्मरणीय विशेषताएँ हैं उनकी कि उनका वियोग यह स्मरण करने को विवश कर देता है कि वे एक ऐसी हस्ती थे कि—

"बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।"

✣

प्यारे नलिनजी

उदयराज सिंह

प्रबन्ध सम्पादक,

नई धारा, पटना—६

[—"उस दिन मुझमें इतनी हिम्मत न थी कि मैं उस अन्तिम शोभा-यात्रा में अन्त तक शामिल रह सकूँ। मैं अस्त-व्यस्त-सा घर लौटा और अपने आप में खो गया!" नलिनजी के अभिन्न मित्र उदयराजजी की इस मनोदशा की गहराई में जाकर देखने से पता चलता है कि गागर की व्यक्तिगत व्यथा सागर की सार्वजनिक करुणा से किंचित् मात्र कम मर्मवेधी नहीं होती।]

प्यारे नलिनजी पर संस्मरण क्या लिखूँ—कैसे लिखूँ! इसकी कल्पना ही इतनी दर्दनाक है कि लेखनी थर्राकर रह जाती है। जाने कितनी बार सोचा कि कुछ लिखूँ—कुछ भी लिखूँ—दो-चार पंक्तियाँ ही सही, मगर कलम उठाकर रख देता हूँ। जी को गवारा नहीं होता कि नलिनजी अब न रहे। रह-रह कर मन में यह कल्पना अटक जाती है कि नलिनजी अपनी सारी झिझक लिए कहीं-न-कहीं मिल ही जाएँगे।······परन्तु अब

'नलिन-स्मृति-अंक' का सभी मैटर तैयार हो गया है। अब यदि कुछ न लिखा जा सकेगा तो जाने कैसा लगेगा !

हमारे परिवार में साहित्य की चर्चा बराबर होती रही है। बचपन में हमारे पिताजी उर्दू-बंगला की चीजें सुनाकर परिवार के सभी बच्चों का मनोरंजन करते तो हमारे छोटे बाबूजी (स्व० कुमार सर राजीवरंजन प्रसाद सिंह) संस्कृत की पुस्तकें पढ़कर हमें सुनाते और उनकी चर्चा होती। छोटे बाबूजी अँगरेजी साहित्य के बड़े अच्छे विद्वान् थे और १६१७ में उन्हें इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम० ए० (अंगरेजी) की परीक्षा में सर्वप्रथम होने के नाते जुबलीपदक भी मिला था। परन्तु, संस्कृत-साहित्य का भी उनका बड़ा सुन्दर अध्ययन था और वाल्मीकि रामायण से उन्हें इतना प्रेम था कि वह पुस्तक मृत्यु के दिन तक उनके सिरहाने हो रही। वाल्मीकि रामायण तथा अन्य संस्कृत की पुस्तकों की चर्चा करते-करते वह स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा का भी जिक्र करने लगते जो उन दिनों जीवित थे। उनके पाण्डित्य से वह बहुत प्रभावित थे और शर्माजी की प्रशंसा जो यूरोप में और खासकर जर्मनी में हो रही थी उसकी कहानियाँ भी हमें सुनाते। मेरे संस्कृत-शिक्षक श्री जगदीश शुक्ल भी महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा की विद्वत्ता एवं पाण्डित्य की चर्चा सदा मुझसे किया करते और उसी समय उनके दर्शन की अभिलाषा मुझमें जगी परन्तु होनहार ऐसा कि मेरे बचपनमें ही उनका देहान्त हो गया और मेरी अभिलाषा पूरी न हुई। कुछ बड़े होने पर मैंने पंडितजी से पूछा—"आप अक्सर स्व० महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा के यहाँ जाते हैं। उनके निधन के बाद उनके परिवार में अब कोई रहा या नहीं ?" पंडितजी ने तुरत उत्तर दिया—"वाह ! उनके पुत्र नलिनजी पिता के समान ही प्रतिभाशाली हैं और पटने में ही रहते हैं। चलिए, किसी दिन मिलाऊँ आपको उनसे। पिता के दर्शन आपके भाग्य में न थे किन्तु पुत्र के दर्शन तो कीजिए।"

फिर एक दिन हमलोग पटने आए और नलिनजी से मिले। उनसे मिलने और उनके सान्निध्य में आने का जो सिलसिला उस दिन से चला वह उनके मरने के दिन तक बरकरार रहा। मैं उनसे इतना घुलमिल गया कि किसी भी पेचीदा सवाल पर बिना नलिनजी से राय लिए भी नहीं मानता। यहाँ तक कि कभी-कभी अपनी रचनाओं का शीर्षक भी नलिनजी से पूछकर ही लिखता। श्रद्धेय जैनेन्द्रजी की कृपा मुझ पर विशेष रूप से बराबर रही है। उनमें तथा नलिनजी में बड़ी घनिष्ठता थी—एक परिवार जैसा सम्बन्ध था। वह जब भी पटने आते तो नलिनजी के यहाँ ही ठहरते और उनके पधारने पर नलिनजी

मुझे खबर जरूर दे देते। फिर जलपान के साथ-ही-साथ हिन्दी के दो महारथियों के विचारों के आदान-प्रदान सुनने का सुअवसर मुझे मिलता। कुछ ही महीने पहले गरमी के दिनों में कलकत्ता से दिल्ली लौटते श्रद्धेय जैनेन्द्रजी नलिनजी को देखने पटने उतर गए। शायद श्रीमती कुमुद शर्माजी ने उन्हें लिखा था कि नलिनजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। नलिनजी ने मुझे फोन किया कि श्री जैनेन्द्रजी पधारे हैं और तूफान से ही दिल्ली लौट जाएँगे। मेरे नौकर ने फोन सुना था और उसने मुझे यह खबर दी तब जब तूफान के आने का समय हो गया था। खबर सुनते ही मैं नलिनजी के घर की ओर अपनी मोटर से दौड़ा। उनकी गली में ही दोनों से भेंट हो गई। अपनी छोटी गाड़ी में श्री जैनेन्द्रजी को बिठाये नलिनजी स्टेशन भागे जा रहे थे। मुझे देखकर श्री जैनेन्द्रजी मेरी गाड़ी में चले आए और नलिनजी उनका सामान लिए अपनी गाड़ी में बढ़ चले। स्टेशन पहुँचकर मैंने आश्चर्य प्रकट किया—"नलिनजी, आप बीमार हैं, आप खुद क्यों गाड़ी हाँक रहे हैं। ऐसा करना कहाँ तक उचित ...?"

मगर नलिनजी ने मुस्कुराकर मेरे सारे उलाहने को टाल दिया। फिर बातें करते-करते हम उस पार जानेवाली सीढ़ियों तक पहुँचे। गाड़ी आनेवाली थी। मैंने श्री जैनेन्द्र जी से विदा ली और नलिनजी को एक किनारे ले जाकर मैंने अपना हार्दिक उद्‌गार प्रकट किया—"देखिए, आप हमलोगों पर जुल्म कर रहे हैं। इस हालत में सीढ़ी पर चढ़ना कहाँ तक ठीक है? फिर एक बार नहीं, दो-दो बार!!" मगर इस बार भी नलिनजी ने अपनी मुस्कान द्वारा मुझे परास्त कर दिया। घर पर आकर मैंने अपनी पत्नी से कहा भी कि नलिनजी बात नहीं मान रहे हैं। अपनी गाड़ी भी हाँकते हैं और सीढ़ी भी चढ़ते हैं। श्रीमती कुमुद शर्मा से कहो कि उन्हें रोकें। उनकी मृत्यु के बाद मुझे पता चला कि परिवारवालों तथा मित्रों के लाख मना करने पर भी वह गाड़ी पर अपने मित्रों की मंडली लिए सारे शहर घूम आते थे और कभी-कभी गाड़ी हाँक कर शहर से दूर भी चले जाते थे। बात यह थी कि नलिनजी प्यारे नलिनजी थे। वह सबको प्यार देना जानते थे पर अपने शरीर को प्यार-दुलार नहीं दे पाते थे। महान् व्यक्तियों की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है। उन्हें अपने शरीर से विरक्ति ही बनी रहती है।

दो साल हुए, एक दिन एकाएक पं० जगदीश शुक्ल हमारे यहाँ पहुँचे और उन्होंने बड़े परीशान होकर कहा—"सूर्यपुरा राज राजेश्वरी साहित्य-परिषद् इस साल बड़ी धूमधाम से तुलसी-जयन्ती मनाने जा रही है। समय बहुत नजदीक है मगर आजतक सभापति का चुनाव नहीं हो सका है। मैं पटना में कई महानुभावों से मिला भी मगर सभी कहीं-न-कहीं

जाने का वचन दे चुके हैं। अब क्या किया जाय ? मैं कौन मुँह लेकर सूर्यपुरा लौटूँ ?"

मैंने झट कहा—"घबराइए नहीं, अब एक ही रास्ता है। नलिनजी के यहाँ चलिए। उन्हीं पर मेरा जोर है। उन्हें मोटर पर बिठाकर, कुछ ही घंटों के लिए सही, जरूर ही सूर्यपुरा ले चलूँगा।"

हमलोग दौड़े-दौड़े नलिनजी के यहाँ पहुँचे और उनसे सारी दिक्कतें बताईं। उन्हें कई जगह पटने से बाहर तुलसी-जयन्ती के लिए जाना था पर यह उनकी महानता कहिए कि उन्होंने हमारी प्रार्थना तुरन्त मान ली। बस, डूबते को सहारा मिल गया। पंडितजी बल्लियों उछलते तैयारी करने सूर्यपुरा दौड़ गए।

तुलसी-जयन्ती के दिन नलिनजी और मैंने मोटर से सूर्यपुरा के लिए प्रस्थान किया। आरा में पता चला कि बाढ़ के कारण पुल टूट गया है और कुछ दूर के रास्ते से सफर तै करना होगा। मुझे बड़ी खुशी हुई। सोचा, नलिनजी से जमकर बात करने का अच्छा मौका मिला। रास्ते भर तरह-तरह के विषयों पर चर्चा होती रही। कहानी, उपन्यास, दर्शन, नई कविता, आलोचना तथा राजनीति भी…। हमलोग संध्या समय सूर्यपुरा पहुँचे। मैंने नलिनजी से कहा—"इतनी लम्बी यात्रा के बाद आप थक गए होंगे कहिए तो कल सुबह सभा की जाय और सभामंडप से आप सीधे पटना रवाना हो जाएँ ताकि कॉलेज भी न छूटे।"

"नहीं-नहीं, मैं बिलकुल नहीं थका हूँ। आप मेरी चिन्ता कर रहे हैं, मगर उन ग्रामीणों की चिन्ता नहीं करते जो इस वर्षा में कोसों पानी-कीचड़ में चलकर तुलसी-साहित्य पर कुछ सुनने को आतुर आए हैं। मैं एकदम ठीक हूँ, अभी-अभी चलिए।"

हमलोग एक प्याली चाय पीकर सभास्थल की ओर बढ़े। उन्हें सुनने को बहुत दूर-दूर से लोग आए थे। उस दिन उन्हें मानपत्र देने का सौभाग्य मुझे ही मिला। अन्त में तुलसी-साहित्य पर जो सारगर्भित उनका भाषण हुआ, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी है। सभा समाप्त होते ही उन्हें लोगों ने घेर लिया। सभी उनसे मिलने और बातें करने को लालायित थे। उन्हें भीड़ से छुड़ाकर किसी तरह मैं अपने निवास-स्थान पर लाया। मेरे यहाँ उनके सम्मान में एक प्रीतिभोज का आयोजन था। बहुत देर तक खाना-पीना हुआ—खुशगप्पियाँ हुईं। फिर मैंने नलिनजी के सामने प्रस्ताव रखा—"आप काफी थक गए होंगे। कल सुबह ही पटना लौटना है—यदि विश्राम करना चाहें तो सारी व्यवस्था हो गई है।"

"नहीं-नहीं, अभी बैठिए। अभी जल्दी क्या है—हाँ, अभी-अभी भोजपुरी लोक-गीत पर चर्चा चल रही थी—क्या इस गाँव में भी कुछ लोग ऐसे हैं ?"

"वाह, यहाँ तो ऐसे लोग भरे पड़े हैं। चन्द चीजें मैं आपको अभी सुनवाता हूँ।"

मैंने झट रामबली लोहार तथा बालकेश्वर अहीर को बुलवाया। दोनों भोजपुरी गीत बनाते हैं और खुद गाते भी हैं। इस इलाके में इनका अच्छा नाम है। दोनों ने एक समाँ बाँध दिया। नलिनजी उनकी चीजें आनन्द-विभोर हो सुनने लगे। मध्यरात्रि के उपरान्त मैंने टोका—"नलिनजी, अब सोने चलिए। नहीं तो कल आप बीमार पड़ जाएँगे और समय पर कॉलेज भी न पहुँच पाएँगे।"

साहित्य-रसिक नलिनजी साहित्य के हर अंग पर रीझ जाते थे। भोजपुरी लोक-गीतों को उस रात इतना तन्मय होकर सुनना मुझे कभी न भूलेगा। बीच-बीच में नलिनजी की जो टिप्पणी होती, वह अद्वितीय! उफ्! वह रात अब लौटने को कहाँ!

नलिनजी सदृश मित्र तो अब मिलने से रहा। १९६० के जाड़े का मौसम। दिन के ग्यारह बज रहे होंगे। मैं प्रेस जाने की तैयारी कर रहा था कि किसी ने सूचना दी कि बाहर नलिनजी पधारे हैं। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। यह तो उनके कॉलेज जाने का समय है। आज ऐसी कौन अप्रत्याशित घटना हो गई जो इस समय यहाँ खसीट लाई! मैं दौड़ा-दौड़ा बाहर आया तो देखा, प्यारे नलिनजी बड़े इतमीनान से बैठे हैं। प्रणाम-पाती के बाद मैंने जरा झिझकते हुए कहा—"कहिए, खैरियत तो है! आज कॉलेज बन्द है क्या?"

"नहीं, मैं तो सचिवालय से आ रहा हूँ। एक मीटिंग थी। वहीं मुझे पता चला कि अनजाने में मैंने आपका कुछ उपकार कर दिया है। लौटते समय सोचा कि इसकी खबर आपको देता जाऊँ। अनजाने में भी एक मित्र का उपकार कर देने से मुझे बड़ी खुशी हुई।"

मैं तो अवाक् था। मेरे पास कृतज्ञताज्ञापन के कोई शब्द न थे। कुछ देर के बाद ही मैं कह सका—"नलिनजी, आप मुझे शर्मिंदा क्यों कर रहे हैं? यह बात तो मुझे आप घर पर फोन से बुलाकर भी कह सकते थे। कॉलेज छोड़कर इतनी दूर कष्ट कर आना कहाँ तक ठीक है, मैं तो······"

वह हँसने लगे—"इसमें कष्ट क्या है? मैं तो बहुत खुश हूँ। यहाँ से कॉलेज ही तो जाना है। रिक्शा रुका है।"

मैंने झट कहा—"भाई, अब भी तो मुझ पर रहम करें। खुदा के लिए रिक्शा तो छोड़ ही दें। मेरी गाड़ी पर जाएँ। यहाँ से पटना कॉलेज पाँच मील दूर है।"

अहोभाग्य मेरा—नलिनजी ने हँसते-हँसते मेरी बात मान ली।

संकोची और विनम्र मित्र होते हुए भी नलिनजी कभी अपना साहित्यिक दायित्व न

भूलते थे। अभी उस दिन 'भूदानी सोनिया' पर चर्चा होने लगी तो नलिनजी ने झिझकते-झिझकते कहा—"शिवाजी, किसी राजनीतिक सिद्धान्त को नजर में न रखकर यदि साहित्य की दृष्टि से कोई उपन्यास का सृजन हो तो ज्यादा श्रेयष्कर होगा।" उनका इतना इशारा मेरे लिए काफी था।

एक बार बच्चन देवी गोष्ठी में राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन पधारे थे। उस दिन चर्चा में उन्होंने कहा कि साहित्य से जीवन का महत्त्व ज्यादा है और उसे महान् बनाना ज्यादा आवश्यक है। आज जब मैं श्रद्धेय टंडनजी की उन बातों को सोचता हूँ और पलट कर प्यारे नलिनजी के जीवन पर सोचता हूँ तो ऐसा लगता है कि नलिनजी का साहित्य और जीवन दोनों महान् है। वह कलम के ही नहीं, दिल के भी धनी थे और यह मणिकांचन-संयोग किसी एक में विरले ही देखने को मिलता है। उनके ऐसा सुहृद्, उनके ऐसा नेक-मिजाज मानव तो आज की दुनिया में चिराग लेकर ढूँढ़ने पर ही मिलेगा। जभी तो उनकी शव-यात्रा में सभी वर्ग के लोग देखने को मिले—क्या अमीर, क्या गरीब, क्या साहित्यकार, क्या अफसर! ऋषिकल्प आचार्य शिवपूजन सहाय की तो आँखों से अश्रुधारा बह ही रही थी, कोने में खड़ा मेरा सरयू ड्राइवर भी, जो यदा-कदा उनको सवारी दे चुका था, और उनके स्नेह की कुछ बूँदें ही पाया था, फूट-फूट कर रो रहा था। उनकी शवयात्रा शवयात्रा न थी, एक महान् साहित्यकार की अन्तिम शोभायात्रा थी।

उस दिन मुझमें इतनी हिम्मत न थी कि मैं उस अन्तिम शोभायात्रा में अन्त तक शामिल रह सकूँ। मैं अस्त-व्यस्त-सा घर लौटा और अपने आप में खो गया।

फिर मैंने देखा कि प्रेस की डाक लिए मेरा नौकर खड़ा है। मैं चुप था, गुमसुम! उसने पूछा—"आज कोई मिनिस्टर—कोई भारी अफसर मर गइलन ह का? बाँस घाट पर इतना आलम बा कि बाप रे बाप! साइकिल से उतर के चले के पड़ल ह। अइसन भीड़ तो घाट पर कभी ना देखले रहीं। केतना बड़ अफसर रहन सरकार!"

मैं अभी भी चुप हूँ। सोच रहा हूँ—इसको क्या मालूम कि यह किसी सत्ताधारी अफसर का नहीं, परन्तु साहित्यकार नलिनजी के प्रति जनता का प्रेम-प्रदर्शन था, जो स्वयं सत्ताधारी न था किन्तु जन-मानस के हृदय का हार था और था उसके उन्नत ललाट का सौम्य शृंगार!!

✻

उपेन्द्र महारथी
निदेशक, हस्तशिल्प-अनुसंधान-संस्थान
पटना

आधुनिक शैली के समर्थक

[नलिनजी आधुनिक चित्रशैली के समर्थक, जिस पर पाश्चात्य प्रभाव और भारत-प्रसिद्ध कलाकार महारथीजी प्राचीन भारतीय-शैली के परम्परा-वाहक। फिर भी स्पष्टोक्ति यूँ है कि—"...*चित्रकला के टेकनीक में मेरा उनसे गहरा मतभेद था। हम दोनों का रुख दो तरफ था, फिर भी जब-जब मैं उनसे मिला, उनकी प्रतिभा और व्यक्तित्व से अभिभूत हुआ।*"]

☼ ☼ ☼

लहेरियासराय के पुस्तक-भंडार में भाई श्री शिवपूजन सहायजी के साथ मैं एक ही प्रकोष्ठ में बैठकर काम करता था। शिवपूजनजी अक्सर साहित्यिकों की जीवन-चर्या हमलोगों को सुनाया करते थे। वे महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा की कहानियाँ भी सुनाते थे। उनसे महामहोपाध्यायजी के अद्भुत शास्त्र-ज्ञान के संबंध की चर्चा सुनकर मैं उस परिवार के प्रति बहुत आकृष्ट हो गया था।

पुस्तक-भण्डार की एक शाखा उस समय पटना के गोविन्दमित्र रोड में थी। वही शाखा आज पुस्तक-भण्डार का मुख्य कार्यालय हो गई है। मैं कामों के सिलसिले में

अक्सर उक्त शाखा में पटना आया करता था। इस शाखा से मुझे कई बार महेन्द्रू ट्रेनिंग स्कूल के शिक्षकों के पास जाना पड़ता था। ट्रेनिंग स्कूल के शिक्षकों की पुस्तकें पुस्तक-भण्डार में छपती थीं और उनके चित्र मुझे बनाने पड़ते थे। चित्रों के बनाने के सम्बन्ध में उन शिक्षकों से राय लेने मैं वहाँ जाता था।

महेन्द्रू की ओर जानेवाली प्रधान सड़क से मैं जाया करता था, जिसकी बगल में पटना कॉलेज पड़ता है। इसी कॉलेज के सामने मैं एक विशाल शरीरवाले व्यक्ति को अपने साथियों के साथ देखा करता था। वैसा शरीर, जो हजारों में एक था किसी को भी आकृष्ट कर लेने के लिए अपने में पूर्ण था। मैं यह भी देखता कि वह व्यक्ति अपने मित्रों से साहित्यिक बातें करता था और ज्यादा साहित्यिकों की कृतियों के सम्बन्ध में मित्रों के विचार सुनता भी था और अपनी आलोचना भी सुनाता था। मैं उस व्यक्ति के प्रति उसकी प्रतिभा से उसी समय आकृष्ट हुआ। बाद में पता चला कि ये महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा के सुपुत्र हैं और इनका नाम पं० नलिन विलोचन शर्मा है। महा-महोपाध्यायजी के पुत्र की बात सुन लेने पर मेरा आकर्षण स्वभावतः नलिनजी के प्रति और भी बढ़ गया।

ठीक याद नहीं कि नलिनजी से मेरा परिचय किसने कब और कहाँ कराया, मगर इतना जरूर याद है कि पुस्तक-भण्डार में ही उनसे मेरा परिचय हुआ। बाद में श्री देवव्रत शास्त्री से मिलने के लिए नवशक्ति-कार्यालय में जाना पड़ा। नवशक्ति-कार्यालय उन दिनों एक्जीबीशन रोड में नलिनजी के ही मकान में स्थित था। उसी कार्यालय की बगल में नलिनजी का भी निवास था—ठीक एक्जीबीशन रोड के सटे पश्चिम भाग में। वहाँ नलिनजी से मेरा सम्बन्ध बढ़ा और उस दिन उनके घर में भी जाने का अवसर मिला। उन दिनों नलिनजी की विधवा बहन भी वहीं रहती थीं, जिनके पति पं० श्री राधेश्याम ओझा उड़ीसा में कहीं बन्दूक की गोली से घायल होकर मर गये थे। यदि मेरी स्मृति ठीक है तो नलिनजी की बहन का नाम कुमुद्वती शर्मा था। वे अपने बच्चों के साथ नलिनजी के यहाँ ही रह रही थीं। नलिनजी ने मेरा परिचय उनसे भी कराया था। बार-बार नवशक्ति-कार्यालय में जाने से मेरा परिचय नलिन जी से और भी गाढ़ा हो गया।

सन् १९४२ के अन्तिम भाग में मैं सरकारी नौकर होकर सरकार के उद्योग-विभाग में पटना आ गया। मेरी कार्य-व्यस्तता बढ़ गई और नलिनजी भी प्रोफेसर होकर आरा चले गये। इसीलिए मुलाकात कम होती थी। हाँ, साहित्य-सम्मेलनों या

साहित्य-गोष्ठियों में यदा-कदा उनके दर्शन हो जाते थे और उस समय साधारण शिष्टाचार की ही बातें हो पाती थीं।

इधर नलिनजी की कीर्त्ति अपने प्रतिभा-प्रकाश से दिन-दिन साहित्यिक जगत में बढ़ रही थी। वे साहित्यिक के साथ ही चित्रकला-मर्मज्ञ और उसके गहरे आलोचक भी थे। चित्रकला में उनकी कल्पना और शैली आधुनिक थी—वैसी आधुनिक, जिस पर पाश्चात्य चित्रकला की गहरी छाप थी। उन्होंने कुछ चित्र भी बनाये थे, जिन्हें देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। उन चित्रों में आधुनिक कल्पना की धारा प्रवाहित तो होती ही थी, उनमें वे अपना परिमार्जित रूप भी निखार देते थे। मैं ठीक इसके विपरीत पड़ता हूँ। मैं भारतीयता की शैली का पुजारी हूँ, इसलिए चित्रकला के टेकनीक में उनसे मेरा गहरा मतभेद था। हम दोनों का रुख दो तरफ था, फिर भी जब-जब मैं उनसे मिला, उनकी प्रतिभा और व्यक्तित्व से अभिभूत हुआ। वे जब चित्रकला की आलोचना करने लगते थे, उस समय उनकी भावना और शैली अपने विचार-व्यक्तित्व के अनुरूप ही रहती थी। चित्रकला सम्बन्धी उनका ज्ञान और उनकी आलोचना-पद्धति किसी को भी प्रभावित कर देती थी।

आज से दो साल पूर्व शिक्षा-विभाग की ओर से शिल्प-कला की एक गोष्ठी आयोजित हुई थी। उस गोष्ठी में नलिनजी से शिल्पकला सम्बन्धी विचार सुनने का पूरा अवसर मुझे मिला था। उस दिन नलिनजी के सुझाव और शिल्पकला सम्बन्धी ज्ञान से मैं और भी प्रभावित हुआ। वे शिल्प-कला में एक न्यारी कल्पना-शैली, रेखांकन और रंगों के विन्यास को महत्त्व देते थे और मुझसे भिन्न विचार रखते थे। उनके घर की सजावट में भी उनके विचारों के अनुरूप भिन्नता देखने को मिलती थी। यदि वे अधिक दिन जीवित रह पाते तो निश्चय ही कला और शैली के सम्बन्ध में अपने विचारानुसार उसके रूप का निखार भी करते।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित हुई उनकी पुस्तक 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' का आवरण-पृष्ठ बनाने के लिए परिषद् ने मुझे ही भार दिया था। नलिनजी ने उस आवरण-पृष्ठ का एक ढाँचा बनाकर मेरे पास भेजा था। वह ढाँचा अभी भी मेरे पास है, और उसमें नलिनजी की अपनी आधुनिकता स्पष्ट झलकती है। अपने अवकाश के अभाव के कारण मैंने उस आवरण-पृष्ठ के बनाने में महीनों लगा दिया और पुस्तक छपकर तैयार हो गई। इस बीच कई बार नलिनजी से मेरी भेंट हुई और हर बार मैं झेंपता

था कि नलिनजी अब आवरण-पृष्ठ के लिए उलाहना जरूर देंगे, पर वे मेरी कल्पना के ठीक विपरीत ही उतरे। उन्होंने एक बार भी तस्वीर के लिए नहीं टोका। उनके इस आचरण से मैं और भी लज्जित हुआ। फलतः शीघ्र ही मैंने आवरण-पृष्ठ बनाकर परिषद् को भेज दिया।

मुझे जहाँ तक याद है, उनसे मेरी आखिरी मुलाकात हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में होनेवाली एक गोष्ठी में हुई थी। वह गोष्ठी बिहार के शिक्षा-मंत्री माननीय श्री सत्येन्द्र-नारायण सिंह के शिक्षामंत्री होने के उपलक्ष्य में उनके स्वागतार्थ बुलाई गई थी। उस दिन उनका कृश शरीर देखकर मैंने पूछा था कि शरीर को इतना क्षीण क्यों कर रहे हैं? उन्होंने हँसते हुए कहा—"क्षीण नहीं कर रहा हूँ, हल्का कर रहा हूँ।" भगवान जाने उनके 'हल्का' का क्या मानी था ???

✠

"हिन्दी में संस्मरण-साहित्य का अभाव है। इस दिशा में जो थोड़ा-बहुत कार्य हो रहा है उसे प्रोत्साहन मिलना चाहिए। दूसरी ओर, कुछ ऐसे संस्मरण भी प्रकाशित हुए हैं जिनसे अच्छा तो यही था कि संस्मरण दिए ही नहीं जाते। हम सिद्धान्ततः ऐसे संस्मरणों को सुरुचिपूर्ण नहीं मान सकते। यदि वीर-पूजा की भावना अवांछनीय है तो जो उत्तर देने के लिए रह नहीं गए ऐसे लोगों की तथाकथित गोपनीय बातों का उद्घाटन गर्हित है।"

'साहित्य'—जनवरी १९५२ —न० वि० श०

✠

स्मृति-संचय

उमाकान्त वर्मा
हिन्दी-विभागाध्यक्ष
राजनारायन कॉलेज, हाजीपुर
बिहार

☀

[चार स्फुट स्मृतियों में आकलित नलिनजी के चतुर्मुखी चमत्कार की ये झाँकियाँ नई पीढ़ी के एक ऐसे साधक की कलम से हैं, जो उनके सान्निध्य में आने का सौभाग्य अक्सर प्राप्त किया करता था।]

☀ ☀ ☀

'कब आये ?'

'अभी……।'

'अच्छे हैं ? आजकल क्या लिख-पढ़ रहे हैं ?……वज्जिका भाषा पर जो शोध-कार्य चल रहा था, उसकी स्थिति क्या है ?……कहानी समाप्त हुई या नहीं ?……उपन्यास पढ़ गया। अच्छा होता, लघु कथा-साहित्य की ओर ध्यान देते !'

१—व्यक्तिगत

प्रायः यही कुछ पंक्तियाँ हैं, जिनसे नलिनजी (मुझे ही नहीं, मैंने अनेक से जानकारी हासिल की है) नई पीढ़ी के साधकों का स्वागत करते। उनके सहज साक्षात्कार का क्षण अपने को उस समय विभिन्न भागों में विभाजित कर देता। कभी आत्मीय के सदृश वे आर्थिक एवं पारिवारिक समस्याओं के समाधान में लीन हो जाते और कभी किसी साहित्यिक-चर्चा उत्पन्न होने पर प्राचीन भाष्यकार की तरह एक छोटी टिप्पणी देकर सहज मुस्कान से वातावरण के भारीपन को हल्का कर देते। यद्यपि वे स्वयं कम बोलते थे और दूसरे को पसरने का अवकाश अधिक देते थे।

२—अज्ञेयजी—

एक दिन मैं छपरा जा रहा था। प्रातः चार बजे जहाज पर चढ़ा। ऊपर पहुँचने पर

प्रथम वर्ग के कम्पार्टमेंट में एक कुर्सी पर, मैंने और एक गौर वर्ण सुगठित शरीरवाले, लहरों की ओर ध्यानमग्न एक परिचित व्यक्ति को देखा। चरण स्पर्श करते हुए मैंने पूछा—

"आप अज्ञेयजी हैं न ?"

उन्होंने सिर हिलाकर स्वीकृति दी।

बातें हुईं। परिचय का कार्य समाप्त हुआ। बातें बढ़ीं। जिज्ञासु के रूप में मैंने प्रश्न किया—" 'शेखर : एक जीवनी' का तीसरा खण्ड क्यों नहीं, 'नदी के दीप' क्यों ?"

उन्होंने कहा—"मैं एक ही उपन्यास कभी-कभी तीन बार लिखता हूँ। 'शेखरः एक जीवनी' का तीसरा खंड दो बार लिख चुका, तीसरी बार लिख रहा हूँ। अभी सन्तोष नहीं हुआ।" कुछ रुक कर बोले—" 'नदी के दीप' आसाम के एक डॉक बंगले की प्रेरणा है जहाँ वर्षा में भींगने के बाद मैं रुका था।"

पटना लौट कर नलिनजी को जब मैंने यह बात कही तो उन्होंने सुन कर कहा—"मैं समझता हूँ अब आपका भ्रम दूर हो गया होगा। 'शेखर : एक जीवनी' अज्ञेयजी की बुद्धि की नक्काशी है और 'नदी के द्वीप'—उनके हृदय का रस-स्खलन। नक्काशी में समय तो लगता ही है।"

३—जैनेन्द्रजी

कुछ वर्ष पूर्व की बात है। जैनेन्द्रजी नलिनजी के यहाँ ठहरे हुए थे। वहीं दर्शन हुआ। उस दिन शिवचन्द्र शर्माजी ने उनसे 'दृष्टिकोण' के लिए उनके एकांकीकार की अभिव्यक्ति लिपिबद्ध की। उनके जाने के बाद एक दिन मैंने नलिनजी से पूछा—

"जैनेन्द्रजी का महत्व हिन्दी के लिए क्या है ?"

वे हँस कर बोले—"कथा कहने की उनमें अद्‌भुत क्षमता है।"

मैंने डर कर कहा—"समझा नहीं।"

उन्होंने उसी तरह मुस्कराते हुए कहा—"वे 'गोदान' के पूर्व के प्रेमचन्द नहीं हैं। प्रेमचन्द कथा कहते थे, ये काढ़ते हैं।"

मैंने कहा—"और कथाकार भी काढ़ते हैं।"

उन्होंने कहा—"जैनेन्द्रजी के काढ़ने का उत्स अन्तः से है, बाह्य से नहीं।"

४—जिज्ञासा-तृप्ति

एक बार उनके कहने पर मैंने 'तार सप्तक' (द्वितीय) और 'सात-गीत-वर्ष' की कुछ कवितायें सुनायीं। एक बात कह दूँ कि वे यदाकदा मुझसे बच्चन, अज्ञेय और सुमन

के गीत सुना करते थे। कभी कहते इधर को कुछ, आप जिसे नई कविता कहते हैं, कविताएँ सुनाइये। कविता सुनाने के बाद मैंने कहा—

"कैसी लगीं ?"

संक्षिप्त हास्य के साथ वे बोले—

"अच्छी हैं।"

मैंने सदा की तरह जिज्ञासु भाव से उन्हें उभारा—"और कवि ?"

वे पूर्ववत् बोले—"वे भी अच्छे हैं।"

मैंने कहा—"उनमें से किसे आपने पसन्द किया ?"

उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। बन्द किए हुए कहा—"यह मेरी पसन्द है। मेरी पसन्द सर्वथा ठीक ही हो, यह नहीं कह सकता। पर मदन (तार सप्तक) और भारती (सात-गीत-वर्ष) की कुछ कविताएँ अच्छी लगीं।"

"अन्य क्यों नहीं ?"

उन्होंने कहा—"अन्य में स्वच्छन्द मुक्त-काव्य की स्थिति नहीं है। चाहे उनका काव्य मुक्त, है अथवा स्वच्छन्द। मदन और भारती इससे पूर्णतः मुक्त नहीं हैं पर जहाँ हैं वहीं वे तार सप्तक की कसौटी के घेरे से मुक्त हैं, और मेरे लिए आकर्षण के केन्द्र हैं।"

मैंने फिर पूछा—"कविता के प्रकाशन के पीछे आपका दृष्टिकोण है क्या ?"

वे बोले—"है तो यही। परन्तु अभी सचेष्ट प्रयोग जो प्रकाशित होते हैं, उनमें नहीं है। कुछ में तो बिल्कुल नहीं है, कुछ में है तो वे अपरिमार्जन में बन्द हैं।"

इस तरह के उनके साहित्यिक विचार, मुझे ही नहीं, उन सभी जिज्ञासुओं को प्राप्त होते थे, जो उनके निकट थे और जिन्हें वे जिज्ञासु के रूप में मानते थे।

❈

उमानाथ

निदेशक, पर्यटन विभाग, बिहार, पटना

स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम् !

[—"मैं यह नहीं बता सकता कि हृदयहीन काल ने सहसा उन्हें क्रूरतापूर्वक कवलित कर, किस अज्ञात उद्देश्य की पूर्ति की है।" नलिनजी के परम आत्मीय सखा उमानाथजी के इस उद्‌गार से स्पष्ट हो रहा है कि नलिनजी जैसे अमर व्यक्ति के आकस्मिक अवसान का अर्थ मानव-मानस की पकड़ में कभी भी नहीं आ पाएगा।]

☼ ☼ ☼

नलिनजी के साथ मेरा प्रथम साक्षात्कार, प्रायः २३ वर्ष पूर्व, उनके एक्जिबीशन रोड-स्थित निवास-स्थान पर हुआ था। किन्तु, उसके वर्षों पूर्व से ही, उनके प्रातः स्मरणीय स्वर्गीय पिता महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्माजी की विश्वव्यापी कीर्त्ति

एवं अद्भुत कृतियों से मैं परिचित हो चुका था। वस्तुतः, मैंने उनकी हिन्दी-रचनाओं के संग्रह तथा जीवनवृत्त सम्बन्धी सामग्रियों के संकलन का कार्य, १९३७ ई० में छपरा नगर में अध्यापन कार्य करते हुए, अपने भूतपूर्व गुरु श्रद्धेय पंडित कामता प्रसाद पाण्डेय (प्रधान संस्कृताध्यापक, छपरा जिला स्कूल) और अग्रजतुल्य प्रोफेसर भुवनेश्वर प्रसाद (अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा) की प्रेरणा के फलस्वरूप, यथेष्ट तत्परता के साथ आरम्भ कर दिया था। उसी प्रयास के परिणामस्वरूप, सत्रह वर्षों के बाद, आचार्य शिवपूजन सहायजी के कृपापूर्ण प्रोत्साहन तथा बन्धुवर नलिन विलोचन शर्मा के स्नेहपूर्ण सहयोग के बल से 'श्रीरामावतार शर्मा निबन्धावली' का प्रकाशन, १९५४ ई० में, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा हुआ। अपने पूर्वोक्त साहित्यिक कार्यक्रम के प्रसग में, मुझे नलिनजी की पूजनीया माता (दिवंगता श्रीमती रत्नावती देवी) की सेवा में, आदरणीय भुवनेश्वर बाबू के साथ, उपस्थित होने का सौभाग्य, १९३८ ई० के उत्तरार्द्ध में, प्राप्त हुआ। कुछ ही काल तक उनके साथ वार्त्तालाप करने के बाद, ऐसी आत्मीयता की भावना प्रस्फुटित हुई कि मुझे यह अनुभव होने लगा कि मैं स्वयं अपनी माताजी के साथ बातें कर रहा हूँ। जैसा स्वाभाविक स्नेह एवं उदारतापूर्ण व्यवहार उन्होंने सहज भाव से हमारे प्रति प्रदर्शित किया, वह आज के युग में विरल ही सुलभ होता है। उसी वार्त्तालाप के क्रम में, प्रसंगवश, नलिनजी की चर्चा हुई और मैंने स्वभावतः उनसे मिलने की अभिलाषा व्यक्त की। तत्काल, माताजी ने नलिनजी को ('बबुआ' कहकर सम्बोधित करते हुए) बुला कर, उनसे मेरा परिचय कराया। अब भी, मेरे मन में जब उक्त चिरस्मरणीय दृश्य की स्मृति सजग होती है, तो मुझे ऐसी अव्यक्त व्यथा एवं कातरता की अनुभूति होने लगती है, जो नितान्त अनिर्वचनीय है! उसी दिन, नलिनजी के साथ, माताजी के स्निग्ध स्नेह की सुखद छाया में, मेरा जो सौहार्दपूर्ण बन्धुत्व स्थापित हुआ, वह उनके जीवन-पर्यन्त, क्रमशः, उत्तरोत्तर वर्द्धमान ही होता रहा; उसमें लाघव अथवा ह्रास का लेशमात्र भी संस्पर्श मुझे कदापि दृष्टिगत नहीं हुआ।

विगत २३ वर्षों तक निरन्तर नलिनजी के साथ निकट-सम्पर्क का सुख पाकर, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मैंने अपने को जितना सम्पन्न, समृद्ध समझा, उससे सहस्रगुना अधिक अकिंचन मैंने अपने को उनके आकस्मिक एवं अत्यन्त अप्रत्याशित निधन के बाद तत्क्षण पाया। मैं यह नहीं बता सकता कि हृदयहीन काल ने, सहसा उन्हें क्रूरतापूर्वक कवलित कर, किस अज्ञात उद्देश्य की पूर्त्ति की है! किन्तु, यह तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि, इस प्रकार, उनके अचानक चले जाने से, इन पंक्तियों के लेखक के सदृश, असंख्य स्नेही

एवं श्रद्धालु व्यक्तियों के अन्तरतम की जो अमूल्य निधि सत्वर विलुप्त हो गई है, उसकी पूर्त्ति कदापि नहीं हो सकेगी।

नलिनजी का पार्थिव व्यक्तित्व अब हमारे बीच नहीं है। किन्तु, उनकी विलक्षण बौद्धिक विभूतियों के मूर्त्तिमन्त प्रतीक स्वरूप उनकी विविध प्रकार की साहित्यिक कृतियाँ और उनके अनुकरणीय मानवीय सद्गुणों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के रूप में, उनके सम्पर्क में आनेवाले सहस्रों व्यक्तियों के साथ किए गए उनके आभिजात्य सद्व्यवहार की उत्प्रेरक स्मृतियाँ, आज भी, हमारे लिए सहज सुलभ हैं। यह सत्य है कि नलिनजी की अनूठी साहित्यिक कृतियों के अवलोकन तथा उनके अनुकरणीय जीवन संबंधित मर्मस्पर्शी स्मृतियों की अनुभूति से आज हमारे कोमल कातर हृदय में करुणा की जो अविरल धारा प्रवाहित हो रही है, वह चिरस्थायी नहीं हो सकती। किन्तु, उनकी कृतियों एवं स्मृतियों में, अभिनव साहित्य-साधना के नयनोन्मेषक आदर्श तथा उदात्त मानवीय आचरण के अनुपम उत्कर्ष के जो भाव, मूलभूत होकर, सन्निविष्ट हैं, उन्हें भलीभाँति हृदयंगम कर, हम अपने वास्तविक जीवन को अनेक प्रकार से, निस्सन्देह, उन्नत एवं समृद्ध बनाने में सफल हो सकते हैं। मेरी विनम्र धारणा है कि नलिनजी के सदृश असाधारण प्रतिभाशाली एवं अमितगुणसम्पन्न आदर्श पुरुष के प्रति यही हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

"यदि लेखक विचारों की नवीनता को ही अपनी रचना में प्रधानता देता है तो वह इसी तरह दण्डित होता ही है। नवीन विचार स्वीकृत हो जाने पर ऊबानेवाले साधारण तथ्य हो जाते हैं, अस्वीकृत होने पर वे खीझ पैदा करनेवाले पुराने और संकीर्ण विरोधाभास बन जाते हैं।"

—न० वि० श०

'नई धारा'
बर्नार्ड शा अंक
सन् १९५१

✠

पीयूषवर्षी व्यक्तित्व

कन्हैया
अशोक नगर, छपरा (बिहार)

[नलिनजी स्वयं स्रष्टा होने के साथ-साथ दूसरों की सृष्टि में भी कम रुचि नहीं दिखाते थे। कवि कन्हैया कहते हैं कि—*"नलिनजी की गुण-ग्राहकता से हम बड़े प्रभावित हुए। सचमुच उनका पीयषवर्षी व्यक्तित्व उच्च सामाजिक बोध का परिचायक था।"*]

सन् १९४९ की एक घटना है।

सारन जिला हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के एकमा-अधिवेशन के अवसर पर आयोजित कवि-सम्मेलन का मैं सभापतित्व कर रहा था। मंच पर हिन्दी के अनेक गण्यमान्य कवि, लेखक, शिक्षक, राजनीतिक नेता आदि विराजमान थे। श्रोता कविता-पाठ का आनन्द ले रहे थे। दुर्योग की बात कि मंच पर एक राजनीतिक नेता की असावधानी से दरी जलने लगी। लोगों की सतर्कता से दरी अधिक जलने नहीं पायी। आग झटपट बुझा दी गयी। लेकिन इस अप्रिय घटना के कारण कवि-सम्मेलन का काम थोड़ी देर के लिये रुक गया और श्रोता क्षुब्ध हो उठे। मुझे भी बड़ा दुख हुआ कि हिन्दी के मंच को आखिर समझ क्या लिया गया है? कुछ क्रुद्ध होकर मैंने कहा कि कोई यह समझने की भूल

न करें कि यह मुगल-दरबार है। मेरे इस कथन पर कुछ लोग आवेश में आ गये। रंग में भंग हो जाने की पूरी संभावना थी, लेकिन स्थिति को किसी तरह सँभाला गया और कवि-सम्मेलन का काम फिर से चालू हो गया।

दूसरे दिन मेरी निन्दा करने के लिये एक बैठक बुलायी गयी। बैठक में श्री शिवपूजन सहाय और नलिनजी भी उपस्थित थे। जब मुझसे कवि-सम्मेलन के अभद्र व्यवहार के लिये उक्त प्रभावशाली राजनीतिक नेता से क्षमा-याचना करने को कहा गया, तब एक निष्पक्ष न्यायकर्त्ता की भाँति बड़े ही संयत और गम्भीर स्वर में नलिनजी ने कहा कि कवि-सम्मेलन में जो घटना हुई, वह सचमुच अत्यन्त ही अशोभन थी; लेकिन उसके लिये कवि-सम्मेलन के सभापति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। शील के आगार पण्डित नलिन विलोचन शर्मा के नपे-तुले शब्दों को सुनकर बैठक के आयोजकों के मुँह में दही जम गया। नलिनजी की इस स्पष्टवादिता और न्यायप्रियता की छाप मुझ पर ऐसी पड़ी कि मैं उनका परम भक्त और प्रशंसक बन गया।

नलिनजी से मेरी पहली मुलाकात मित्रवर शिवचन्द्र शर्मा की छोटी बहन आयुष्मती मनोरमा के विवाह के अवसर पर छपरे में हुई थी। वे वर-पक्ष के एक प्रमुख सदस्य के रूप में बारात में उपस्थित थे। पहली ही मुलाकात में उन्होंने मेरे मन को मोह लिया। उनके विशाल व्यक्तित्व में एक निश्छल और पवित्र आत्मा का निवास था। वे सचमुच सहृदयता और आत्मीयता की सजीव मूर्त्ति थे।

हिन्दी के लेखकों, कवियों और विद्वानों के लिये नलिनजी के हृदय में बड़ा ही ऊँचा स्थान था। यद्यपि वे एक निश्चित विचारधारा के पोषक थे, तथापि विरोधी चिन्तन-धारा के समर्थकों का स्वागत-सत्कार करने में कभी पीछे नहीं रहते थे। हिन्दी के सुप्रसिद्ध प्रगतिशील लेखक और आलोचक डा० रामविलास शर्मा सन् १९५० में खड्ग विलास प्रेस की पुरानी फाइलों से भारतेन्दु-सम्बन्धित कुछ सामग्री का संकलन करने के लिये पटना आये हुए थे। नलिनजी ने बड़ी सहृदयता के साथ रामविलासजी के सम्मान में अपने घर पर एक शानदार भोज का आयोजन किया तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रांगण में एक विचार-गोष्ठी भी बुलवायी। गोष्ठी में उन्होंने गद्गद् होकर डा० रामविलास शर्मा के शोध-सम्बन्धी कार्यों और उनकी अद्भुत कर्तृत्व-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की। नलिनजी की गुण-ग्राहकता से हम बड़े प्रभावित हुए। सचमुच उनका पीयूषवर्षी व्यक्तित्व उच्च सामाजिक तत्त्वबोध का परिचायक था।

✲

कपिल
प्राचार्य, आर० डी० ऐंड डी० जे०
कॉलेज
मुंगेर (बिहार)

बंधुवर नलिन जी

[प्राचार्य कपिलजी का बन्धुत्व नलिनजी के अभाव में अनाथ होकर अनुभव करता है कि—"........*अब तो पटने की हर यात्रा उनके अभाव का दर्द दिए बिना नहीं रहेगी !*"]

☀ ☀ ☀

आज जब नलिनजी हम सबों के बीच नहीं हैं तो उनकी सारी खूबियाँ, सारी विशिष्टतायें एक-एक कर आँखों के सामने आती हैं। नलिनजी क्षमाशील बन्धु, अनुरागी मित्र एवं प्रतिष्ठा देनेवाले सहृदय सखा थे। उन्हें साथ चलना पसन्द था—भाता था इसलिए उनके साथ बहुत लोग थे—वैसे लोग भी उन्हें अत्यन्त सन्निकट समझते थे जो पटने के नहीं, बाहर के रहनेवाले थे।

अपनी कृतियों में वे उतने बड़े नहीं दीखते थे, जितने बड़े वे थे। नलिनजी सर्वतो-भावेन अध्यापक थे और उन्हें बड़ी प्रतिष्ठा भी मिली थी। साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में उन्होंने अपना एक स्थान बना लिया था और वह स्थान उन्हें इसलिए ही मिल सका था कि वे एक सफल निर्देशक थे—स्वयं कुछ-न-कुछ सोचते-विचारते और करते तो रहते ही थे, अपने साथ के लोगों को भी सोचने-विचारने एवं करने के लिए विवश किया करते थे—यह उनकी खासियत थी। उनका अध्यापक लोगों को वस्तुओं के वैज्ञानिक अनुशीलन की ओर सदैव उन्मुख करता रहा। नलिनजी ने अध्यापक के रूप में वही इज्जत पाई, वही यश पाया जो किसी दिन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, हरिऔधजी, लाला भगवान दीनजी एवं केशवजी पा सके थे।

नलिनजी सजग साहित्य-चिन्तक थे और इसलिए साहित्य की प्रत्येक दिशा की, प्रत्येक गतिविधि की उन्हें पूरी पहचान थी। अपनी राय देने में वे कड़े जज थे। उनके जज-मेंट में कहीं कोई हिचक-झिझक नहीं होती थी। इसमें अपनी संस्कारगत सामंजस्य-शीलता का निर्वाह उनसे नहीं हो सकता था।

इतने सारे गुणोंवाला मित्र, बंधु, सखा यदि हठात् सदा के लिए साथ छोड़ दे तो वियुक्त व्यक्ति कितना अकेला अनुभव कर सकता है—यह तो सहज अनुमेय है। पटने जाने पर नलिनजी से भेंट भी अपने कामों में एक आवश्यक काम हुआ करता था। पर अब तो पटने की हर यात्रा उनके अभाव का दर्द दिये बिना नहीं रहेगी। पिछली बार जब राष्ट्रभाषा-परिषद् की बैठक में भेंट हुई तो वे कुछ थके-से लगे थे पर वह भेंट ही अन्तिम भेंट रह जायगी—ऐसा मैंने या उन्होंने या किसी ने भी नहीं सोचा होगा। वे थके तो थे पर चेहरे पर उदासी नहीं थी—अधरों पर वही हास था जिससे मेरा पुराना परिचय था। उनसे मिलते ही (चाहे जहाँ भी हमलोग मिलते थे) आदतन मैं हाथ फैला देता था और वह सिगरेट और सलाई का डिब्बा उसी भाव से दे दिया करते थे। मैंने इस अन्तिम भेंट के दिन भी वही किया पर उनके पास सिगरेट नहीं थी, उन्होंने कहा—'मैंने तो अब सिगरेट पीना छोड़ दिया है।' मैंने कहा कि सिगरेट या वैसी ही कोई चीज चाय वगैरह छोड़ने की राय-सलाह जब मिलने लगती है तो समझना चाहिए कि कहीं-न-कहीं शरीर में गड़बड़ी शुरू हो गई है। नलिनजी हँसे और बोले—'डाक्टर की राय के कारण ही मुझे सिगरेट छोड़ना पड़ा और शरीर को भी गलाना पड़ा है—स्वेच्छा से यह सब कुछ मुझसे संभव नहीं था।' बैठक के बाद परस्पर प्रणाम-

नमस्कार के बाद हमलोग अलग हुए और फिर भेंट करने की बात भी तय हुई। पर भेंट नहीं हो सकी और अब तो……!

उस दिन रेडियो से खबर मिली कि नलिनजी का स्वर्गवास हो गया—सच कहता हूँ, मैं तो सन्न रह गया और कम-से-कम आधे घंटे तक कोठरी में ही घूमता और चकराता रह गया। लगा कि यहीं धँस जाऊँगा। कॉलेज में शोक सभा हुई—हर सूरत पर उदासी थी। पता नहीं, मैं क्या कुछ बोल गया पर अभी भी मन को यही महसूस हो रहा है कि नलिनजी पटने में हैं ही—उन्हें अभी रहना था भी। 'पर मेरे मन कुछ और है, कर्त्ता के मन और'। उनके साथ और सामीप्य का, साहचर्य और सान्निध्य का सुख तो अब दुर्लभ ही है। अन्त में अकबर की एक पंक्ति लिखकर बंधुवर नलिनजी की दिवंगत आत्मा को प्रणाम करता हूँ—

"खुदा बख्शे, बहुत-सी खूबियाँ थीं मरनेवाले में।"

"हम मनुष्य और मनुष्यता में विश्वास रखते हैं। इसलिए कविता में भी हमारी आस्था बनी हुई है। हम मानते हैं कि मनुष्यता के दो-चार पर्यायों में एक कविता भी है।"

'कविता'—प्रथम अंक —न० वि० श०

सन १९५४

✣

कमल नारायण झा 'कमलेश'
बिरला मन्दिर, सब्जीबाग,
पटना

अद्भुत स्मरण-शक्ति

[*"मुझे आश्चर्य हुआ कि नलिनजी ने इतने युगों के बाद भी मुझे कैसे पहचान लिया !"* पहचानते कैसे नहीं ! भगवान ने उन्हें स्मरण-शक्ति के साथ-साथ सौजन्य का जो वरदान दे रखा था !]

❀ ❀ ❀

नलिनजी से मेरी अन्तिम भेंट गत अगस्त महीने में हुई। मैं उनके निवास-स्थान पर मिलने पहुँचा था। मेरे साथ मेरे एक प्रकाशक मित्र थे। सायंकाल था। नलिनजी घर के आगे उद्यान में बैठे थे। एक टेबुल बीच में रखी हुई थी और चारों ओर कुर्सियाँ। नलिनजी ने हमारा अभिवादन किया। मैंने अपने मित्र से उनका परिचय कराया। वे अपने साथ बहुत-सी पुस्तकें लेते गये थे। उन्होंने पुस्तकों का बंडल नलिनजी के आगे रख दिया। नलिनजी ने बगल में खड़े एक बालक को भीतर से चाय लाने का आदेश दिया और बंडल खोला। उनकी दृष्टि मेरी एक पुस्तक पर पड़ी। उन्होंने कहा—"मैं कई वर्ष पहले इसे पढ़ चुका हूँ। यह बालकों के काम की है। इसके दो संस्करण हो चुके हैं, पर आपने इसके आवरण को आकर्षक बनाने की चेष्टा नहीं की। दूसरे राज्यों के प्रकाशक महत्वहीन पुस्तकों की भी रूपरेखा ऐसी बनाते हैं कि उनका खास महत्त्व हो जाता है, पर बिहार के प्रकाशक अपनी पुरानी लीक से हटना नहीं चाहते।" प्रकाशक मित्र ने कहा—"तीसरा संस्करण प्रेस में है। मैं इसे काफी आकर्षक बनाकर एक महीने के बाद आपकी सेवा में उपस्थित करूँगा।" पुस्तक के आवरण को आकर्षक बनाने के सम्बन्ध में नलिनजी ने कुछ सुन्दर सुझाव दिये। इतने में चाय आई। चाय पीते हुए

मैंने नलिनजी का ध्यान उनके शरीर के दौर्बल्य की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने कहा—"वजन बहुत अधिक बढ़ गया था! अतः घटाने की चेष्टा कर रहा हूँ। भोजन की मात्रा कम कर दी है।" मैंने कहा—"भोजन की मात्रा में ह्रास कोई अच्छी बात नहीं है।" उन्होंने कहा—"डाक्टरों के परामर्श से ही ऐसा कर रहा हूँ।" 'डाक्टर' का नाम सुनते ही मैं चुप हो गया, पर इतना मैंने अवश्य कहा—"भाई, देखना, भोजन एकदम कम कभी नहीं करना।" इस पर वे हँसने लगे।

× × ×

गत ११ जुलाई को सायंकाल बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की सामान्य-समिति की बैठक हो रही थी। नलिनजी मेरी बगल में ही बैठे थे। परिषद्-नियमावली में संशोधन का प्रस्ताव उपस्थित हुआ। संचालक की ओर से सुझाव उपस्थित हुआ कि परिषद् के भूतपूर्व सभापति और भूतपूर्व संचालक पदेन परिषद् के सदस्य रहें। नलिनजी ने कहा—"हाँ, इनके सिवा पाँच और साहित्यकार परिषद् की सामान्य-समिति में सम्मिलित किये जायँ।" सदस्यों ने नलिनजी के इस प्रस्ताव का स्वागत किया और उस दिन के परिषद्-अध्यक्ष राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने इसे सर्वसम्मति से स्वीकृत घोषित किया। नलिनजी के सुझाव की स्वीकृति के उपरान्त समिति ने पाँच साहित्यकारों के नामों की सिफारिश की। बैठक लगभग ६ बजे समाप्त हुई। सदस्य डेरा लौटने को प्रस्तुत हुए। मोटरवाले सदस्य अपनी गाड़ियों में जा बैठे और जो दूर से आये थे वे परिषद् के कर्मचारियों के मुँह की ओर निहारने लगे। परिषद् के कर्मचारी रिक्शों की खोज में सड़क की ओर निकल पड़े। नलिनजी ने अपनी मोटर पर दूर से आये हुए सदस्यों को बैठने का आग्रह किया और उनके गन्तव्य स्थानों की सूचना ड्राइवर को देकर उसे साहित्य-सम्मेलन-भवन में गाड़ी लाने का आदेश देकर विदा किया।

पाँच मिनट के बाद दो रिक्शे परिषद् के प्रांगण में पहुँचे। एक पर नलिनजी और पंडित मथुरा प्रसाद दीक्षित सवार हुए और दूसरे पर मैं। दोनों रिक्शे सम्मेलन-भवन में पहुँचे। सम्मेलन-भवन में पश्चिम की ओर जो कोठरी है उसमें हम चारों जा बैठे। ब्रजशंकरजी वहाँ पहले से ही बैठे थे। उन्होंने कहा—"मेरी कलम खो गई।" नलिनजी ने कहा—"अतिथियों को छोड़कर आप आगे चले आये उसका फल तो कुछ मिलना ही चाहिए।" ब्रजशंकरजी मुस्कुरा पड़े।

× × ×

सन् १९२८ ई० की बात है। पुस्तक-भंडार की पटना शाखा की स्थापना गोविंदमित्र रोड में किराये के एक तीन मंजिले मकान में हुई थी। मैं वहीं टिका था। भाई साहब

आचार्य शिवपूजन सहाय काशी से आये और वहीं ठहरे। रविवार का दिन था। तीसरे पहर भाई साहब ने कहा—"चलिए, पंडित रामावतार शर्मा से मिल आएँ।" मैंने सहर्ष कहा—"चलिए।" हमलोग पटने के मेन रोड पर आये और टमटम पर चढ़कर एक्जिबीशन रोड पहुँचे। शर्माजी के भवन के द्वार पर खड़े होकर भृत्य द्वारा हमने आगमन की सूचना दी। शर्माजी निकले और अपने अध्ययन-कक्ष में हमें ले गये। कुछ देर तक वार्त्तालाप के उपरान्त जब उन्हें प्रणाम कर हम बाहर निकले तब द्वार पर एक बालक मिला। वह काफी मोटा-ताजा और हँसमुख था। उसने शिवजी का अभिवादन किया। शिवजी ने हाथ जोड़कर उसके अभिवादन का उत्तर दिया और कुशल पूछा। बालक ने मेरी ओर इशारा करके पूछा—"ये कौन हैं?" शिवजी ने मेरा परिचय दिया। बालक ने मुझे प्रणाम किया। मैंने आशीर्वाद दिया और शिवजी की ओर देखा। उन्होंने कहा—"आप शर्माजी के सुपुत्र हैं।" मैंने नाम पूछा। बालक ने उत्तर दिया—'नलिन'। नलिनजी की बहन कुमुद्वती 'बालक' के लिए लेख और कविताएँ लिखा करती थीं। 'नलिन' ने भी कहानियाँ और कविताएँ भेजना आरम्भ किया जो समय-समय पर 'बालक' में बराबर प्रकाशित होती रहीं।

× × ×

कई वर्षों के बाद मैं पटना हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध वकील पंडित लक्ष्मीकान्त झा (भू० पू० प्रधान न्यायाधीश) के घर से निकला। सड़क पर खड़े एक हृष्ट-पुष्ट नवयुवक की ओर मेरी दृष्टि गई। नवयुवक ने कहा—'प्रणाम'। मैं रुक गया। उसने कहा—'पहचाना मुझे?" मैंने कहा—'हाँ'। 'चलिए भीतर' उसने कहा और मैं उसके साथ घर के भीतर पहुँचा। घर आज तक उसी स्थिति में था जिसमें उसे शर्माजी छोड़कर गये थे। अध्ययन-कक्ष में पुस्तकों के ढेर के बीच हम दोनों कुर्सियों पर बैठे। वार्त्तालाप आरम्भ हुआ। मैंने पूछा—"नलिनजी, इन दिनों क्या करते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"पटना कालेज में प्राध्यापक नियुक्त हुआ हूँ।" सुनते ही मैंने प्रसन्न होकर कहा—"निश्चय ही आप शर्माजी के सुयोग्य पुत्र प्रमाणित हुए हैं।" विनीत युवक ने हाथ जोड़कर तुरन्त अभिवादन किया।

मुझे आश्चर्य हुआ कि नलिनजी ने इतने युगों के बाद भी मुझे कैसे पहचान लिया। उनकी अद्भुत स्मरण-शक्ति की मैं मन-ही-मन प्रशंसा करने लगा।

✠

ये
सवाक् रेखाएँ !

कुमार विमल

हिन्दी-विभाग, पटना कॉलेज, पटना

[—*"उनके भव्य भाल और उन्नत मस्तक से ही यह भासित हो जाता था कि यहाँ एक व्यक्ति है, जिसने विधाता की ओर से विशिष्टता पाई है और जिसके पास वाणी 'रसनाग्र नर्तकी' बनकर उपस्थित है।"* विमलजी ने यह विमल प्रतिबिम्ब, अपने हृदय के दर्पण पर डालकर अपने आचार्य के आकार को कितनी आस्था से आकलित किया है!]

सफेद धोती, बगुले के पंख-सा कुर्ता, अद्धी या मलमल का, चुन्ननदार बाहोंवाला। पाँवों में चप्पल, पम्प शू या फूल शू तो कभी नहीं। उनकी पोशाक पर ऋतुओं या मौसम का प्रभाव कम पड़ता था। बहुत जाड़ा पड़ने पर कभी-कभी लौंग कोट और मोजा। किन्तु, धोती-कुर्ते में ही एक नफासत थी, आभिजात्य था। एक दिन का पहना कपड़ा दूसरे दिन नहीं चलता था। और, धोती पहनने की कला तो अद्भुत थी। बीते जमाने की तरह यदि कला-विभाजन की अवतरणिका इन दिनों भी विशद रहती, तो भारत और फ्रांस के कई कलाविद् धोती पहनने की इस फनकारी को कला-सूची में

जरूर दाखिल कर लेते। सच पूछिये, तो उस विशाल शरीर के लिए कोई दूसरी पोशाक उपयुक्त भी नहीं थी। विशुद्ध आर्यों जैसी प्रशस्त, लम्बी और नुकीली नाक पर चश्मा रहता था, जिसके अन्दर बड़ी-बड़ी अतंद्र मेदुर आँखें नाम (नलिन विलोचन) की अन्वर्थता को सिद्ध किये बराबर दिखाई पड़ती थीं। उनकी ये पद्मल आँखें और मधुस्यंदिनी मुस्कान उनकी भाषा की पूरक थी तथा उनकी रूप-निकाई का विशिष्ट आकर्षण। अपनी अल्पभाषिता के शेष काम को वे इन्हीं आँखों और मुकुलित मुस्कान से पूरा कर लेते थे। उनके भव्य भाल और उन्नत मस्तक से ही यह भासित हो जाता था कि यहाँ एक व्यक्ति है, जिसने विधाता की ओर से विशिष्टता पायी है और जिसके पास वाणी 'रसनाग्र नर्त्तकी' बनकर उपस्थित है।

कई वर्ष पूर्व उन्होंने 'प्रतीक' में जैनेन्द्रजी पर एक संस्मरण लिखा था। इसमें एक प्रसंग आया है कि जब नलिनजी पटने से दिल्ली पहुँचते, तो दिल्ली प्लैटफार्म पर जैनेन्द्रजी की ओर से स्वागतार्थ आया हुआ आदमी उस रेल-पेल में नलिनजी को कैसे पहचानता और बिना पहचाने उन्हें जैनेन्द्रजी के निवास पर कैसे ले जाता! यह प्रश्न जैनेन्द्रजी के पक्ष अर्थात् आतिथेय के लिये भारी था। किन्तु, नलिनजी ने उसका सरल-तम समाधान जैनेन्द्रजी को यह बतला दिया कि उनका आदमी जब दिल्ली प्लैटफार्म पर आए, तब निर्धारित ट्रेन से जो सबसे लम्बा-तगड़ा यात्री उतरे, उसी के पास वह पहुँच जाय। इतने अप्रकट संकेत पर भी स्वागतकर्त्ता बहुत उधेड़बुन में था, किन्तु जब समय आया और दिल्ली प्लैटफार्म वह निर्देश का अक्षरशः पालन कर सबसे लम्बे-तगड़े यात्री का सशंक भाव से स्वागत करने लगा, तो वह नलिनजी ही थे; अन्य कोई नहीं!

इधर दो-तीन वर्षों से यह विशाल शरीर निर्बल हो गया था, दुबला तो बहुत हो। भोजन-नियंत्रण में उन्होंने 'अति' कर दी थी। मोटापा तो घट रहा था मगर चमड़ी पर सिकुड़नें पड़ रही थीं। लगता था, जैसे कोई गजराज 'झूस' हो रहा हो। लेकिन उनके निकट जनों को इसका संतोष था कि वे स्वास्थ्य के लिए दुबले हो रहे हैं। और, सचमुच वे जिजीविषा के कारण ही दुबले हो रहे थे। यद्यपि 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' वाली भावना भी तीव्रतर हो रही थी। परन्तु कौन जानता था कि वे दुबला होते-होते, सूक्ष्म होते-होते सूक्ष्मतम में मिल जायेंगे और अन्तिम समय तक कर्त्तव्यरत रहकर अकुंठ जिजीविषा को साथ लिये चल देंगे। महाप्रयाण से एकाध सप्ताह पहले वे हमलोगों से पटने के एक वरिष्ठ अफसर (इनका नाम भूल रहा हूँ) की तत्काल मृत्यु के विषय में बहुत

जिज्ञासु होकर पूछ रहे थे और वे इस पर बहुत आश्चर्य-चकित थे कि अच्छे-अच्छे डाक्टरों के रहते यहाँ मृत्यु इतनी अचानक कैसे हो जाती है। पर सप्ताह भी नहीं बीता कि यह आश्चर्य दूसरों को सुपुर्द कर वह अपने प्रश्न का स्वयं उत्तर बन गये।

नलिनजी विद्वान के साथ ही कुछ अंशों में एक सांस्कृतिक नेता (साहित्य, संस्कृति और कला के नेता) थे, यह उनके देहावसान के बाद अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है। सिनेट हॉल की वह विशाल शोक-सभा, बिहार में और बिहार से बाहर शहर-बाजार से दूर ग्रामीण स्कूलों में आयोजित शोकातुर गोष्ठियाँ, उनकी अर्थी के साथ चलनेवाला वह अश्रु-समाकुल जन-समुदाय, देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों और सांस्कृतिक संस्थाओं के शोकोद्गार, अनेक पत्रिकाओं के शोक-संतप्त अंक—ये सभी मिलकर यह सिद्ध करते हैं कि नलिनजी में एक सांस्कृतिक नेता के गुण थे और अपने आप मनोनीत नहीं बल्कि समाज-स्वीकृत सांस्कृतिक नेता थे। अतः नलिनजी के श्री-सौरभ को जो लोग केवल विरासत रूप में प्राप्त मानते हैं, वे भ्रान्ति में हैं। यदि उनकी विद्वत्ता विरासत का एक अंश थी, तो उनका नेता-रूप, जो उनके व्यक्तित्व को समग्रता प्रदान करता है, उनकी स्वकीय उपलब्धि थी। बिना कूटमंत्र या सहस्रजाप किये, और बिना किसी राजनीतिक पार्टी का सहारा लिये वे सांस्कृतिक नेता कैसे बन गये? इसके एक से अधिक कारण हैं। एक यह कि नलिनजी की शिष्य-मंडली बहुत बड़ी थी। वे 'पहचानने' की कला में दक्ष थे। जहाँ कोई उर्वरबुद्धि या सृजनशील छात्र मिला, उसे वे चट चुन लेते थे और उसके अस्फुट अंकुर को अपने स्नेहिल निर्देश से छूकर लहका देते थे। सचमुच, नलिनजी अप्रतिम गुरु थे और शिष्य से 'पराजय' पाने में वे अपनी विजय मानते थे। वे तो उपेक्षणीय प्रतिभा के छात्रों को भी मौलिक चिन्तन के लिये प्रोत्साहित करते थे; वहाँ भी, जहाँ वह अल्पबुद्धि छात्र उनसे सैद्धांतिक मतभेद रखने का स्वांग भरता था या वस्तुतः मतभेद रखता था। तुर्रा यह कि मतभेद का प्रतिपादन करके भी वह छात्र उनके सतत वर्द्धमान स्नेह से वंचित नहीं होता था। उल्टे नलिनजी गुणग्राहक बन जाते थे और छात्र के इस गुण को उचित दिशा में बढ़ने की प्रेरणा देते थे। अपनी ही बात कहूँ। उनके पास मुझ-जैसे दुग्गी-तिग्गी छात्रों की कमी नहीं थी। उस समय मैं एम० ए० का छात्र था। मैंने पटना कॉलेज साहित्य-परिषद् में पढ़ने के लिये 'हिन्दी कविता का भविष्य' शीर्षक एक निबन्ध लिखा था। उस निबन्ध में मैंने आचार्यजी की कविता सम्बन्धी एक स्थापना का पुरजोर खण्डन किया था। घूमते-घामते यह निबन्ध जब उनके पास संशोधन के लिए पहुँचा, तो उन्होंने खण्डनवाले अंश को चिह्नित कर

बगल में लिख दिया—'विचारणीय तर्क, किंचित् विस्तार अपेक्षित।' गुरु की इस टिप्पणी पर मेरे हृदय में एक मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। कभी मैं सोचता कि अल्पबुद्धि होकर मैंने उनकी स्थापना को खण्डित करने का दुस्साहस क्यों किया। फिर सोचता, उनकी टिप्पणी से कोई आक्रोश नहीं झलकता है। अतः पछताने की कोई बात नहीं। आगे ऐसी भूल नहीं करूँगा। किन्तु काल बली होता है। वह मनुष्य की मति को चोर-पैर से आकर बदल देता है। अपना छात्र-जीवन समाप्त कर मैं जिनके आदर्श और जिनकी प्रेरणा को ग्रहण कर आलोचना के क्षेत्र में आया, एक बार उनसे सैद्धांतिक मतभेद प्रकट करने का मौका आ गया। कुछ वर्ष पहले मैंने 'नई आलोचना' पर एक निबन्ध लिखा था, जिसमें मैंने जैनेन्द्रजी इत्यादि के साथ आचार्य श्री शर्माजी पर भी यह आरोप लगाया था कि ये लोग निर्णयात्मक बातें कहने या लिखने के स्थान में भी अनिश्चयात्मक अभिव्यक्ति से काम लेते हैं और इस तरह साहित्यालोचन के क्षेत्र में 'फैलेसी आफ एम्फिबॉलॉजी' को अनुचित प्रश्रय देते हैं। गुरुदेव ने इस बात को भी मन में गुन लिया और निरन्तर प्रोत्साहन देते रहे। मैंने मतभेद-प्रतिपादन का साहस कर उनके हृदय को जीत लिया। यह बात तब खुली, जब कि तीन अवसरों पर लगातार उन्होंने मेरे प्रसंग में इस बात का उल्लेख किया। जैन सिद्धांत भवन, आरा में सौंदर्य-तत्त्व पर आयोजित एक गोष्ठी थी, जिसका सभापतित्व उन्हें करना था और विषय की स्थापना मुझे। दूसरी बार बचनदेवी गोष्ठी की एक बैठक में मुझे 'क्रोचे का अभिव्यंजनवाद और आचार्य शुक्ल' पर भाषण देना था और वे उस गोष्ठी के संयोजक थे। तीसरी बार उन्हें मेरी निबन्ध-पुस्तक 'मूल्य और मीमांसा' की भूमिका लिखनी थी। तीनों बार परिचय देने के क्रम में उन्होंने मुझे अपना अन्तेवासी शिष्य स्वीकार करते हुए यह कहा—"विमलजी ने दृढ़तापूर्वक ऐसी मान्यतायें प्रस्तुत की हैं, जिनसे उनके अध्यापकों का मतभेद हो सकता है।" हरबार इस आशय की टिप्पणी को सुनकर मैं संकोच से सिकुड़ गया। किन्तु, इस टिप्पणी के पीछे उनकी कितनी महान उदारता थी!

उनके गुणों पर कितना लिखा जाय! बरबस उस क्षण की याद आ जाती है, जब उनकी हठात् मृत्यु का अचानक संवाद मिला था और जीवन की क्षणभंगुरता तथा जन्म-मरण से सम्बन्धित अनेक अव्याकृत प्रश्न मेरे मन में उठने लगे थे। विधाता भी कितना निष्ठुर है कि सांस्कृतिक दृष्टि से जो सृजनक्षम पुरुष हैं, उन्हें वह असमय ही लूट लेता है!

✠

एक अनामा स्मृति

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

३, हार्डिंज रोड, पटना

[महाकवि प्रभात की जोरदार जिज्ञासा प्रश्न बनकर आती तो है मगर नलिनजी के व्यक्तित्व से अपना उत्तर पाकर आत्मलीन हो जाती है। —*"व्यक्तित्व-विवेचन में वैलक्षण्य प्रायः उद्धृत किया जाता है। किन्तु, प्रश्न है, प्रतिभाशाली व्यक्तित्व में इसका होना आवश्यक है क्या ? नलिनजी निस्सन्देह प्रतिभा-सम्पन्न थे, किन्तु यह वैलक्षण्य कहाँ था उनके व्यवहार में ?"*]

सन् १९४१ का एक शीकरीय प्रातःकाल। सहगल का तार मिला—'संध्या समय नलिनजी के घर पर मिलो।'

सहगल, रामरख सिंह, इलाहाबाद से प्रकाशित होनेवाले 'कर्मयोगी' और 'गुलदस्ता' के यशस्वी व्यवस्थापक-संपादक।

उन दिनों इन दोनों मासिक पत्रों की बड़ी चर्चा थी; दोनों बड़ी धूमधाम से, पर्याप्त प्रसाधनके साथ, परिष्कृत रूप में प्रकाशित होते। सहगलजी की कीर्त्ति के अनुरूप। इन्हीं पत्रिकाओं की प्रचार-योजना पर विचार-विमर्श करने के लिए सहगलजी पटना आनेवाले थे और उन्हें मेरे परामर्श की भी आवश्यकता थी।

तार पाकर जो प्रसन्नता होनी चाहिए थी, नहीं हुई। पत्रों के माध्यम से सहगलजी की आत्मीयता मुझे मिल चुकी थी। उनके विषय में बहुत कुछ सुन भी चुका था। इसलिए उनसे मिलने की उत्कंठा मेरे मन में पहले से ही थी। उनके पटना पधारने का संवाद पाकर यह उत्कंठा बढ़ जाती तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं होती, किंतु उत्कंठा के बदले मेरे सामने एक समस्या खड़ी हो गई। सहगलजी से मिलने मैं नलिनजी के घर क्यों जाऊँ? क्या नलिनजी अवर वयस्क और अनागतपक्ष नहीं हैं? सहगलजी ने मेरे प्रति अन्याय किया है, मेरे अग्रजातत्व का अनादर किया है।

और फिर नलिनजी से मेरा व्यक्तिगत परिचय भी नहीं; पत्र-व्यवहार भी नहीं। अपरिचित के घर अनिमंत्रित पहुँच जाना अनुचित तो है ही, अशोभन भी कम नहीं। इस तरह के अनेक विचार मेरे मस्तिष्क में उठने लगे।

तबतक मुझे युवा नलिनजी को समीप से देखने का सुअवसर नहीं प्राप्त हो सका था। मैं १६३० से १६३६ तक पटना से बाहर रहा। फलतः साहित्य से जो मेरा सुदृढ़ संबंध आरम्भ से ही था उसमें किंचित् शैथिल्य आ गया था। जहाँ तक साहित्यिकों से व्यक्तिगत परिचय का प्रश्न है, वह सौभाग्य मुझे मिलकर भी नहीं मिला और मेरे परिचितों की सूची अत्यन्त सीमित रही। प्रवास की अवधि में यह सूची और भी संकुचित हो गई थी। अतः कोई नया नाम जोड़ने की संभावना नहीं थी।

फिर भी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से एक नया नाम, एक नया व्यक्तित्व बार-बार मेरे सामने आने लगा था। मैं जितना अधिक सोचता कि इस नये नाम, नये व्यक्तित्व में कोई अव्यापकत्व, असाधारण्य अथवा वैशेष्य है या नहीं, उतना ही अधिक इस दिशा में सोचने की इच्छा होती। व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण का जन्म इसी पृष्ठभूमि में होता है क्योंकि जो जानने योग्य बन जाता है वह अच्छी तरह जानने योग्य होता भी है।

यह नया नाम, नया व्यक्तित्व नलिनजी का था। समय-समय पर 'कर्मयोगी' में उनकी कहानियाँ पढ़ने को मिल जातीं। उनका फोटो-चित्र भी कहानियों के साथ छपता। बस्ट! सुफ़ेद कुरता, ऊँची दीवार की रेखांकित नौकाकार टोपी। भरा-पूरा चेहरा। कुल मिलाकर अत्यन्त आकर्षक व्यक्तित्व। उनके कथा-शिल्प, वाग्रीति एवं भाषा के सांकेतिकत्व से ऐसा आभासित होता कि कहानी के क्षेत्र में जिन विशृंखलताओं को लेकर प्रेमचन्दद्रोत्तर युग खड़ा होना चाहता है, उनके भीतर अन्तरात्मा की आवाज को ढूँढ़ निकालने का गुरुतर भार बुद्धि के अनन्य सहकारी तर्क को सम्हालना पड़ेगा।

तात्पर्य यह है कि नलिनजी मेरे लिये नितान्त अपरिचित नहीं थे; उनके प्रति मेरे भाव उत्सुक हो चुके थे। सहगलजी के दर्शनार्थ मैं नलिनजी के घर जाना चाहता था। किन्तु जैसा कह चुका हूँ, एक रागान्वित अन्तःक्षोभ साभिमान सामने खड़ा था। मैंने सोचा, बार-बार सोचा। जिनलोगों ने दुनिया को अच्छी तरह देखा-सुना है, लोगों की प्रकृति का अनुभव जिन्हें प्रचुर परिमाण में प्राप्त है, उनका आशीर्वाद पाकर मनुष्य लाभान्वित हो सकता है। इसी प्रकार नवयुवकों के संपर्क से वासन्तिक सौरभ के अभिनवत्व, माधुर्य एवं मार्दव, प्रत्यग्रता तथा द्युतिमत्त्व का वरदान पाकर मनुष्य अपने में नई प्रेरणाओं को अंकुरित होते हुए देखता है। सहगलजी मेरे वरिष्ठ, नलिनजी यविष्ठ। मैं प्रत्येक दृष्टि से सुखभागी था। समस्या सुलझ गई।

ज्योंही मैं नलिनजी के बरामदे में पहुँचा सहगलजी किवाड़ खोलकर सामने आये और बड़े प्रेम से मिले। बिना किसी औपचारिकता के कहने लगे—"देखो भई, नलिनजी मुझसे बहुत नाराज हैं कि मैंने तुम्हें यहाँ आने का कष्ट दिया और तुम्हारे स्वागत के लिए उन्हें दरवाजे पर भी नहीं आने दिया। वे बार-बार यही कहते हैं कि प्रभातजी से कैसे मिलूँगा।"

इतने में हमलोग बैठक में पहुँच गये। सामने ही नलिनजी खड़े थे। हाथ जोड़कर बोल उठे—"मेरा प्रणाम स्वीकार करें और मुझे क्षमा कर दें। मैं सिर कैसे उठाऊँ? उचित तो यह था कि·· ······"

मैंने अनुभव किया कि नलिनजी के प्रत्येक शब्द में उनका हृदय बोल रहा है और वे सचमुच बहुत दुखी हैं। मैंने बार-बार उन्हें गुदगुदाना चाहा किंतु उनकी गंभीरता ज्यों-की-त्यों बनी रही। सहगलजी भी कुछ गंभीर हो गये। चाय आई तो बातों का सिलसिला मैंने चलाया। धीरे-धीरे वातावरण सजीव होने लगा।

मैं सोचता हूँ, सज्जनता-शालीनता का सम्बन्ध स्थितियों से है क्या? बहुधा लोग कह देते हैं कि संभ्रान्त परिवार, मान-मर्यादा, सुख-सुविधा आदि-आदि की छाया में ही सज्जनता जनमती और पनपती है। लेकिन उस दिन मैंने यही अनुभव किया और आज भी मेरा वही विचार है कि नलिनजी को मात्र इसलिये सज्जन नहीं कहा जा सकता कि सज्जनता के अलंकरण उनको स्वतः प्राप्त थे। सच्ची बात यह है कि सज्जनता मस्तिष्क से प्रेरित होती और हृदय से उपजती है। नलिनजी का प्रत्येक शब्द प्रमाण में रखा

जा सकता है। मेरे लिये आज यह कहना कठिन है कि उनका आचार्यत्व श्रेष्ठ था कि उनकी शालीनता।

मैं जितनी देर नलिनजी के पास बैठा रहा उनकी हर बात से मुझे स्नेह और आदर मिला। उस समय की सारी बातें तो याद नहीं, किंतु निःसंशय यह निष्कर्ष निकाल सकता हूँ कि ऐसी ही विस्मृत और अनामा बातें मनुष्य को सर्वप्रियता सुलभ कराती हैं।

असंगतत्व और असमभाव अनेक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों के व्यवहार में पाये गये हैं। यह प्रकृति की विचित्रता ही मानी जायगी। व्यक्तित्व-विवेचन में वैलक्षण्य प्राय: उद्धृत किया जाता है। किंतु, प्रश्न है, प्रतिभाशाली व्यक्तित्व में इसका होना आवश्यक है क्या? नलिनजी निस्सन्देह प्रतिभासम्पन्न थे, किंतु यह वैलक्षण्य कहाँ था उनके व्यवहार में? उनकी लेखन-शैली तो आकर्षक थी ही; उठने-बैठने-मिलने-जुलने का ढंग भी उतना ही मनोहर था। वे जानते थे कि कहाँ किस प्रकार बैठना चाहिये। जिस आसन पर वे बैठ गये वह चमक उठा। उनकी सज्जनता-शालीनता भी उनकी लेखन-शैली की भाँति ही मौलिक थी।

"हमारी दृढ़ धारणा है कि यदि प्राचीन काल के आँकड़े सुलभ होते और आज के लिए जाते तो यह सहज ही प्रमाणित किया जा सकता कि कालिदास और श्रीहर्ष के पाठकों और अनुरागियों की संख्या निराला और पन्त के प्रेमियों से अधिक नहीं रही होगी।"

'कविता'—प्रथम अंक, १९५४ — न० वि० श०

✣

केदारनाथ लाभ

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

राजेन्द्र कॉलेज, छपरा (बिहार)

हर राही रुक, झुक जाता है !

[नलिनजी के साहित्यिक व्यक्तित्व का यह विवेचन कितना विवेकपूर्ण है—
"उनका व्यक्तित्व उनके परिवेश में परम्परा का निर्वाह और अपरम्परा का सृजन करता था; पुरातनता के प्रति श्रद्धा और नूतनता के प्रति उत्साह उत्पन्न करता था। इसी से वे प्राचीन का शोध करते थे एवं अर्वाचीन का निर्माण करते थे।"]

पटने की जगमगाती संध्या। पूरे रिक्शे पर बैठा हुआ ग्रीक प्रतिमा-सा एक भव्य विराट् व्यक्तित्व चला जा रहा है। दिव्य और ऊर्ज्वसित ललाट। विशाल मस्तक पर आलुलायित कुछ श्वेत-श्याम बाल। भरा-पूरा मांसल शरीर। सुदीर्घ काय। प्रसाद के मनु-सा 'स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।' तुषार-हार नवल-धवल क्षीरोज्वल वसन में आवेष्टित शरीर। साहित्य-सम्मेलन-भवन के मार्ग पर जाते

हुए उस व्यक्तित्व को जो भी देखता था, जहाँ भी देखता था, क्षण भर के लिए हर राही वहीं रुक जाता था; श्रद्धावनत होकर, भावमग्न होकर। अयसकान्त-सा कितना आकर्षण था इस गुरु-गंभीर व्यक्तित्व में !

पहलेपहल मैंने भी इसी रूप में, उसी मार्ग पर उन्हें देखा था और झुक कर रह गया था। मेरे एक मित्र ने मुझे टोकते हुए कहा—"रुक क्यों गये ! नलिनजी को क्या कभी देखा नहीं तुमने !" उन्हें नहीं पहचानना किसी भी साहित्य-प्रेमी के लिए लज्जा की बात होती। सो मैंने बहाना करते हुए कहा था—"हाँ भाई ! पहचानता क्यों नहीं ! इसी से तो रुक कर झुक गया हूँ !"

निरुद्देश्य किसी को भी अपना परिचय देने और दूसरे का परिचय लेने की, संकोची स्वभाव के कारण, मेरी आदत नहीं। सो कई बार सम्मेलन-भवन में साथ-साथ बैठे रहने पर भी बहुत दिनों तक मैं नलिनजी के सम्पर्क में नहीं आ सका। किंतु, जहाँ आकर्षण होता है वहाँ अपनत्व होते देर नहीं लगती। और एक दिन अनुसंधान की जिज्ञासा से मैं उनके निकट गया। और नलिनजी की खूबी यह कि जो एक बार उनके निकट गया वह सदा के लिए उनके निकट का हो गया। उनकी सदाशयता, मृदु-भाषिता तथा स्नेह-सहयोग का अक्षय अशेष भाव किसे नहीं उनका अपना बना देता !

हर व्यक्तित्व अपने आप में एक वातावरण होता है जो अपने आवेष्टन को प्रभावित करता है तथा अपने परिवेश में आये हुए हर व्यक्ति और स्थिति पर अपने विशेष प्रभाव का हस्ताक्षर करता है। नलिनजी को अपने ऊर्जस्वी आचार्य पिता के पांडित्य की पृष्ठभूमि प्राप्त हुई थी। और पाश्चात्य जगत के अद्यतन साहित्य एवं साहित्य-शास्त्र के अध्ययन-अनुशीलन ने उनके व्यक्तित्व में पौर्वात्य और पाश्चात्य साहित्य का संगम स्थापित कर दिया था। फलतः उनका व्यक्तित्व उनके परिवेश में परम्परा का निर्वाह और अपरम्परा का सृजन करता था; पुरातनता के प्रति श्रद्धा और नूतनता के प्रति उत्साह उत्पन्न करता था। इसीसे वे प्राचीन का शोध करते थे एवं अर्वाचीन का निर्माण करते थे।

नलिनजी गंभीर अध्येता थे किन्तु वाचाल नहीं। लगता था गाम्भीर्य ने उनकी मुखरता छीन ली थी। वे सुनते अधिक थे, सुनाते कम थे। पिछले वर्ष की बात है। सम्मेलन-भवन में वे बैठे थे। संयोगवश मैं भी वहाँ आ पहुँचा था। कुछ देर तक कुशल-क्षेम की बातें हुईं। फिर वातावरण में मौन छा गया। मैं चलने लगा तो नलिनजी ने कहा—"बैठिये। अभी श्री…जी आनेवाले हैं। वे साहित्य की नई समस्याओं पर अपने

कुछ विचार रखेंगे। आप भी हिस्सा लीजिये।" उनका आदेश टालना मुश्किल था। ......जी आये तो 'नई कविता' की सारी समस्यायें लेते आये। छन्दहीनता, गति-मति-हीनता, प्रतीक और बिम्ब विधान, शब्द-योजना, अन्तश्चेतना के गुह्य भाव का संश्लेषणात्मक चित्रण, आदि न जाने कितने प्रश्न थे। मेरे साथ ही अन्य उपस्थित साहित्यकार भी विचार रख रहे थे। मतान्तर होने के कारण हम सब कभी भावावेश में आ जाते, कभी अपनी तर्क-सबलता पर स्वतः उत्फुल्ल हो जाते! ......जी ने नलिनजी से भी अपने विचार रखने को कहा। पर नलिनजी ने कहा—"सभी बोलेंगे ही तो श्रोता कौन रह जायगा! मुझे सुनने में ही आनन्द आ रहा है। आप सब बढ़े चलिए।" वे शान्त भाव से सुनते रहे। अन्त में सबको धन्यवाद दिया, सबकी प्रशंसा की और सबको प्रोत्साहन दिया। मेरा अनुमान है कि उस गोष्ठी में मात्र नलिनजी की उपस्थिति से ही जो गुरुता आ गई थी वह हमलोगों के विवाद से नहीं। उनका अस्तित्व हमें चेतना और प्रेरणा दे रहा था।

एक बार बच्चन देवी गोष्ठी में श्री जैनेन्द्र कुमार का भाषण होनेवाला था। नलिनजी ने स्वभावानुसार संयत और स्वल्प रूप में उनका परिचय देते हुए उनसे अपने नये उपन्यास के सम्बन्ध में प्रकाश डालने का आग्रह किया। जैनेन्द्रजी ने करीब घंटे भर अपना भाषण किया। फिर कथा-साहित्य पर लोगों से प्रश्न माँगे। गोष्ठी में कुछ देर तक सन्नाटा रहा। तत्पश्चात् कुछ लोगों ने प्रश्न भी किये। नलिनजी ने आँखों से मुझे भी संकेत किया। मैंने नई कहानियों में प्रतीक-विधान सम्बन्धी अपनी जिज्ञासा व्यक्त की और फिर दूसरा प्रश्न ज्यों ही करना चाहा कि नलिनजी ने कहा—"अब नहीं! जैनेन्द्रजी को विश्राम का भी अवसर दीजिए।" मुझे जैनेन्द्रजी के उत्तर से सन्तोष नहीं हो रहा था। फिर भी चुप हो गया। बाद में नलिनजी ने बड़े स्नेह से कहा—"गोष्ठियों में अधिक प्रश्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि हर उत्तर स्वयं एक प्रश्न करता है और तब फिर प्रश्नों की कड़ी तैयार हो जाती है।" इस प्रकार मैंने बराबर देखा कि नलिनजी संजीदगी और संयम-संतुलन को सदैव अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते थे।

✠

ये कुछ झाँकियाँ

केसरी

प्राचार्य, समस्तीपुर कॉलेज, समस्तीपुर (बिहार)

[—*"अपने साहित्यिक गौरव के अनुरूप इतिहास के पन्नों में वे रहेंगे किन्तु हमारी आँखों के अश्रु-दीप में सुधियों की लौ बनकर रहेगा उनका मोहन मानवीय रूप! और, बहुत दिन तक यह लौ जला करेगी।"*—नलिनजी का वास्तविक रूप केसरीजी के कलाकार ने जिन आँखों से देखा है, वे चर्म की दृष्टि नहीं, मर्म की सृष्टि उपस्थित करती हैं।]

नलिनजी के साथ दो-चार दिन भी रहने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। उमर में छोटे और ज्ञान में बड़े—ऐसी दुविधा-भरी स्थिति में उनसे खुलकर, हिलमिल कर बातें करने का सुयोग भी नहीं मिला। पत्राचार के नाम पर उनकी सिर्फ दो चिट्ठियाँ मेरे पास हैं। फिर भी उनके निधन से ऐसा लगा कि कोई 'अपना' उठ गया। उनके महाप्रयाण का तड़ित्समाचार पाकर जैसी मर्मांतक वेदना हुई वैसी एक सिर्फ साहित्यिक बंधु के निधन पर नहीं होती। लगता है, किसी अज्ञात सूत्र से हमारे हृदय बँधे थे, और उस सूत्र के टूटते ही मेरा हृदय चीत्कार कर उठा।

सब मिलकर दस-बारह बार ही जीवन में हम दोनों मिले होंगे। इन मुलाकातों में कुछ ऐसी ही थीं जो कुशल-क्षेम में ही खतम हो गईं। फिर भी कुछेक ऐसी भी थीं

जिनकी याद अभी भी ताजा है और जो अनेक दृष्टि-बिंदुओं से उल्लेखनीय हैं। नलिनजी के कर्त्तृत्व या उनकी उपलब्धियों के मूल्यांकन का प्रयास मुझे नहीं करना है—वह मुझसे होगा भी नहीं। ये तो चंद तस्वीरें हैं उनके साथ मुलाकातों की। ये तो कुछ झाँकियाँ हैं उनके प्रियदर्शन व्यक्तित्व की।

बिहार की कुछ साहित्यिक-विभूतियों से मेरी जब भी मुलाकात हुई है, बातें भोजपुरी में ही हुई हैं। ऐसी विभूतियों में अग्रगण्य हैं—आदरणीय शिवजी, राजाजी, मनोरंजनजी, रामदयालजी एवं स्वर्गीय नलिनजी। ये झाँकियाँ यदि भोजपुरी में प्रस्तुत की जायँ तो इनमें एक अनुपम मिठास आ जाय। किन्तु नलिनजी के व्यक्तित्व को बाँधने के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी की व्याप्ति अपेक्षित है।

[१]

बात १६५० के आसपास की है। उन दिनों पटना कॉलेज के आमने-सामने पुस्तकों की एक दूकान है; मैं वहीं बैठा-बैठा अपने नवोदित कॉलेज पुस्तकालय के लिए कुछ पुस्तकें चुन रहा हूँ। सामने पुस्तकों का अंबार लगा है—और शायद इसीलिए चुनाव मुश्किल हो रहा है। तब तक देखता हूँ कि पुस्तकों के इस कानन में शेर की तरह नलिनजी विचरण कर रहे हैं। रुक-रुक कर धीरे-धीरे चरण उठ रहे हैं क्योंकि आँखें टिकी हैं अलमारियों पर—कभी इस पर, कभी उस पर। महाकवि तुलसी की यह पंक्ति नलिनजी के इस रूप पर खूब फिट बैठ रही है—

'सिंह ठवनि इत उत चितव, धीर वीर बलपुंज'

'बलपुंज' की जगह 'मतिपुंज' कर देने पर लाइन और भी फिट हो जाती है।

नलिनजी अलमारियों पर आँखें गड़ाए हुए हैं, और मैं उनके नयन-रंजन शरीर-सौभाग्य को टुकुर-टुकुर निहार रहा हूँ। कितनी उदारता से विधाता ने इस काया-वैभव की रचना की है! मांसल स्फीत वक्ष-प्रदेश के ऊपर सौम्य तेजोमय मुख-मंडल—जैसे हिमालय के विस्तृत सानुवेश के ऊपर चंद्रिका-धौत कैलाश-शिखर।

नलिनजी मुझे देख कर पास आकर बैठ गए हैं, और पूरे दो घंटे हम दोनों वहाँ बैठे-बैठे बातें करते रहे हैं। लगता है, काफी देर तक नलिनजी इस पुस्तक-कानन में अपने मनचीते शिकार की टोह में घूमा किए हैं। उनके हाथों में तीन किताबें हैं। संभवतः एक है फ्रेंच लेखक काम्यू की, दूसरी इटालियन लेखक मोराविया की और

तीसरी योगिराज अरविंद के कुछ लेखों का एक संग्रह। सभी अँग्रेजी में—किंतु नलिनजी फिर भी असंतुष्ट-से दीखते हैं। लगता है, सभी मनचाही पुस्तकें उनके हाथ नहीं लगी हैं। "कौन कहेगा, आप हिन्दी के प्रोफेसर हैं नलिनजी! तीन में एक भी हिन्दी की नहीं!"

"केसरीजी, मेरी एक धारणा है। हिन्दी के विद्वान् अँग्रेजी तथा इतर भाषाओं के साहित्य का अनुशीलन करें और अँग्रेजी के आचार्य हिन्दी-संस्कृत प्रभृति भाषाओं में उपलब्ध वाङ्मय का मनन करें। तभी स्वस्थ संतुलित मानसिक भोजन की व्यवस्था संभव हो सकती है।"

और तब नलिनजी मेरे अपने चुनाव में हाथ बँटा रहे हैं। उनके परामर्श का फल यह हुआ है कि जो पुस्तकें चुनी गई हैं उनमें फी सदी साठ आधुनिक से आधुनिकतम युग के लेखक-कवियों की हैं। मेरे प्रतिवाद करने पर वे कालिदास की दुहाई दे रहे हैं:—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्
संतः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेय-बुद्धिः।

"तब तो भाई, मैं मूढ़ क्या महामूढ़ हूँ, क्योंकि ये सारी पुस्तकें आपकी राय से ली गईं—यह भी तो हुई 'परप्रत्यनेय बुद्धि'।" अपनी सहज-मधुर मुसकान के साथ नलिनजी कह रहे हैं—'दोष मेरे मत्थे मत मढ़िए। कहनेवाले आपकी ही जाति-बिरादरी के हैं।"

× × × × ×

नलिनजी के लेखों तथा कहानियों को जब-जब पढ़ता हूँ तो उनकी साहित्यिक अभि-रुचियों-अनुरक्तियों की यह दिशा पग-पग पर दिख जाती है। आकंठ भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में निमग्न-अन्तर्विलीन यह प्रतिभा-पुरुष नवीनतम बौद्धिक क्षितिजों की ओर उर्ध्वग्रीव हो देख रहा है—ऐसा मुझे भान होता है। अँग्रेज कवि के शब्दों में—"Rooted yet unconfined"—"धरती में मूल मगर दिगंतव्यापी बाहर विस्तार।"

[२]

उन दिनों नवजात 'नकेनवाद' की खासी अच्छी चर्चा है। मैं पटने में आचार्य रामलोचन शरणजी के मकान में ठहरा हुआ हूँ। किसी कार्य-वश नलिनजी वहाँ पधारे हैं। जानें क्यों उस दिन व्यंग्य-विद्रूप की 'मूड' मुझ पर हावी है, 'नकेनवाद' के प्रवर्तक नलिनजी को 'बनाने' की धुन सवार है। हो सकता है, इसके मूल में तथाकथित 'नई कविता' के प्रति मेरी सहानुभूति-शून्यता हो। नलिनजी मिले नहीं कि मेरे व्यंग्य-वाण छूटने लगे हैं—"कहिए नलिनजी, आपके प्रपंचवाद का क्या हाल है!" प्रपद्यवाद की इस 'पैरोडी' पर वे थोड़ा भी हतप्रभ नहीं,—"ठीक तो है केसरीजी! सृष्टि-प्रपंच तो सदा अपने रास्ते पर है और उसमें यदि नए-नए प्रयोग न हों तो सुनी-सुनाई कहानी की तरह वह नीरस नहीं हो जायगा क्या?"

"किन्तु आभिजात्य-संस्कारों से शून्य आपका यह विश्वामित्री सृष्टि-प्रयोग युगों तक अस्पृश्य ही बना रहेगा।"

"अछूतोद्धार के इस जमाने में आप भी यह क्या कहने लगे केसरीजी!"

मैं अप्रतिभ हो गया हूँ और तरकस से जरा और तेज तीर निकाल रहा हूँ। "अच्छा, यह तो बतलाइए, 'नकेनवाद' की तीन शक्तियों में कौन ज्यादा क्रियाशील है? मैं तो सृजन, पालन की अपेक्षा विघटन ही ज्यादा देख रहा हूँ।"

"नहीं, ऐसा नहीं कहिए। त्रिवेणी की गंगा-यमुना को प्रत्यक्ष देख कर यह कहना क्या ठीक है कि अन्तर्सलिला सरस्वती हुई नहीं?"

इस आदमी को कैसे 'बनाया' जाय! मैं हैरत में हूँ। नलिनजी खीजने-से रहें, वे तो रीझे-से दीख रहे हैं। फिर भी मेरे तूणीर में तीर अभी बाकी हैं—"किन्तु, भई, आपलोगों की यह आसक्ति कितनी अस्वस्थ-अशोभन है—जो भी अनचीता-अनजाना किंवा विरस विजातीय है उससे आसक्ति से मेरा मतलब है। दृष्टांत के लिए आपका वह 'पशपशा' शब्द ही ले लीजिए। 'भूमिका', 'आमुख' या और कोई परिचित शब्द क्या बुरा होता!"

नलिनजी चुप हैं और मैं बकते जा रहा हूँ—"दर-असल आपलोग 'पहलौंठ' गाय की तरह हैं। दूध कितना देगी, अभी कुछ भी ठीक नहीं, किन्तु दुलत्तियाँ खूब झाड़ती है पहलौंठ गाय।"

नलिनजी हँस रहे हैं और सिगरेट की कसों के बीच बोल रहे हैं—"किन्तु बूढ़ी गाय से अब क्या लेना-देना है! वह जो हो चुकी सो हो चुकी। और पहलौंठ के साथ तो सौ-सौ संभावनाएँ बँधी हैं। यह सुखद कल्पना क्यों न की जाय कि पहलौंठ भविष्य के मंगल-कलश को पूर्ण कर देगी!"

बलिहारी हूँ मैं इस स्वभाव-शीतलता पर जिसकी गहराई में डूबकर मेरी चिनगारियाँ स्वयं ठंढी हो गई हैं।

[२]

१६५७ में आइ० ए० पास कर मेरा भतीजा चि० सियारामशरण हिन्दी में ऑनर्स के साथ बी० ए० करना चाहता है। पास ही मुजफ्फरपुर का कालिज है जहाँ मेरा बेटा चि० सुरेंद्र नाथ भी पढ़ रहा है। किन्तु सियाराम को कौन मनावे! वह चाहता है आचार्य्य नलिन विलोचन शर्मा की शिष्य-परंपरा में शामिल होना। वह आचार्य्य से कहेगा—

'स्रवननि सुनि सुजस हो नाथ,
आयो तेरी सरन'

आचार्य्य के चरणों की शरण में वह पहुँच चुका है। किन्तु वह चाहता है कि मैं स्वयं आचार्य्य से उसके लिए दो शब्द कह दूँ। और इसी संबंध में मैं नलिनजी के घर पर आ गया हूँ।

निचले बैठकखाने में हम बैठे हैं। चाय और सिगरेट और तब—"हाँ, तो सियाराम की चिंता आप छोड़ दें; मैं उसके योग-क्षेम को वहन करूँगा। आपकी सेहत तो अच्छी है न!"

"हाँ, ठीक ही है, यही वायु-विकार से जरा परीशान रहता हूँ।"

"तब तो आप भी इस नुस्खे का इस्तेमाल कीजिए। डा० ईश्वरीदत्तजी का नुस्खा है यह। खाने के बाद एक-दो पके केले लीजिए। केला पुष्टिकर तो है ही, वायु-शामक भी है।"

हम जहाँ बैठे हैं उसके पास ही एक छोटी-सी मेज पर बाणभट्ट की 'कादंबरी' खुली पड़ी है। मेरी आँखें वहाँ पहुँची देख नलिनजी कह रहे हैं—"कल के लेक्चर के लिए कुछ नोट तैयार कर रहा हूँ, उसी में 'रेफरेंश' के लिए कादंबरी की आवश्यकता आ पड़ी है।... अच्छा, केसरीजी, कादंबरी का-सा समृद्ध शक्तिमंत गद्य अंग्रेजी में भी है क्या?"

मैं 'रस्किन', 'आस्कर वाइल्ड' प्रभृति कुछ नाम ले रहा हूँ और वे कहते जा रहे हैं—"अर्थ-प्रतिपत्ति और शब्द-सौष्ठव दोनों का मणि-कांचन संयोग, सुनता हूँ, टोमस ब्राउन प्रभृति पुराने लेखकों में मिलता है। आप क्या सोचते हैं?"

किन्तु मैं कुछ दूसरा ही सोच रहा हूँ। मेरी आँखें बैठकखाने की दीवार पर टँगी एक चित्राकृति पर जा पड़ी हैं। विद्रुम-अरुण फलक पर हल्के नारंगी रंग की साड़ी में एक अनिंद्य सुन्दरी बाला! मुझे उसे देर तक घूरते देख नलिनजी कह रहे हैं—"अच्छा, आप उस तस्वीर को पी रहे हैं! उसकी भाव-भंगिमा पसंद है?"

और यह भाव-भंगिमा तो जैसे एक पहेली है। गृह के देहली-द्वार पर यह रूपसी खड़ी है, एक चरण चौखट पर और दूसरा उठने-उठने पर। वह भीतर आँगन की ओर ताक रही है कि बाहर सहन की ओर! मैं प्रश्न कर रहा हूँ—"यह कनक-चंपक-दाम गौरी' बाला क्या करने जा रही है नलिनजी!"

"आप जरा उसे और अवहित होकर देखिए—उसकी 'चकित-हरिणी-प्रेक्षणा' आँखों को भी देखिए और कालिदास की वह पंक्ति याद कीजिए—

'शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ'।"

किन्तु कालिदास की पार्वती यह नहीं है। नलिनजी उसकी तारीफ में कह रहे हैं—

"मैं स्वयं अभी समझ नहीं पाया कि यह किसी की प्रतीक्षा में है या किसी से मिलन-सुख के पुलकोल्लास में। कितना मोहक है यह रहस्य, केसरी जी! कितना सत्य है जीवन की यह धूप-छाँह!"

मुझे याद है, इसके बाद ही मैंने नलिनजी से प्रार्थना की है कि वे मेरे 'कदंब' की भूमिका लिख दें।

[४]

और अंत में यह छोटी-सी झाँकी। दानापुर में एक कवि-सम्मेलन हो रहा है। प्रभातजी सभापति हैं। पटने के कवि-बंधुओं के साथ मैं भी उसमे शामिल होने जा रहा हूँ। सम्मेलन के पहले जलपान का आयोजन है। कदाचित् कोई नेताजी भी पधारे हैं और मेजमान महाराज उन्हीं की आवभगत में मग्न होकर हम कवियों को भूल-से गए हैं। कवियों के आत्म-सम्मान को ठेस लग गई है। जलपान-गृह से कुछ दूरी पर सम्मेलन-मंडप है। इतनी ही दूरी में विचार बदल गया है और हम कुछ लोग इक्के पर बैठ भाग आए हैं।

इक्के पर बैठे-बैठे नलिनजी मजाक कर रहे हैं—"भोजपुरी में एक कहावत है—'खाके पसर जा, मार के ससरजा'। किन्तु यहाँ तो उल्टी बात हो रही है। हम सभी खा के ससर' रहे हैं। किन्तु जब इतने सारे कवि उल्टी गंगा बहाने पर तुले हुए हैं तो मैं हो वहाँ ठहर कर कौन मैदान मार लेता! 'महाजनाः येन गताः स पंथाः'।"

× × × × •

समालोचक थे, कथाकार थे, आचार्य्य नलिन विलोचन शर्मा और बहुत कुछ थे। किन्तु साथ ही वे कवि भी थे—रस-प्राण आनन्द-लोभी कवि।

इसीलिए वे कभी-कभी मस्तमौला फक्कड़ भी हो सकते थे। अपने साहित्यिक गौरव के अनुरूप इतिहास के पन्नों में वे रहेंगे, किन्तु हमारी आँखों के अश्रु-दीप में सुधियों की लौ बनकर रहेगा उनका मोहन मानवीय रूप! और, बहुत दिनों तक यह लौ जला करेगी!!!

✻

उपलब्धियाँ और देन

केसरी कुमार
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
पटना कॉलेज, पटना

[—*"नलिनजी की समीक्षा पढ़ते समय प्रायः ऐसा लगता है कि हम सूरज के प्रकाश में आ गए हैं, जहाँ मन के सभी दीप हतप्रभ है, और चतुराई इसी में है कि इन दीपों को बुझाकर दिन का सामना किया जाय।"* नलिनजी के चिर संगी साथी प्रोफेसर केसरी कुमार जी की इस अभिव्यक्ति से यह ज्ञात होता है कि उनका अपने परिवेश पर कितना महत्त्वपूर्ण प्रभाव था।]

नलिनजी हिन्दी की वर्त्तमान पीढ़ी के सर्वतोमुखी (All-rounder) लेखक थे। विज्ञान और दर्शन के मिलन-विन्दु के विरल कवि थे, दुर्लभ मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों के कहानीकार थे, प्रत्येक रचना के भीतर से ही उसके मूल्यांकन का निकर्ष निकालनेवाले और इस प्रकार अपनी उद्भावनाओं से रचनात्मक सम्भावनाओं के विकसित स्तर को उपजीव्य बनाते हुए आलोचना को सर्जनात्मक स्थापत्य देनेवाले समीक्षा-शिल्पी थे, वेश्मनाट्य के व्याख्याता और सर्वतोभावेन गीतिनाट्य के एक मात्र अधिकारी प्रणेता थे, व्यंजक गद्य के निर्माता थे और एक ऐसे सुधी साहित्यिक सम्पादक थे, जिन्हें विष्णु से लेकर लतीफे एवं आवरणसज्जा तक पर कुछ-न-कुछ बिलकुल नया और बहुत ही महत्त्वपूर्ण कहना था। पर, यह बात कुछ ही लोग जानते हैं कि वे एक कुशल चित्रकार भी थे। प्रो० रामेश्वर सिंह 'काश्यप' के 'पाटल' में धारावाहिक प्रकाशित होनेवाले 'लच्छे' और प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी के 'खजूर के पेड़' को प्रतीकित करनेवाले व्यंग्य-

चित्र उन्होंने ही बनाए थे और 'दृष्टिकोण', 'शीलनिरूपण के सिद्धान्त', 'प्रतिनिधि कथाकार', 'नकेन' आदि की आवरण-रेखाएँ उन्हीं की हैं। उनके श्रेष्ठ चित्रों का एक विपुल संग्रह उनकी रेखा-रंग-कुशला 'सखी-सचिव-गृहिणी' के पास है जो उन्हें बढ़िया से बढ़िया कलम इस शर्त पर देती रहीं कि वे, जो पढ़ने और सोचने के अनुपात में लिखते बहुत कम थे, एक अच्छी रचना दें और परिणाम में पूरी-अधूरी रचनाओं के साथ 'नए कलम' के चित्र सहेजती रहीं। उनकी पत्नी जब कभी नया रंग या तूलिका लातीं तो उसका पहला उपयोग नलिनजी ही करते। इसी क्रम में आईने को सामने रखकर उन्होंने एक आत्मचित्र भी बनाया था, जिसमें उनके व्यक्तित्व की वे सारी विशेषताएँ पहली बार आई थीं जिन्हें रेखाबद्ध करने की चेष्टा तो देश-विदेश के अनेक चित्रकारों ने की थी पर सफलता, और वह भी अधूरी, केवल एक जर्मन कलाकार को मिली थी, जिसने घड़ी देखकर एक मिनट में पहले रंग और तब रेखाएँ डालकर उनकी मुखाकृति बनाई थी। नलिनजी जीवित को मूर्ति में ढालने के अपराधी नहीं बल्कि रेखाओं से जीवित प्रतिमान गढ़नेवाले थे। तो, इन सभी कलाओं के भीतर से जो एक सम्पूर्ण दृष्टि बन सकती है वही नलिनजी की सबसे बड़ी उपलब्धि थी और वही एक दुर्जेय सर्वजयी लेखक की पहचान भी है।

नलिनजी की दूसरी बड़ी उपलब्धि उनकी तटस्थता थी। मृत्यु के छः दिन पूर्व उन्होंने उग्रजी के नाम उनकी 'अपनी खबर' की चर्चा करते हुए एक पत्र लिखा था, जो छूट न सका और अब तो उसकी प्रतिलिपि ही उग्रजी को मिलेगी और उन्हें अफसोस भी बहुत होगा क्योंकि उस पत्र के अंत में लिखा है—'आपके आशीर्वाद से अब मैं स्वस्थ हो चला हूँ।' सम्प्रति, उस पत्र में उग्रजी से यह आग्रह किया गया है कि वे निन्दा की तरह प्रशंसा की भी उपेक्षा करेंगे।... उर्दू के संस्मरणों की, एक गलत ढंग से, तारीफ की जाती है। उर्दू के लेखक उपलब्धियों की अपेक्षा कमजोरियों का, बड़ा रंगीन और रोमानी बनाकर, वर्णन करते हैं। अब यहीं नलिनजी की वास्तविक तटस्थता मिलेगी। वे पक्ष और विपक्ष के प्रति समानरूप से तटस्थ थे और इसीलिए जब दूसरों की खबर लेनेवाले ने उसी बेबाकी से 'अपनी खबर' ली तो उन्हें उस रचना ने बेचैन कर दिया। नलिनजी ने अपने द्वारा सम्पादित 'साहित्य' में अपने प्रतिकूल आलोचना भी प्रकाशित की थी और जब नरेशजी ने, मेरे सामने ही, उनसे

पूछा कि क्या वे उनका वह लेख 'साहित्य' में छापेंगे जिसमें उनकी प्रशंसा है, तब उन्होंने छूटते ही कहा कि 'मुझमें इतनी तटस्थता है कि यदि छापने योग्य हुई तो अपनी प्रशंसा भी छाप सकूँ।' स्टेट्समैन, जिसके वे स्तम्भ-लेखक थे, Bihar through the ages आदि में 'नकेन' के अन्य कवियों के साथ अपना नाम लिख करके इस सिद्धान्त को अनुकरणीय बनाया था।

ऐसी तटस्थता उसी में होती है जो अपनी रचनाओं के प्रति निर्मोह होता है। नलिनजी इस अर्थ में निर्मम थे। वे एक ऐसे कवि आचार्य थे जो काव्य-शास्त्र के दोष-प्रकरण के लिए अपने ही छंद चुनता है और फिर भी कविता करता है। वे उस जर्राह की तरह थे जो अपनी औलाद के घाव पर भी चीरा लगाता है और उसके हाथ नहीं काँपते। इस आशय की उनकी एक अप्रकाशित कविता है। 'साहित्य' में हिन्दी पुस्तकों की आवरण-सज्जा पर टिप्पणी लिखते हुए वे अपनी रेखाओं से विन्यस्त 'कविता' और 'दृष्टिकोण' के संबंध में यह कहना न भूल सके कि "पटना से प्रकाशित होनेवाली 'कविता' और 'दृष्टिकोण' की सज्जा से ही शायद उनकी चुनौती शुरू हो जाती है।" एक बार आचार्य शिवपूजन सहाय ने 'साहित्य' के लिए लिखे एक अग्रलेख में 'रुझान' शब्द का पुल्लिंग व्यवहार किया। प्रूफ नलिनजी के पास आया। उन्हें शंका हुई। उन्होंने रसालजी का शब्दकोश देखा जिसमें वह शब्द स्त्रीलिंग माना गया था। बस "अन्धेनैव नीयमानः यथान्धः" की गति हुई और उन्होंने उसे स्त्रीलिंग बना दिया। लेकिन बाद को जब उन्होंने उस अरबी शब्द के स्रोत और व्यवहार ढूँढे तो उसे पुल्लिंग पाया। अब तो बेचैन हो गए। हम से कहा, महताब अली से कहा और न जाने किस-किस से कहा। पर शांत नहीं हुए और 'साहित्य' में 'गच्छतः स्खलनं क्वापि' शीर्षक एक टिप्पणी लिखकर अपने प्रमाद (?) और लज्जा का उल्लेख किया। लेकिन वे ही बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् के वार्षिकोत्सव पर पठित 'हिन्दी भाषा और उसका साहित्य' शीर्षक निबंध में, उस अवसर पर उठे एक तूफान के बावजूद भी, जरा भी संशोधन करने को तैयार नहीं हुए और भरी सभा में, शिष्ट किन्तु निश्चित स्वर में बोले कि मुझसे जो, जो चाहे, लिखवा ले, यह कैसे हो सकता है। नफीस से नफीस चीजें और नायाब कलाकृतियाँ भी कुछ दिनों तक उनके बैठकखाने में रहती थीं, नयापन की ऐसी कभी न बुझनेवाली भूख उस कुसुम-कठोर जौहरी-कलाकार रईस में थी।

कितनी उपलब्धियाँ गिनाई जाएँ। नलिनजी प्राचीन भारतीय साहित्य के पंडित थे और पाश्चात्य साहित्य की आधुनिकतम आहट का भी ज्ञान रखते थे। मेरी जानकारी में हिन्दी का दूसरा कोई व्यक्ति नहीं है जिसने संस्कृत और अँग्रेजी के ज्ञान का, अपनी भाषा और साहित्य के लिए, ऐसा मौलिक उपयोग किया हो, जिससे परिचित सिद्धान्त भी नए सिरे से व्याख्येय हो उठें। नलिनजी के पास एक समृद्ध और अद्यतन पुस्तकालय था। विश्वविश्रुत पिता के संस्कार थे। पर न तो वे दुर्ललित हुए और न दुर्विदग्ध। ईंट-ईंट जोड़कर उन्होंने अपना निर्माण किया। अध्ययन उनपर नहीं चढ़ा, वे ही उसपर समासीन रहे और इसीलिए सदा ऊँचे रहे। उन्होंने सिद्धान्तों के सिद्धान्त गढ़े और उनके लिए शब्द भी खुद ही रचे। वस्त्र के लिए शरीर काटने के कायल तो वे कभी रहे नहीं।

और, न ही वे अनुकृति के कायल थे। प्रपद्यवाद का सुप्रसिद्ध सूत्र ही है कि प्रपद्यवादी के लिए दूसरों की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित है। प्रेमचंद नलिनजी को इसलिए भी प्रिय थे कि हर राजनीतिक सम्प्रदाय की सही शिकायत यह रही कि प्रेमचंद उनके संग चलकर भी अंत तक साथ नहीं देते। प्रेमचंद ने स्वयं अपना अनुकरण भी नहीं किया और पिछली उपलब्धियों को छोड़कर किसी महत्तर की खोज में चलते रहे और बिना लदाव के होने के कारण तेजी से गोदान की सिद्धि तक पहुँच गए। निरालाजी को नलिनजी इसलिए भी महान् मानते थे कि निरालाजी ने साहित्य में सर्वत्र नेतृत्व ही किया, प्रतिनिधित्व नहीं। नलिनजी की कहानियों और समीक्षाओं से यह बात अपेक्षया अधिक आसानी से समझी जा सकती है।

नलिनजी की समीक्षा पढ़ते समय प्रायः ऐसा लगता है कि हम सूरज के प्रकाश में आ गए हैं, जहाँ मन के समस्त दीप हतप्रभ हैं और चतुराई इसी में है कि इन दीपों को बुझाकर दिन का सामना किया जाय। चर्वितचर्वण यहाँ है नहीं, दिल दिखाकर याचना नहीं की जाती, उत्तरी ध्रुव से दिशा-निर्देश पाने का यत्न निरर्थक लगता है। यहाँ पहुँचते ही बँधी धारणाएँ जैसे एक भूचाल में पड़ जाती हैं। नलिनजी की समीक्षा के लिए बहुचर्चित पक्ष गौण, गौण महत्त्वपूर्ण और तिरस्कृत नवीन विवेचन-योग्य थे। उदाहरण के लिए, उनकी दृष्टि में रीतिकालीन कविता इसीलिए दुर्बल नहीं है कि उसमें सामाजिक सामयिकता का अभाव है और न ही छायावादी कवि साहित्यक चार्वाक थे। पड़ोस में आग लगने पर बाल्टी में पानी लेकर दौड़ पड़नेवाले कवि का हम आदर

करेंगे—किन्तु आग बुझते ही उसपर छंद रचनेवाले को हम क्या कहेंगे !—साहित्य की सामाजिक चेतना के संबंध में उनकी ऐसी धारणा थी। प्रेमचंद की एक बड़ी देन वह यह मानते थे कि प्रेमचंद ने होरी जैसे साधारण प्राणी को पहली बार दिलचस्प बनाया जब कि अन्य लेखक और स्वयं प्रेमचंद ने भी अपनी आरंभिक रचनाओं में निम्नश्रेणी से पात्र तो लिये पर उन्हें चारित्रिक असाधारणता दिए रहे। 'गोदान' की विशृंखल वस्तु-योजना, जो अन्य आलोचकों की दृष्टि में प्रेमचंद की अपूर्णता है, को ही नलिनजी इसी लेखक की अंतिम सिद्धि मानते थे क्योंकि इसी के कारण भारतीय जीवन के महाप्रवाह का चित्रण सम्भव हो सका है और इस प्रकार स्थापत्य के कारण उपन्यास में पहली बार ईर्ष्येय महाकाव्यात्मक गरिमा आ सकी है।

अब हम उस विन्दु पर आ गए हैं जहाँ नलिनजी की एक अन्य ऐतिहासिक देन को देखना सुलभ हो सकेगा। यह देन है उनका इतिहास-दर्शन। नलिनजी ने पहली बार यह स्थापना उपस्थित की कि इतिहास गौणों के द्वारा बनता है। प्रसिद्धों के द्वारा तो कुछेक स्थलों की ऊँचाई जानी जा सकती है पर इतिहास के सतत् विकास या परिणमन की व्याख्या तो गौणों के अध्ययन और उनके स्थान-निरूपण से ही सम्भव हो सकती है। इन गौणों के अध्ययन में वे किस प्रकार लगे थे यह तो उनके निर्देशन में काम करनेवाले एक सौ के लगभग शोधकर्त्ताओं तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के शोधविभाग एवं बिहार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अनुशीलन-विभाग में हुए कार्यों से पत्यक्ष ही है। बिहार में शोध की इधर जो बाढ़ आई और बिहार के असंख्य प्राचीन साहित्कारों का जो जीर्णोद्धार हुआ वह एकमात्र नलिनजी के कारण ही। वे युग की अन्विति को एक सापेक्ष तथ्य मानते थे और संस्कृत के साहित्येतिहास के संबंध में भी उनका मंतव्य था कि उसमें लेखकों ने क्या की अपेक्षा कैसे और क्यों लिखा, यही अधिक विचारणीय है।

✣

नलिन जी की महानता

गिरिवरधारी महतो
पुनाडीह, पटना

["—महान व्यक्ति के सम्पर्क में आकर लघु भी महान में परिणत हो जाता है। वह जब तक महान के पास रहता है, उसकी लघुता तिरोहित रहती है।" महतोजी को महानता का वास्तविक ज्ञान ऐसी जगह हुआ जहाँ उनकी लघुता भी महानता की समकक्षता करने लगी। महत्ता का महत्त्व ऐसी ही जगह महामहिम बन जाता है!]

स्वर्गीय नलिनजी से मिलने का सौभाग्य कई बार प्राप्त हुआ था, पर हर बार प्रसाद रूप में कुछ-न-कुछ नवीन प्रेरणा लेकर ही लौटा। महान व्यक्ति के सम्पर्क में आकर लघु भी महान में परिणत हो जाता है। वह जब तक महान के पास रहता है, उसकी लघुता तिरोहित रहती है। दिवंगत नलिनजी के सम्पर्क में आकर मेरे साथ यही बात घटित होती थी। वे महनीयता के मंच से उतर कर लघुता को गले लगाते थे और पुनः अपने साथ ले जाकर बगल में बैठा लेते थे। एक बार की घटना का जिक्र करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता।

श्री नलिनजी 'संतवाणी' की सम्पादन-समिति में थे। एक बार 'संतवाणी' में एक निबंध प्रकाशित हुआ था। वह निबंध डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदीजी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' की अविकल नकल था। इस घटना की ओर मैंने 'संतवाणी' के सम्पादक श्री दुलारचन्दजी का ध्यान आकृष्ट किया। पर बार-बार पत्र लिखने पर भी उनकी मौन-समाधि भंग नहीं हुई। लाचार होकर मैंने श्री नलिनजी के पास फरियाद पेश की। मैं जानता था कि वे अत्यन्त कार्यव्यस्त व्यक्ति हैं। वे अपने में एक संस्था भी हैं। उनका एक-एक मिनट कीमती है। पर उनकी शिष्टता तथा कर्त्तव्य के प्रति सजगता तो देखिए कि उन्होंने स्वयं दुलारचन्दजी को आवश्यक कार्रवाई के लिए अविलम्ब अनुरोध किया और मुझको तीन-चार दिन के अन्दर पत्रोत्तर भी दिया, जिसकी अविकल नकल मैं दे रहा हूँ। विद्या के साथ विनयशीलता की वे साक्षात् प्रतिमा थे।

पत्र की प्रतिलिपि

नलिनविलोचन शर्मा	**दूरभाष, ४६२०**
अध्यक्ष	**ब्रजकिशोर पथ**
हिन्दी विभाग	**पटना—१**
पटना विश्वविद्यालय	**८-१२-५६**

प्रिय महोदय,

आपका पत्र मिला। 'संतवाणी' के सम्पादक महोदय से मैंने आवश्यक कार्रवाई के लिए कह दिया है।

भवदीय

(ह०) नलिन विलोचन शर्मा

मैं कृतज्ञता के भार से दब गया। इसी बीच एक दिन पटना विश्वविद्यालय के बरामदे पर उनसे संयोगवश भेंट हो गई। वे 'संतवाणी' की ओर से माफी माँगने लगे। मैं लज्जा से गड़ गया।

✠

जब नलिन जी मेरे कॉलेज आये

गीता श्रीवास्तव
प्राध्यापिका
गौतम बुद्ध महिला कालेज, गया

✣

[एक प्राध्यापिका-शिष्या के शब्दों में एक पूज्य प्राध्यापक का संस्मरण यूँ है कि—
"....जब कभी उनसे मेरा साक्षात्कार होता तो मुझको उनकी आँखों में वात्सल्य की छाया नजर आती। उनकी मन्द मुस्कान से भी मुझको यही लगता कि अभी तक मैं उनकी दृष्टि में एक बच्ची ही हूँ।"]

तुलसी-जयन्ती के शुभ अवसर पर आचार्य नलिन विलोचन शर्मा को अपने कॉलेज में बुलाकर हम एक पंथ दो काज करना चाहते थे, परन्तु कुछ कारणवश शर्माजी उक्त अवसर पर न आ सके और हमारा सांस्कृतिक कार्य-क्रम व्यावहारिक रूप न पा सका। अगस्त माह के अंतिम सप्ताह में उन्होंने एक पत्र भेज दिया कि आवश्यक आँकड़े तैयार रक्खे जायें, जिससे पहली सितम्बर को निरीक्षण-कार्य में उन्हें सुविधा मिल सके। ३१ अगस्त को उन्होंने तार द्वारा संवाद भेज दिया कि १ सितम्बर को वे आ रहे हैं।

अपने कॉलेज में मैं ही एक ऐसी प्राध्यापिका हूँ, जो उनकी शिष्या भी रह चुकी हूँ। इसलिये प्राध्यापक-वृंद तथा प्राचार्या महोदया मुझसे उनके विषय में विशेष रूप से पूछ-ताछ कर रहे थे और मुझको स्वाभाविक रूप से गर्व हो रहा था। कुछ प्राध्यापकों ने तो उन्हें पहले देखा भी नहीं था। केवल उनकी ख्याति से परिचित थे। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि उनका परिचय किन शब्दों में दूँ और मैंने अपनी योग्यता के अनुसार उनका जो परिचय दिया वह अपने आप में क्या पर्याप्त था?

उक्त तिथि को वे १० बजे के लगभग गया पहुँचने वाले थे। कॉलेज में सब प्रबन्ध कर लेने के बाद अपनी एक सहकर्मिणी के साथ लाल गुलाब का स्तवक लिये स्टेशन पहुँची। अपनी धुन में रहने के कारण हमलोगों को ख्याल ही नहीं था कि पटने से आनेवाली गाड़ी स्टेशन पहुँच चुकी है। अभी हमलोग इतमीनान से प्लेटफार्म-टिकट खरीद रही थीं तभी मैंने उड़ती नजरों से देखा कि शर्माजी प्राचार्या महोदया के साथ आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। मैंने टिकट वगैरह वहीं छोड़ दौड़ते हुए जाकर अपने काँपते हाथों से गुलाब का स्तवक उन्हें पकड़ा दिया। उस समय मैं यह सोचकर बहुत अधिक विह्वल हो गई थी कि यदि मुझसे एक मिनट की भी और देर हो जाती तो मेरा स्टेशन आना ही निरर्थक हो जाता। शायद शर्माजी ने मेरा मनोभाव भाँप लिया था। उन्होंने फूलों का गुच्छा लेते हुए कहा—"मैं तो आ ही रहा था!" मैंने झेंप मिटाने के लिये कह दिया—"हमारी उत्सुकता कुछ अधिक बढ़ गई थी।"

कॉलेज पहुँचने पर छात्राओं ने यथोचित रीति से उनका स्वागत किया। कृष्ण-जन्माष्टमी का दिन था इसलिए एक छात्रा ने सूर का भजन गाकर सुनाया—

अँखिया हरि दरसन की प्यासी।
देख्यो चाहत कमल नैन को
निसि दिन रहत उदासी।

यह एक संयोग ही था कि 'कमल नैन' नलिन विलोचन का पर्याय बन गया था, परन्तु मुझे लग रहा था कि शर्माजी कहीं यह न समझ लें कि उनके नाम को प्रकारान्तर से साभिप्राय प्रयुक्त किया गया है। भजन सुनते वक्त वृषभ-स्कन्ध शर्माजी विशेष रूप से झुक गये थे। जो कुछ भी हो, प्रसंग कुछ ऐसा था कि मुझको वह भजन बहुत अधिक

मुग्धकारी प्रतीत हो रहा था। इसके बाद उनके साथ हमलोगों ने चाय पी। चाय के समय बहुत आग्रह करने पर भी शर्माजी ने केसरिया पेड़ा और सेव को छोड़ कर और कुछ न लिया।

निरीक्षण सम्बन्धी आवश्यक व्योरा देखते वक्त वे मुझसे व्यक्तिगत कुशल-क्षेम भी पूछते जा रहे थे। प्रसंगवश मेरे डेरे का जिक्र हो गया था। इस पर उन्होंने मन्द मुस्कान के साथ पूछा—"क्या आपने डेरा भी ले लिया है?" उनकी मुस्कान के साथ ही विद्युत गति से एक विस्मृत घटना मेरे मस्तिष्क में कौंध गई। कुछ पूर्व पर्व जब मैं उनकी छात्रा थी तब छात्राओं की मंडली में बातचीत के सिलसिले में मैंने कहा था—"पटने में मकान की बहुत दिक्कत होती है। मैं यदि पटने में कोई कार्य करूँगी तो नलिनजी के मकान का एक भाग खरीद लूँगी।" किसी छात्र ने मुझको ऐसा कहते सुन लिया था और उसने शर्माजी से जाकर इसकी चर्चा कर दी थी और बाद में आकर मुझको भी सूचित कर दिया कि "मैंने आपकी बातें शर्मा जी से कह दी हैं और वे यह सुनकर खूब हँस रहे थे।" उस समय मुझको उस छात्र पर और अपने आप पर बहुत क्रोध आया था। मुझे दुख हुआ था कि मैं सबके सामने क्यों अनाप-सनाप बकती रहती हूँ। भला शर्माजी ने क्या सोचा होगा? इसके बाद जब कभी उनसे मेरा साक्षात्कार होता तो मुझको उनकी आँखों में वात्सल्य की छाया नजर आती। उनकी मन्द मुस्कान से भी मुझको यही लगता कि अभी तक मैं उनकी दृष्टि में एक बच्ची ही हूँ। शायद स्वतंत्र रूप से एक डेरा रख सकने के योग्य भी नहीं! मुझको अच्छा अवसर मिल गया था। मैंने तुरंत कहा—"हाँ, मैंने एक किराए का डेरा ले लिया है। आप चलिये, वहाँ थोड़ी देर विश्राम कीजिएगा।" परन्तु उनके ठहरने का प्रबन्ध प्राचार्या महोदया के डेरे पर पहले से ही हो चुका था। जब वे कॉलेज से प्रस्थान करने लगे तो मैं उनके पीछे-पीछे रिक्शे तक गई। मैंने हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए कहा—"फिर कभी गया आइयेगा तो मेरे यहाँ अवश्य आइयेगा।" उन्होंने हँसकर कहा—"जरूर! जरूर! जरूर आऊँगा।" उस समय क्या मुझे मालूम था कि मैं उनको सदा के लिए विदा कर रही हूँ! ग्यारह दिनों के बाद ही उनका इस नश्वर संसार से महाप्रस्थान हो गया!

✤

गोपालजी 'स्वर्णकिरण'
चिकटोली, आरा

विवेक, त्याग और वात्सल्य के आगार

[*"नलिनजी का नाम जब भी मेरे मस्तिष्क में आता है, तब एक ऐसे अश्वत्थ वृक्ष का चित्र सामने खड़ा हो जाता है, जिसकी डालें, फुनगियाँ और पत्तियाँ तो चारों ओर फैली हुई दिखलाई पड़ती हैं, पर जड़ें कितनी गहराई एवं कितनी दूर तक गई हुई हैं, नहीं मालूम होता।"* 'स्वर्णकिरणजी' की इस सुनहली सूझ ने नलिनजी की निकटता का प्रभावोत्पादक वरदान पाकर अपने मानस पर एक महान् चित्र आँक लिया है।]

आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा के भव्य, आकर्षक एवं गम्भीर व्यक्तित्व का ज्ञान कई वर्ष पहले मेरे लिए कल्पना का विषय था। इस कल्पना को साकार रूप भी मिलेगा इसकी किंचित्मात्र भी आशा नहीं थी। तब मैं बहुत छोटा था। नलिनजी के पूज्य पिता महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा की विद्या-बुद्धि, मेधाशक्ति एवं अप्रतिम वाग्मिता पर मन ही मन आश्चर्य भी प्रकट करता था—इस कारण कि एक व्यक्ति महीने भर की अवधि में चैम्बर्स डिक्शनरी कॉमा, फुलस्टॉप एवं प्रत्येक पर्याय के

साथ याद कर सकता है। पिता के कुछ गुण पुत्र के अन्दर अनायास चले ही आते हैं। नलिनजी को पहले पहल मैंने कब देखा यह ठीक-ठीक याद नहीं है पर इतना याद है कि मैं उनके दर्शनमात्र से ही पर्याप्त प्रभावित हुआ था। उनके नैकट्य का सम्बन्ध सन् १९५५-५६ में हुआ जब मैं पटना विश्वविद्यालय में एम० ए० के एक छात्र के रूप में आया। एक योग्य प्रोफेसर में जो गुण होने चाहिए उन्हें मैंने उनमें भी पाया, ऐसा कहना भी केवल पिष्टपेषण मात्र होगा। मैं इस रूप में उनके व्यक्तित्व को देखने का हामी भी नहीं। एक अद्भुत अभूतपूर्व क्षमता, एक अनुपम अन्तर्शक्ति उनमें विद्यमान् थी, जिसके द्वारा वे आगन्तुकों या शिष्यों की छिपी हुई प्रतिभा को सहज में ही पहचान लेते थे; साथ ही जिस शिष्य को मानने लगते थे उस पर अपना स्नेह बढ़ाते ही जाते थे, कम नहीं करते थे। उनके एक शिष्य के रूप में, कल्पना-जगत् में, तो मैं अपने को कई वर्ष पहले ही सौंप चुका था पर एक वह दिन भी आया जब यथार्थ जगत् में मैं उनका एक प्रिय शिष्य बन गया। यह सन् १९५६-५७ की बात है। ठाकुर देव सिंह विष्ठ गवर्नमेंट कॉलेज नैनीताल (उत्तर प्रदेश) द्वारा अन्तर्महाविद्यालयीय स्तर पर आयोजित एक निबन्ध प्रतियोगिता थी। विषय था—'स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद साहित्यकारों का दायित्व'। प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए एक निबन्ध मैंने भी लिखा था और नलिनजी को अवलोकनार्थ एवं संशोधनार्थ दिया था; वे निबन्ध को लौटाते हुए बोले थे—'गोपालजी, अच्छा है' भेज दीजिए।' संशोधन के रूप में दो-एक स्थान पर उन्होंने दो-एक ऐसे शब्द जोड़ दिये थे जिनसे निबन्ध की गरिमा तो बढ़ ही गई थी, उनके गहन विवेक, सूक्ष्मदर्शिता एवं तीव्र प्रतिभा का भी सहज प्रवेश हो गया था। निबन्ध जब पुरस्कृत हुआ मेरी प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। इसके बाद तो ऐसे अनेक अवसर आये जिनमें मैंने उनका अभूतपूर्व स्नेह और वात्सल्य पाया।

नलिनजी का नाम जब भी मेरे मस्तिष्क में आता है तब एक ऐसे अश्वत्थ वृक्ष का चित्र सामने खड़ा हो जाता है, जिसकी डालें, फुनगियाँ एवं पत्तियाँ तो चारों ओर फैली हुई दिखलाई पड़ती हैं, पर जड़ें कितनी गहरी एवं कितनी दूर तक गई हुई हैं, नहीं मालूम होता। उनकी विद्या-बुद्धि, ज्ञान-गरिमा एवं विवेकशक्ति आश्चर्यजनक थी। गांभीर्य की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक थी। फलतः, मामूली से मामूली विषय को ऐसा महिम बनाकर उपस्थित करते थे कि देखकर विस्मय होता था।

गहन विषय तो उनके सामने पारदर्शी बन जाते थे। एक विषय को बहुत समय तक विचार का केन्द्र-विन्दु बनाकर जब वे बोलते थे तो मुझे कभी-कभी ऐसा भी मालूम पड़ता था—'वाग्देवी सततं यदीय रसना रङ्गस्थले नृत्यति'। वाग्देवी उनकी जिह्वा पर सदैव वर्त्तमान रहती थी। मैं कह नहीं सकता, उनका अध्ययन कितना गहन था। विविध विषयों के उद्धरण जब वे देने लगते थे तो ऐसा मालूम होता था उनकी गति हिन्दीतर भाषाओं में भी पर्याप्त थी। कालक्रम से ज्यों-ज्यों उनके साथ निकटता बढ़ती गयी मैं उनके व्यापक ज्ञान एवं गहन विवेक का परिचय पाता गया।

उस दिन मैंने अपने को सचमुच भाग्यवान समझा था जबकि शोध-कार्य के लिए मैं उनके पास गया था और बहुत देर तक बातचीत हुई थी। बातचीत के क्रम में उन्होंने जो-जो बातें मुझसे कहीं थीं वे उनके सर्वतोमुखी ज्ञान एवं विवेक का परिचय देती हैं। मुझे मालूम न था कि अन्त में वे उस तरह का भी व्यवहार करेंगे जिसकी आशा मैंने कदापि नहीं की थी। उन्हें निर्देशक के रूप में पाकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ। शोध-कार्य के क्रम में वे अपना बहुमूल्य कार्यक्रम स्थगित कर भी मुझसे बहुत देर-देर तक बातचीत करते थे। मैं जब अपने विषय की याद दिलाकर कहता था, मान लीजिए कोई दूसरे सज्जन इस विषय पर शोध-कार्य कर रहे हों तब तो मेरा परिश्रम निष्फल चला जायगा। इस पर वे कहते थे, दूसरे सज्जन के करने से क्या होगा; विषय एक रहने पर भी ज्ञान और विवेक तो उसे अनेक बना देता है, दृष्टिकोण का ही महत्त्व होता है, विषय का नहीं। वे शेक्सपियर का उदाहरण देकर मुझसे कहते, एक शेक्सपियर पर ही कितना शोध-कार्य हुआ है! चर्वित-चर्वण नहीं होना चाहिए। कदाचित् यही कारण है, उन्होंने शोध-कार्य के लिए मुझे एक ऐसा विषय सुझाया जिसमें चर्वित-चर्वण की सम्भावना अपेक्षाकृत बहुत ही कम थी। यह तो मुझे आज मालूम पड़ रहा है कि विवेक-चक्षु से उन्होंने अनागत भविष्य की बात बहुत पहले देख ली थी। विवेक के ही फलस्वरूप वे कभी म्लानमुख नहीं होते थे। चाहे काम कितना भी अधिक क्यों न हो, कठिनाइयाँ कितनी भी ज्यादा क्यों न हों, वे बीच का रास्ता निकाल ही लेते थे। स्वाध्याय उनके जीवन का अंग था, ज्ञान उनकी अभिलषित शक्ति, और विवेक वह पंख, जिसपर चढ़ कर दूर-दूर के दृश्य देख लेना, आवेष्टन से परिचित होना बहुत आसान हो जाता है।

ज्ञान एवं विवेक की अधिकता के कारण वे प्रायः कम बोलते थे लेकिन जो बोलते उसमें उनका पाण्डित्य छिपाये नहीं छिपता था। तौल-तौलकर शब्दों का प्रयोग उनकी अपनी विशेषता थी। नवीनता के सर्वग्राही मोह के कारण कभी-कभी तो ऐसे शब्द भी बोल देते थे कि हम सब श्रोता दंग रह जाते थे। एक बार की एक घटना है। वे आरा में—कला-मण्डल द्वारा आमन्त्रित होकर आये थे। स्नेह एवं श्रद्धावश, बल्कि उत्सुकतावश उनका भाषण सुनने के विचार से मैं भी पहुँचा था यद्यपि मेरे लिए वे कोई नये नहीं थे। भाषण के क्रम में उन्होंने दो-चार जो नये शब्द उपस्थित किये तथा नये दृष्टिकोण से विषय पर आलोक-संपात किया, मुझे अच्छी तरह याद है, श्रोतावृन्द मन्त्र-मुग्ध होकर रह गया था। रास्ते में मेरे एक मित्र पण्डित ने पूछा—"ये ही पण्डित रामावतार शर्मा के लड़के हैं? कैसा विराट् व्यक्तित्व पाया है—समुद्र की तरह गम्भीर और हिमालय की तरह धैर्यवान!"

ज्ञान एवं विवेक की अधिकता ने नलिनजी को आवश्यकता से अधिक त्यागी बना दिया था। अपने को नुकसान पहुँचाकर दूसरों को फायदा पहुँचाना वे शायद ज्यादा अच्छा समझते थे। आगन्तुक उनके यहाँ से निराश होकर नहीं लौटता था, बीमारी की हालत में भी नहीं। उनके सामने मुँह खोलना ही काफी था। जहाँ वे आगन्तुक की स्थिति समझ जाते थे वहाँ उसकी रक्षा एवं कल्याण के लिए प्राणपण से सचेष्ट हो जाते थे। मेरे अनेक मित्रों एवं बन्धुओं का कहना है कि सहायता के मामले में वे सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक भी थे। अपने लिए आये हुए जलपान को वे आगन्तुकों अथवा अतिथियों में भी बाँट देते थे और कहते थे, मैंने जलपान पहले ही कर लिया है। मुझे अनेक बार ऐसा अनुभव हुआ है। एक घटना इधर की बिलकुल ताजी है। हमलोग भारतीय हिन्दी परिषद् के वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) वाले अधिवेशन में गये हुए थे। नलिनजी अस्वस्थ थे। अस्वस्थता की स्थिति में भी मित्रों एवं बन्धुओं के आग्रह को वे टाल नहीं सके थे और अपने ऊपर दुःख उठाकर भी अधिवेशन में भाग लेने गये थे। रास्ते में तो उन्होंने अपने जलपान और भोजन में से मुझे दिया ही, वहाँ पहुँचने पर, एक रात को अपना पूरा भोजन मेरे सामने रख दिया। उनके स्नेह को देखकर मैं बहुत संकोच में था। मैं अपने साथ जो ताला ले गया था वह इतना छोटा था कि मेरे लिए उसका कोई उपयोग नहीं था। नलिनजी के पास बड़ा ताला था। मैंने जरा-सा संकेत किया था—'सर, मेरा

ताला आवश्यकता से अधिक छोटा है !' उन्होंने अपना ताला तुरत दे दिया। यह नहीं देखा, मेरा सन्दूक खुला ही रहेगा ! उस दिन वहाँ का बाजार भी बन्द था। त्याग की ऐसी मूर्त्ति बहुत कम देखने को मिलती है।

वात्सल्यवश जब वे मुझे स्नेह और श्रेय देने लगते थे तो मैं लज्जा और संकोच से गड़-सा जाता था। सुझाव तो वे प्रायः दिया करते थे—गोपालजी, यह काम नहीं हुआ, यह काम ऐसे होना चाहिए, इसे ऐसे करना चाहिए इत्यादि। झल्लाते हुए मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रमा की शीतलता से उनका हृदय निर्मित हुआ था। यही कारण है कि गलती हो जाने पर भी वे विनम्रतापूर्वक समझा देते थे, कहते थे—'इसे इस प्रकार सोच लेना चाहिए था।' सोच-विचार में वे विवेक-बुद्धि से अधिक काम लेते थे। गुजरात-यात्रा में अनेक अवसरों पर उनके असीम वात्सल्य-स्नेह की झलक दिखलाई पड़ी। मथुरा से जब हमलोग बड़ौदे की ओर चले, जलपान का समय हो गया और जब मैंने जलपान नहीं किया और कहा—'सर, बिना स्नान-पूजा के मैं कुछ ले नहीं सकता।' तो बोले—'गोपालजी, आपने बहुत कठोर व्रत ले लिया है, ऐसा करने से तो स्वास्थ्य और भी गिर जाएगा !' इस समय उनका वात्सल्य-स्नेह तीव्र रूप में दिखलाई पड़ा। वे कदाचित् इसलिए बोले भी, 'बीमारी के समय स्नान कैसे सम्भव है ?' मैंने उन्हें बतलाया, 'बीमारी जब तक उग्र रूप में नहीं हो तबतक स्नान में मैं बाधा नहीं समझता।' वे बोले—"यात्रा में, जीवन के सामान्य नियम-धर्म चलाए जाएँ, यह बहुत कठिन है।" बहुत देर तक मुझे वे समझाते रहे।

वल्लभ विद्यानगर के भारतीय हिन्दी-परिषद् वाले अधिवेशन में नलिनजी को हिन्दी आलोचना के नये क्षितिज एवं मान-मूल्य पर कुछ कहना था। अधिवेशन में चलायी जानेवाली निबन्ध-गोष्ठी के वे सभापति थे। सभापति के अभिभाषण की मुद्रित प्रतियाँ उनके पास विद्यमान थीं, फिर भी वे कुछ नया कहने को उत्सुक थे। यही कारण है कि अस्वस्थ होने के बावजूद एक प्रकार से चिन्तित थे। पहले वाले कार्यक्रम में वे नहीं जा सके। एक लड़के द्वारा उन्होंने मुझे बुलवाया, बगल में बिठाया और पूछा, 'गोपालजी, क्या-क्या हुआ ?' मैंने संक्षेप में जो कुछ हुआ था, बतलाया। उन्होंने बहुत देर तक बातचीत की और बाद में अपने निमित्त लाये हुए फल में से थोड़ा-सा दिया और कागज के दो-एक टुकड़ों पर लिखे गये अपने विचार-बिन्दु दिखलाये, जिनको पल्लवितरूप में, होनेवाली गोष्ठी में उन्हें रखना था। किसी प्रकार का दुराव-छिपाव नहीं।

मैंने बातचीत और कागज के टुकड़ों पर लिखे गये विचार-विन्दु को देखकर आश्चर्य प्रकट किया—एक ही साथ विवेक, त्याग एवं वात्सल्य की त्रिवेणी ! अधिवेशन में अपने नये अछूते विचारों के द्वारा श्रोताओं पर जो प्रभाव डाला वह तो अकथनीय है ही ! मेरी अगल-बगल जो बन्धु बैठे थे वे कहने लगे—"विचित्र मस्तिष्क है ! विलक्षण स्मरण शक्ति है !!"

नलिनजी में अभिमान नामक कोई चीज नहीं थी। वे 'अणोरणीयां' को 'महतोमहीयान्' समझने के आग्रही थे, रेणु की सत्ता में मेरु की महत्ता देखने के कायल। लगता है, वे अपने को लघु से लघु रूप में प्रस्तु करने में ही अपना गौरव समझते थे। मनस्विता, तेजस्विता एवं विचक्षणता उनके जीवन की विशेषता थी। मुझे वे अपने लड़के की तरह मानते थे। एक घटना मुझे भुलाये नहीं भूलती। उनके एक आवश्यक कार्य से मुझे आगरे की ओर जाना था। इसी समय मेरे सामने एक बाधा आयी। मेरी मातृ-तुल्या मामीजी बीमार पड़ गईं और बीमारी ने कुछ ऐसा भीषण रूप धारण कर लिया कि बचना मुश्किल। मैंने नलिनजी को एक पत्र के द्वारा सूचित किया। उन्होंने फौरन जवाब दिया, मामीजी को मृत्यु-शय्या पर छोड़कर बाहर जाना ठीक नहीं। देखते-देखते वे दिवंगता हो गईं ! जब नलिनजी को मालूम हुआ, तीन-चार पंक्तियां का एक पत्र लिफाफे में भर कर मेरे पास भेजा—"कल्याणीयेषु, शोक में समव्यथी समझें। आप मनस्वी हैं। आगत विपत्तियों का सामना करना, कर्त्तव्य है। फलाफल पर क्या अधिकार !" पत्र पढ़कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। इतनी चुस्त भाषा में उन्होंने मुझे धैर्य प्रदान किया था कि मैं क्या बतलाऊँ ? उनकी विद्वत्ता, कान्तदर्शिता एवं सूक्ष्म विवेक की प्रशंसा मन ही मन करके रह गया।

मैं कह नहीं सकता नलिनजी कितनी बार अपने साथ रिक्शे पर बिठाकर मुझे ले गये। सम्मेलन-भवन में कोई मीटिंग रहती और मैं संयोगवश यदि उनके सामने चला आता तो मुझे बिना ले गये मानते ही नहीं थे। कोई बाहर के विद्वान् आते उसकी भी सूचना मुझे दे देते और कहते—'गोपालजी, ये आदमी आये हैं, इनका भाषण इस समय होगा।' मैं जब भी जाता उनको पहले से ही उपस्थित देखता। बाहर के विद्वानों का स्वागत करना वे अच्छी तरह जानते थे।

✣

शर्माजी के साथ कुछ क्षण

गोविन्द झा

६४-२४४३, गांधी नगर

बम्बई—५१

जुहू-तट की अजल बालुका-राशि पर लेटकर लहरों से अपना चरण-स्पर्श कराते हुए नलिनजी ने झा जी से किसी दिन कहा था—"अभी सच पूछिए तो जाने की इच्छा नहीं है, लेकिन व्यस्तता इतनी है कि रुक भी नहीं सकता। और, दूसरी बार के लिए क्या बताऊँ? क्या भरोसा है इस जीवन का!"

* * *

उस दिन जैसे ही 'आर्यावर्त' मैंने खोला कि हृदय सन्न हो उठा। आचार्य नलिन-विलोचन शर्मा का देहावसान! इस खबर को कई बार मैंने पढ़ा। पर मन जैसे इसे मानने

के लिए तैयार ही नहीं था। न जाने क्यों? वह दिन, वे क्षण, एक-एक कर स्मृति में मँडराने लगे।

कुछ दिन पहले की बात है। लोकगीत सम्मेलन के सिलसिले में वे बम्बई आये थे। दरभंगा हाउस में ठहरे थे और मैं भी वहीं रहता था। नाम तो मैंने सुना था, पर साक्षात्कार न हो पाया था। सो नाम सुनते ही मैं उनके पास गया। विशाल शरीर, प्रशस्त ललाट, सहास आकृति और उस सबको एक अजीब गरिमा प्रदान कर रहा था उनका कुरता। इन सबसे उनके विशाल व्यक्तित्व, भव्य प्रतिभा का ज्ञान सहज ही किसी को हो सकता था। मैंने उन्हें नमस्कार किया। चाय-पान के बाद वे तैयार हो गये। उन्होंने कहा—'झा जी, चलियेगा लोकगीत सम्मेलन में?' और मैं भी उनके साथ हो लिया। उस दिन उनका भाषण भी था। उन्होंने अपना भाषण दिया। बोलते समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि शब्द आप-से-आप उनकी जीभ पर बैठते चले आ रहे हैं। न हाथ का हिलना, न कोई संकेत। अजीब संजीदगी से, बहुत ही गंभीर रूप में उन्होंने भाषण दिया। फिर सम्मेलन के खत्म होते ही उन्होंने मुझसे जुहू चलने के लिए कहा। मैंने स्वीकार कर लिया। करीब उस समय ६ बज रहे थे। मैं उनके साथ चलने लगा। चर्चगेट पर आकर मैं टिकट लेने के लिए चला। उन्होंने कहा—"पैसे तो लेते जाइये।"

प्रतिवाद करते हुए मैंने कहा—"यह कैसे हो सकता है? कुछ भी तो सेवा करने का अवसर दीजिये मुझे।"

"देखिये झा जी, सेवा पैसे से थोड़े की जाती है! आप समय का मूल्य कम समझते हैं? आपका मैंने इतना अधिक समय लिया है, क्या यह कम है? अगर सेवा ही करना चाहते हैं तो मुझे बंबई घुमा दीजिये। दोनों रूप में मैं नहीं स्वीकार करूँगा।" एक महान् साहित्यकार की इस विनम्रता के आगे मैं फिर आग्रह करने का दुस्साहस न कर सका। वहाँ से होते हुए हम लोग जुहू-तट पर पहुँचे। उस विस्तृत सैकत-राशि पर थोड़ी देर तक हम दोनों टहलते रहे। फिर एकाएक उन्होंने कहा—"बैठिये अब! थक गया हूँ।" इतना कह कर वे तट से दूर बैठ गये। मैं भी बैठ गया। थोड़ी देर के बाद उन्होंने कहा—"झा जी, बम्बई में पुकारने की एक अजीब शैली है। सी-सी....की सिसकारी देकर लोगों को बुलाने का खूब रिवाज है। तारीफ तो यह है कि इस अनिश्चयवाचक सिसकारी से काम भी चल जाता है। देखिये, जरा मैं भी इस चने वाले को बुलाता हूँ सिसकारी देकर।"

और उनकी सिसकारी देते ही चनावाला मुड़ आया। "चना चाहिये ?"—उसने नजदीक आकर पूछा। थोड़ा चना लेकर हम लोग बड़ी देर तक खाते रहे। रात बढ़ती जा रही थी। मैं घर जाने की बात सोच रहा था कि उन्होंने कहा—"झा जी, क्या ही रमणीय दृश्य है! कितना मनोरम लगता है—इस अजल बालू-राशि पर। एक विलक्षण संतोष होता है मन को, एक अजीब तृप्ति होती है।"

"तो बैठिये थोड़ी देर और"—मैंने कहा।

"थोड़ी देर क्या, मैं तो तब तक यहाँ बैठूँगा जब तक समुद्र की लहर मेरे पाँव न छू ले!" अजीब लगा एक महान् साहित्यकार का हठीला बाल-हृदय। और जब लहर उनके चरणों को छू रही थी उस समय रात के लगभग दस बज रहे थे।

बम्बई से लौटते समय मैंने उनसे कहा—"फिर एक बार यहाँ जरूर आइए।"

उन्होंने कहा—"अभी सचमुच पूछिये तो जाने की इच्छा नहीं है, लेकिन व्यस्तता इतनी है कि रुक भी नहीं सकता। और, दूसरी बार के लिये क्या बताऊँ···? क्या भरोसा है इस जीवन का!"

उस महान् साहित्यकार की भविष्यवाणी एकदम सच निकली और वे पुनः बम्बई न लौट सके।

"आज हमारी चेतना पुराणों से निर्धारित नहीं है, बल्कि विज्ञान और दर्शन से है। इसलिए प्रबन्ध के विस्तार के साथ कवि को कुछ कहना हो तो उसके लिए पुराण का आख्यान नहीं, बल्कि जीवन ही आधार बन सकता है।"

'साहित्य'—जनवरी, १९५५ —न० वि० श०

✣

स्वर्गीय श्री नलिन विलोचन शर्मा

छविनाथ पाण्डेय

सर्वोदय प्रेस, आर्यकुमार रोड, पटना

[आदरणीय अग्रज और वयोवृद्ध साहित्यकार के रूप में नलिनजी को पण्डित छविनाथजी ने यूँ पाया और यूँ खोया—"*नलिनजी की मृत्यु से मुझे गहरा धक्का लगा। ऐसा मालूम हुआ कि मेरी जिन्दगी भर की कमाई लुट गई! मेरी सबसे प्रिय वस्तु मुझसे छिन गई!*"]

ता० १२ सितम्बर मंगलवार की बात है। मैं अपने टेबुल पर झुका कुछ पढ़ रहा था कि टेलीफोन की घंटी खनखना उठी। मैंने रिसीवर उठाकर पूछा—'कौन है?' उधर से बी० एन० कालेज के प्रिंसिपल डॉक्टर दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी बोल रहे थे—'नलिनजी के बारे में आपने कुछ सुना है?' मैंने कहा—'सुनना क्या, अभी तो रात ही ६ बजे तक उनके साथ सम्मेलन में काम किया है। (ता० १० को सात बजे शाम को सम्मेलन की कार्य-समिति की बैठक थी। सम्मेलन के अगले अधिवेशन के लिये सभापतियों के लि जो नाम आये थे उनकी गणना थी) डॉ० विद्यार्थी ने कहा—'मैं कल की बात नहीं कह रहा हूँ,

अभी-अभी की बात पूछ रहा हूँ।' तब तो माथा ठनका। मैंने पूछा—'बात क्या है?' उन्होंने कहा"—समाचार बुरा है। अभी-अभी रजिस्ट्रार (पटना विश्वविद्यालय) का फोन आया है कि हृदय की गति रुक जाने से नलिनजी की मृत्यु हो गई। मैंने रजिस्ट्रार से पूछा कि आपने सही-सही पता लगा लिया है? (आजकल पटना में कुछ लोग ऐसे भी पैदा हो गये हैं जो खामखाह लोगों को परेशान करने के लिए झूठ-मूठ इस तरह की खबरें तार से भेज देते हैं या फोन कर देते हैं) इस पर रजिस्ट्रार ने कहा कि आप उनके घर टेलीफोन कर पता लगा लीजिये। मैं उनके घर फोन कैसे करूँ? आप कहीं से पता लगाकर मुझे भी सूचित कीजिये। भगवान करे, यह समाचार गलत हो।" मैंने बारी-बारी से नलिनजी के सबसे घनिष्ट मित्र श्री उमानाथ, श्री व्रजशंकर वर्मा और उसके बाद राष्ट्रभाषा-परिषद् तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में फोन किया, लेकिन कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला। उधर घंटी बजती रही लेकिन कोई उठानेवाला नहीं। तब मन में खटका हुआ और कपड़ा पहनकर बाहर निकल रहा था कि श्री दामोदर मिश्र का टेलीफोन यह मनहूस और हृदय-विदारक समाचार लेकर मिला।

जीवन और मरण का प्रश्न इतना रहस्यमय है कि मैं उस ओर से सर्वथा निरपेक्ष रहता हूँ। मैं अकाल मृत्यु नहीं मानता। मेरा यही विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने समय पर ही जन्म लेता और मरता है। जिस विधि से जिसको मरना लिखा है उस विधि से वह मरेगा ही। उसे कोई टाल नहीं सकता। श्रीमद्भागवत में एक कथा है—"मत्स्यगन्धा के पिता धीवरराज मरना नहीं चाहते थे। उन्होंने व्यासदेव को पकड़ा कि तुम मेरी आयु बढ़ा दो। व्यासदेव उन्हें लेकर यमराज के पास गये। यमराज ने कहा—'यह मेरे वश की बात नहीं है, यह काल के हाथ में है।' तीनों व्यक्ति काल के पास गये। काल ने कहा—'मैं कुछ नहीं कर सकता। आयु निर्धारित करती है वय माता।' चारों वय माता के यहाँ गये। वय माता ने कहा—'मैंने तो ऐसा उपाय कर दिया था कि इनकी मृत्यु ही न हो। मैंने लिख दिया था कि धीवरराज तभी मरेंगे जब धीवरराज, यम, काल और मैं (वय माता) चारों कहीं एकत्रित हों। यह होना सम्भव नहीं था, लेकिन स्वयं धीवरराज ने सबको एकत्रित कर दिया अर्थात् अपनी मृत्यु बुला ली।' और धीवरराज उसी स्थान पर उसी क्षण मर गये।"

नलिनजी की मृत्यु से मुझे गहरा धक्का लगा। ऐसा मालूम हुआ कि मेरी जिन्दगी भर की कमाई अचानक लुट गई। मेरी सबसे प्रिय वस्तु मुझसे छिन गई।

हम साहित्यिकों का एक अलग परिवार है और उस परिवार के नलिनजी सबसे मूल्यवान सम्पत्ति थे। उस निधि के सहसा लुट जाने पर किस साहित्यिक को गहरा धक्का

नहीं लगा। नलिनजी साहित्य के धुरन्धर विद्वान ही नहीं थे, साथ ही धीर, गंभीर और शान्त स्वभाव के थे। उनकी रग-रग में साहित्य समाहित था। साहित्य-चर्चा में ही उन्हें रस मिलता था। मृत्यु से ४-५ दिन पहले की बात है। मैं घूमता-घामता रात के ८ बजे के करीब डॉ० विद्यार्थी के यहाँ पहुँचा। देखा कि नलिनजी विराजमान हैं और साहित्य की चर्चा छिड़ी हुई है। प्रायः साढ़े नौ बजे तक अनेक विषयों पर वार्त्तालाप होता रहा। धीर और गम्भीर वे इतने थे कि साधारण वार्त्तालाप में वे सदा मितभाषी थे मानो बोलने की अपेक्षा वे सुनना अधिक पसन्द करते थे। क्रोध को तो उन्होंने पी डाला था। उत्तेजना में भी उनके चेहरे पर शिकन आते नहीं देखा गया। बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वे प्रधान मंत्री थे। सम्मेलन की बैठकों में मैंने ही अनेक बार उनकी कटु-आलोचना की। वे भी उसी भाषा में उत्तर दे सकते थे लेकिन वे सदा मुस्कुराकर रह गये। मेरा आदर तो वे बड़े भाई की तरह करते थे। उनके स्वर्गीय पिता के शिष्य होने के नाते और वयोवृद्ध होने के नाते मैं उनका बड़ा भाई था। लेकिन उनका यह सौम्य-व्यवहार अपने छात्रों के प्रति भी उसी तरह होता था।

इनके कतिपय कृपालु प्रशंसक तो रात के बारह-एक बजे तक इन्हें घेरे रहते थे। वे भली-भाँति जानते थे कि नलिनजी दो घंटा पढ़े बिना सोएँगे नहीं, तो भी वे उठने का नाम नहीं लेते थे और नलिनजी मारे शील के कुछ कहते नहीं थे। चाहे उन कृपालु मित्रों की कृपा से उन्हें रात के चार बजे तक ही क्यों न जागना पड़े। सुना है कि उनकी मृत्यु से पहलेवाली रात को भी उनके कुछ कृपालु प्रशंसक उन्हें प्रायः रात भर जगाते रहे और परिणामस्वरूप सबेरे ही उनकी तबीयत खराब हो गई।

लेकिन सिद्धान्त के प्रश्न पर नलिनजी चट्टान की तरह दृढ़ और अटल रहते थे। वहाँ वे नवना या मुड़ना नहीं जानते थे। उन्हें जब-जब प्रधान मंत्री के पद से त्यागपत्र देना पड़ा तब-तब सिद्धान्त का ही प्रश्न उपस्थित हुआ था। छोटी बातों में भी वे सिद्धान्त के प्रश्न पर अटल रहते थे। एक अत्यन्त छोटी घटना का उल्लेख मैं कर देना चाहता हूँ।

अयोध्या से एक रामायणी कथावाचक आते थे। रामायण की उनकी कथा पटने में बड़ी लोक-प्रिय थी। श्रोताओं की इतनी भीड़ होती थी कि सम्मेलन के समान विस्तृत स्थान में ही कथा कराई जा सकती थी। कई साल तक सम्मेलन में बराबर कथा होती रही। मई सन् १९६० की बात है। कथावाचकजी आनेवाले थे। प्रबन्धकों ने मुझसे स्थान ठीक कर देने के लिये कहा। मैंने नलिनजी को फोन किया कि कथा मैदान में होगी। सम्मेलन को केवल स्थान और रोशनी देना होगा। रात ७ बजे से ८ बजे तक एक घंटा कथा होगी। नलिनजी ने बिजली के व्यय की चर्चा की तो मैंने कहा कि करीब २० दिन

कथा होगी, मुश्किल से ३-४ रुपये की बिजली खर्च होगी। इतनी छोटी रकम के लिए क्या प्रबन्धकों से कहा जाय! लेकिन व्यय का आग्रह नलिनजी की ओर से बना रहा। मैंने झुँझलाकर कहा—'उतनी रकम मैं अपनी जेब से दे दूँगा।' इसपर उन्होंने उत्तर दिया—'मैं कैसे कहूँ लेकिन उतनी रकम का प्रबन्ध हो जाता तो अच्छा होता।'

उनकी अध्ययनशीलता विख्यात थी। अपने पूज्य पिता की तरह ही वे रात के दो-दो बजे तक पढ़ते रहते थे। ठीक यही हालत उनके पिताजी की थी। एक बार उनके पिताजी के साथ मुझे कलकत्ते तक की यात्रा करनी पड़ी। संयोग की बात कि उनकी और मेरी सीट आमने-सामने थी। एक बेंच पर वे थे और एक पर मैं। वे पढ़ रहे थे और मैं बैठा-बैठा उनके सोने की प्रतीक्षा कर रहा था। रात को एक बज गये। न उनका पढ़ना समाप्त हुआ और न मैं टांग पसार कर सोया। अन्त में उन्होंने मुझसे कहा—'तुम सो जाओ, मेरी प्रतीक्षा कहाँ तक करोगे? मुझे तो यह ग्रन्थ समाप्त करना है।'

नलिनजी ने अपने बारे में कहा था—'मैं ऐसे परिवार में पैदा हुआ हूँ जिसमें अल्पायु पैदा होते हैं।' उस समय तो इस पर ध्यान नहीं दिया गया लेकिन उनकी मृत्यु के बाद मालूम हुआ कि महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा का स्वर्गवास भी ५२ साल की उम्र में ही हुआ था लेकिन नलिनजी वहाँ तक भी नहीं पहुँच सके। ४६ वर्ष की आयु में ही चल पड़े। उनके सम्बन्ध में श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है—

"उनके आकस्मिक निधन से जो हिन्दी-जगत को क्षति हुई है उसकी पूर्ति सर्वथा असंभव है। हिन्दी को उन्होंने जो दिया वह अतुलनीय एवं अमूल्य निधि है। वे बिहार के ही नहीं, बल्कि समूचे राष्ट्र के गौरवों में से एक थे।······उनकी सबसे बड़ी देन, जिसके बिना हिन्दी-साहित्य का एक पक्ष ही अधूरा रह जाता, वह है कविता-संकलन की परंपरा। इस महान् कार्य के द्वारा उन्होंने हिन्दी की कितनी सेवा की, यह बतलाने की जरूरत नहीं।···यही नहीं, उन्होंने ही सर्वप्रथम 'इतिहास-दर्शन' नामक नये विषय का सूत्रपात करके हिन्दी-संसार में इतिहास-ज्ञान को नयी दिशा दी। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर अपने महान् कार्यों के रूप में जो कुछ दे गये हैं, वे कभी भी उनको हमसे दूर न जाने देंगे।"

नलिनजी को ता० १२ सितम्बर को मरना ही था, अगर ऐसा न होता तो उनके परमप्रिय मित्र और उनके ही शब्दों में "जननान्तर बन्धु" श्री उमानाथ को उनकी बीमारी की भनक भी मिल गई होती तो उतने कम समय में भी वह आकाश-पाताल एक कर डालते, परिणाम चाहे जो भी होता। यह कसक दिल से नहीं मिटती और रह-रह कर यह दिल को कुरेदती रहती है कि उनकी पूरी चिकित्सा नहीं हो सकी।

उनके श्राद्ध के दिन श्राद्धकर्म सम्पन्न होने पर लोक-परम्परा के अनुसार जब मैं उनके एकमात्र पुत्र चिरंजीव 'राजीव' को आशीर्वाद देने गया तो हृदय विदीर्ण हो उठा और मन में सहसा यह भाव उठा कि उचित तो यह होता कि इस तरह नलिनजी मेरे पुत्र को आशीर्वाद देते लेकिन विधि का कैसा उलटा विधान कि मैं उनके पुत्र को आशीर्वाद दे रहा हूँ।

अब तो दयामय से यही प्रार्थना है कि वे चिरंजीव "राजीव" को दीर्घायु बनावें ताकि वह अपने स्वर्गीय पिता के यश की अभिवृद्धि करे जिस तरह उसके पिता ने अपने पिता के गौरव को बढ़ाया था।

✣

"पाठकों की रुचि का प्रतिमान ऊँचा होगा तो कवियों की रचनाएँ भी उच्च स्तर की होंगी।"

'कविता'—प्रथम अंक, १६५४ —*न० वि० श०*

✣

जगदीश चन्द्र माथुर

संयुक्त सचिव, सूचना तथा प्रसार विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली

जो स्वयं एक मौलिक रचना थे

[विन्दु में सिन्धु-सा सूत्र देकर माथुर साहब ने जो निष्कर्ष निकाला है वह कितना सस्नेह और निस्सन्देह है !—"...*वे जितने दिन भी रहे उनका व्यक्तित्व एक मौलिक रचना के तुल्य ही प्रेरणादायक और रससिक्त करनेवाला रहा। ऐसी जीवन-कथा अन्यत्र मिल न पायेगी।*"]

नलिनजी की रचनायें तो हिन्दी-साहित्य की निधि हैं ही किन्तु शायद इससे भी बड़ी निधि उनका साहित्यिक व्यक्तित्व था। जॉन्सन को लोग याद करते हैं, केवल उनके काव्य और उनकी डिक्शनरी के कारण ही नहीं, बल्कि उस वातावरण के कारण जो उनके प्रतिभा-पुंज से जन्मा, ऐसा वातावरण जो उनकी पार्थिव देह मिट जाने पर भी अंग्रेजी-साहित्य में स्थायी बना रहा। शायद शारीरिक साम्य के अतिरिक्त नलिन विलोचन शर्मा और जॉन्सन में किसी प्रकार की समानता नहीं थी। जॉन्सन परम्परा के पोषक थे, नलिन-

विलोचन शर्मा उसके प्रति विद्रोही। जॉन्सन कल्पना को खिलवाड़ समझते थे, किन्तु नलिन विलोचन कल्पना के गगन में खो जानेवाले खग थे। जॉन्सन चर्चा और वाणी द्वारा अपने चारों ओर दन्तकथाओं और किंवदंतियों का रंगमहल खड़ा कर सके, नलिन विलोचन मौन, विनय और शालीनता की साकार मूर्ति बने रहे।

फिर भी शायद जॉन्सन की भाँति ही नलिन विलोचन शर्मा हिन्दी-साहित्य में एक फोर्स या शक्ति के रूप में याद किये जायेंगे। वह स्फुलिंग जो अनेक दीपकों को ताप और ज्वाला देता है, स्वयं निष्प्राण हो जाने पर भी अमर बन जाता है। आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी को 'होम ऑफ लौस्ट कॉज़ेज' यानी 'पराजित आंदोलनों का आसरा' कहा जाता है। नलिनजी उदीयमान अथवा उपेक्षित आंदोलनों के स्वाभाविक उन्नायक थे। नये-से-नये विद्रोह को सामर्थ्य देने में उनको कोई संकोच नहीं होता था। इसीलिए उनसे प्रेरणा पानेवालों की तादाद बहुत बड़ी है। जो युवक कवि उनसे निजी तौर से परिचित भी न थे, उनके प्रति अपनापा महसूस करते थे।

बात यह थी कि नयी पीढ़ी के साहित्यकारों को नलिनजी वह वज़न दे देते थे जो प्रायः इस पीढ़ी को उपलब्ध नहीं है। इसका मूल कारण था नलिनजी का पाण्डित्य और गरिमा। युवक कवियों और साहित्यकारों से जो आजकल शिकायत है, गहराई की कमी, वह बहुत कुछ सही है। इसलिए यद्यपि प्रतिभा की उनमें कमी नहीं तथापि अपने काफ़ले को आगे बढ़ाने के लिए आक्रोश और तनाव का ही सहारा वे लोग लेते हैं। अकेले नलिनजी ही प्रयोगशीलता की गति को पाण्डित्य और अध्ययन का वह पाथेय दे सके जिसके बल पर यह अभियान सकुशल आगे बढ़ सकता था। नलिनजी ने ही नवीन आंदोलनों को सिद्धान्तों की बुनियाद दी। परम्परा के विद्रोही होते हुए भी नयी परम्परा का मार्ग प्रशस्त किया।

शायद अध्ययन और मनन की गहराई के ही कारण नलिनजी विद्रोह के अगुआ होते हुए भी कभी भी खड़गहस्त नहीं जान पड़ते थे। उनकी मिलनसारी और शान्त स्वभाव ही उनके अस्त्र थे जिनके वार उग्रतम परम्परावादी भी सहन नहीं कर पाते थे। विशेषतः नये वादों के समर्थक और उन्नायक होते हुए भी नलिनजी को किसी प्रकार के वर्ग में सम्मिलित नहीं किया जा सकता था। प्राचीन और आधुनिक साहित्य दोनों ही का गंभीर अध्ययन उन्होंने किया था और इसलिए उनके विचारों में केवल चमत्कार ही नहीं था, केवल झकझोरने की ही शक्ति नहीं थी, बल्कि स्थायी मूल्यांकनों का विवेचन भी।

अनेक प्रतिभावान व्यक्तियों की भाँति नलिनजी मनमौजी जीव थे। मुझसे अक्सर कहा गया कि उन्हें कोई काम सौंप देने के बाद कुछ दिन इतमीनान से बैठ जाना चाहिए,

क्योंकि उसे पूरा तो वे जभी करेंगे जब मौज आयगी। सन् ५३ में मैंने 'बिहार थियेटर' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका 'बिहार संगीत-नृत्य-नाट्य-परिषद्' की ओर से प्रकाशित करनी प्रारम्भ कर दी। बड़ी मुश्किल से लेख एवं रचनायें मिलती थीं। जर्मन कवि गेटे की 'फास्ट' नामक कृति के प्रारम्भ में एक प्रवेशक में गेटे ने जर्मन रंगमंच और दर्शकों की प्रवृत्तियों का विशद विश्लेषण किया है। मैं चाहता था कि उसका हिन्दी रूपान्तर 'बिहार थियेटर' में प्रकाशित कर सकूँ। अंग्रेजी अनुवाद की प्रतिलिपि मेरे पास थी, किन्तु हिन्दी रूपांतर करना सहज नहीं था। नलिनजी से मैंने बातचीत की और कहा कि गद्य ही में सही यदि वे इस प्रवेशक का अनुवाद जल्दी ही मुझे दे दें तो 'बिहार थियेटर' उसे तीसरे अंक में दे सकेगा। अनुरोध करते समय मेरे मन में स्वयं ही यह खटका था कि तीसरे अंक में तो वह रूपान्तर प्रकाशित होने से रहा। यदि चौथे अंक के लिए भी मिल जाय तो गनीमत है। यह संशय होते हुए भी इतना आभास मुझे नलिनजी से बात करते समय हुआ कि वे मेरे प्रति विशेष स्नेह और सौहार्द का भाव रखते हैं। यों दूर से मेरा और उनका सरकारी कर्मचारी होने के नाते भी एक सम्बन्ध था। किन्तु उस सम्बन्ध की छाया हमलोगों पर नहीं पड़ी। बहुत निकट मैं उनके कभी नहीं आया, किंतु फिर भी मेरे प्रति उनका सद्भाव इतना खरा और गहरा था जितना शायद अपने अंतरंग बन्धुओं के प्रति भी न रहा हो।

कुछ दिनों बाद नलिनजी मेरे पास आये। हाथ में कागज थे। कुछ झिझक के साथ बोले—'माथुर साहब, रूपांतर तो मैंने तैयार कर लिया है।' कागज खोलने पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। न सिर्फ रूपांतर तैयार हो गया था बल्कि वह गद्य में नहीं, पद्य में था और पद्य भी तुकान्त, जिस तरह गेटे ने स्वयं प्रवेशक लिखा था। 'बिहार थियेटर' के तीसरे अंक में "रंगमंच और दर्शक समाज" शीर्षक से यह प्रकाशित हुआ। आज भी जब उसे पढ़ता हूँ तो नलिनजी की प्रतिभा आप ही आप हावी हो जाती है।

नलिनजी के देहावसान के बाद ही मुझे मालूम हुआ कि उनकी आयु केवल ४६ वर्ष की थी। हिन्दी-साहित्य को उनसे बहुत कुछ मिलना था। मुझे मालूम नहीं कि किस प्रकार की, और कितनी रचनाओं की योजना उन्होंने बना रखी थी। किन्तु जितने दिन भी वे रहे उनका व्यक्तित्व एक मौलिक रचना के तुल्य ही प्रेरणादायक और रससिक्त करनेवाला रहा। ऐसी जीवन-कथा अन्यत्र मिल न पायेगी।

✠

थे
नहीं,
हैं

जगदीश नारायण चौबे

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, पटना कॉलेज, पटना

[गुरु-शिष्य के आधुनिक युग में, योग्य जँचनेवाली यह आस्था, उस अदृश्य आचार्यत्व के विषय में किस धारणा की साक्षी बन रही है ? *"जिसने देखा उसे भी जीत लिया ! जिसने सुना, उसे भी जीत लिया ! विचारों में साफ ! पढ़ाने में सफल !! बोलने में शुद्ध !!! और, ये सभी गुण उनके छात्रों को विस्मृत मंगलमय भविष्य की तरह मिले। जो भी उनका छात्र बना अपने को सौभाग्यशाली माना।"*]

☼ ☼ ☼

१९५३ ई० में मैंने आई० ए० में, बी० एन० कॉलेज में, नाम लिखाया था। कॉलेज का विद्यार्थी था, साहित्य की ओर विशेष रुझान और साहित्यकारों को देखने

की लालसा भी। जिसका नाम बार-बार सुनने में आता है, उसे सशरीर देख लेने पर मनुष्य को बहुत बड़ी तृप्ति मिलती है। उससे बातचीत कर लेने में सबकुछ मिल जाता है और उसके साथ उठने-बैठने पर तो जीवन की सार्थकता ही सिद्ध हो जाती है। सन् ५३-५४ में नाम सुनता था, देखने की लालसा थी। सन् ५५ से ५६ तक उनका छात्र था। बातचीत होती थी। और, और भी निकट आने का मन करता था।

सन् ६० में वह भी इच्छा पूरी हुई। उनका सहयोगी बना। साथ उठा, बैठा। लेकिन, उनके एकदम समीप आने की मनोकामना और भी उद्बुद्ध हो गई।

सन् ६१ में मेरे शोध-प्रबन्ध के वे ही निर्देशक बने। मैं और सन्निकट आया लेकिन……

× × ×

आजतक यह रहस्य समझ में नहीं आया कि उनमें ऐसी कौन-सी चौकोर शक्ति थी, जो कक्षाओं को नियंत्रित रखती थी, विद्यार्थियों को संयत रखती थी, सहकर्मियों को संतुष्ट रखती थी, साहित्य को मार्यादित रखती थी और साहित्यकारों को संतुलित रखती थी। एक व्यक्ति, इतने काम और सबों में शृंखला, सबों में सौजन्य, सबों में शान्ति, सबों में सामीप्य, सबों में सफलता! वह कौन सी ऐसी ताकत थी उनमें, जो सबों को खींच लेती थी, सबों को झुका देती थी और सबों पर छा जाती थी!

वर्गों में नलिनजी का एक भिन्न रूप था, गंभीर और विद्वत्तापूर्ण रूप। ऑनर्स का वर्ग हो या एम० ए० का। गोदान हो या काव्य-शास्त्र या भाषा-विज्ञान—सबों में पाण्डित्य, विद्वत्ता और गंभीरता। कक्षाओं में शान्ति, विद्यार्थियों में आस्था।

नलिनजी वर्ग की पवित्रता और शालीनता के प्रहरी थे। किसी भी तरह का व्यतिक्रम, वर्ग के आचरण में, वे नहीं बर्दास्त कर सकते थे। और यह उनके व्यक्तित्व का ही प्रभाव था कि बगैर क्रोध या अधिकार-प्रदर्शन के वे सभी कक्षाओं को वशीभूत कर लेते थे। निस्संदेह, यह उनकी विद्वत्ता का ही आशीर्वाद था कि वे विद्यार्थियों को नतमस्तक कर देते थे और इसमें भी कोई शक नहीं कि नलिनजी को जीत लेने की विलक्षण क्षमता प्राप्त थी।

जिसने देखा, उसे भी जीत लिया। जिसने सुना, उसे भी जीत लिया। विचारों में साफ। पढ़ाने में सफल। बोलने में शुद्ध। और ये सभी गुण उनके छात्रों को विस्तृत मंगलमय भविष्य की तरह मिले। जो भी उनका छात्र बना, अपने को सौभाग्यशाली माना।

वे मेरे गुरु थे, मैं उनका सौभाग्यशाली शिष्य।

विभागाध्यक्ष के कमरे में, नलिनजी का एक दूसरा ही रूप था—अध्यक्षवाला नहीं ; मित्रवाला, वरीय सहयोगीवाला रूप। सबों से बातचीत, सब विषय पर बातचीत, सब समय बातचीत। लेकिन काफी चुस्त, काफी संक्षिप्त, काफी संयत। नलिनजी में एक बात मैंने बराबर देखी—वे सुनते अधिक थे, कहते कम थे। लेकिन कम में ही बहुत कह देने की सिद्धि भी उन्हें प्राप्त थी।

स्वाभिमान भी पराकाष्ठा पर। हिन्दी का गौरव भी चरम सीमा पर। किसी भी हिन्दीतर विभाग या उसके विभागाध्यक्ष की शानो-शौकत से कम नहीं। वही लकदक, वही रुतबा। भीतर से भी, बाहर से भी।

और ठीक कह रहा हूँ, जबतक वे रहे, कभी भी हम में हीन-भावना नहीं आई और जबतक उनका आशीर्वाद है, नहीं आयगी। और यह भी सच कह रहा हूँ कि उनकी मौजूदगी में हमने कभी भी अपने को किसी विभागाध्यक्ष से कम नहीं समझा और विश्वास है कि तबतक कम नहीं समझेंगे, जबतक उनका नाम शेष रहेगा।

उनकी विनयशीलता और मर्यादाप्रियता का प्रभाव भी हम पर कम नहीं पड़ा। कम-से-कम, मैंने अपने को उनके सामने फैलने नहीं दिया। बराबर तंग, बराबर संकोचित, बराबर सिमटा-सिकुड़ा। सभाओं में भी, उनके घर पर भी, कहीं भी उनके प्रभाव ने बाँधकर ही रखा, पसरने नहीं दिया। उनके विद्यार्थी-प्राध्यापकों में भी यही बात मैंने बराबर देखी। सीमित, सम्मानयुक्त भय से संकुचित, शिष्यवत्।

कृतघ्नताओं के युग में ऐसी कृतज्ञता भी श्रद्धेय है!

सभाओं में भी नलिनजी को देखा था। चाहे वह विश्वविद्यालय की हिन्दी-साहित्य-परिषद् के आयोजन में की गई सभा हो, चाहे किसी स्थानीय साहित्यिक संस्था की। नलिनजी का एक और ही तरह का व्यक्तित्व दीखता था।

हिन्दी-साहित्य-परिषद् का बत्तीसवाँ अधिवेशन उनके जीवन-काल का अन्तिम अधिवेशन था। परिषद् का वह समवेत चित्र भी मेरे कमरे में है। वह चित्र भी देख रहा हूँ और वह चित्र भी सामने है, जब वे अधिवेशन की सफलता के लिए उसके पदेन सभापति की हैसियत से, कार्यरत दीखते थे। सभी प्रबंधों के लिए व्यस्तता, आद्यन्त शान्ति के लिए सतर्कता!

इसी तरह और भी सभाओं की याद है, जहाँ वे अपने से अधिक औरों का ख्याल रखते थे।

हर समय संबोधन में सबों के नाम के बाद 'जी'! परिचय के समय सबों की विशिष्टता का वाजिब उल्लेख!

ये संस्कार उनके अपने थे। सबों के प्रति आग्रह, दुराग्रह किसी के प्रति नहीं।

डेरे पर नलिनजी परिवार के सदस्य की तरह लगते थे। पहुँचिए और कुछ न कुछ खाद्य अथवा पेय हाजिर। छोटा हो या बड़ा—सबों को मिले, इसका ध्यान! आपकी समस्याएँ, उनका हल! आपके प्रश्न, उनके उत्तर! यह निर्लिप्त सेवा उनकी सबसे बड़ी महानता थी, सबसे बड़ी आत्मिक शक्ति। शोध के सिलसिले में, मेरी कई समस्याओं को समाधान मिला, मेरे कई प्रश्न उत्तरित हुए।

लेकिन......

विश्वास नहीं होता कि ग्यारह सितंम्बर उन्नीस सौ इकसठ को दिन के एक बजे हिन्दी-विभाग में, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सम्मान में आयोजित सभा के सभापति प्रो० नलिन विलोचन शर्मा बारह सितंबर को मर गए! यह भी विश्वास नहीं होता कि मुझ-जैसे सैकड़ों प्राध्यापकों के गुरु अब नहीं रहे! और यह भी विश्वास नहीं होता कि वे नलिन जी उठ गए, जो किसी के दुश्मन नहीं थे, जो अजात-शत्रु थे!

प्रो० नलिन विलोचन शर्मा की विद्वत्ता, विभागाध्यक्ष विद्वद्वर नलिन विलोचन शर्मा का सौहार्द और शोध-निर्देशक पं० नलिन विलोचन शर्मा के पाण्डित्य, स्नेह, आशीर्वाद, व्यक्तित्व और संस्कृति के अमर प्रभाव यह अखण्ड विश्वास दिलाते हैं कि वे थे नहीं, हैं और जबतक हिन्दी-साहित्य की विद्यार्थी-परम्परा है, वे रहेंगे!!!

✣

जगन्नाथ ओझा

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, साहबगंज कॉलेज, संथालपरगना

बाबूजी

[मर्म को छूनेवाला ओझाजी का यह मार्मिक संस्मरण 'बाबूजी' को कम बोलने की आदत की याद कर अन्त में किस आश्चर्य में पड़ जाता है—*"उस दिन बाबूजी बहुत बोल रहे थे। क्या उन्हें पता था कि मैं उनकी बोली फिर नहीं सुन पाऊँगा ???"*]

बारह सितम्बर की रात में दो बजे प्रो० जनार्दन पाण्डेय ने पटना से आकर जो कहा, उसे सुनकर मैं सन्न रह गया ! मेरे मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला और मैं एकटक पाण्डेयजी का चेहरा ताकता रह गया। मेरी आँखों में आँसू नहीं आए और लाख प्रयत्न करने पर भी मैं अपने मन को समझा नहीं पाया कि बाबूजी अब नहीं रहे। फिर न जाने क्या सोचकर पाँच बजेवाली ट्रेन में जा बैठा। अप सियालदह एक्सप्रेस अपनी गति से आगे बढ़ती जा रही थी और मेरा मन अतीत की ओर बड़ी तेजी से भागा जा रहा था······।

२६ जुलाई १९५४; बाबूजी का प्रथम दर्शन ! बहुत आगे-पीछे सोचने के बाद, मैंने एम० ए० (हिंदी) में नाम तो लिखा लिया था, लेकिन आर्थिक कठिनाई के कारण मेरा उत्साह मन्द पड़ने लगा था। इसी समय मुझे उस पत्र की याद आई जो जैन कॉलेज,

आरा के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो० शिवबालक रायजी ने आरा से पटना आते समय मुझे श्री नलिन विलोचन शर्मा के नाम से लिखकर दिया था और संकोचवश मैं अभी तक उनसे नहीं मिल सका था। इसी पत्र को लेकर २६ जुलाई के प्रातःकाल मैं शर्माजी के ब्रजकिशोर पथवाले घर पर पहुँचा। बहादुर (बाबूजी का नेपाली नौकर) ने बड़ी शिष्टता से कमरे में बिठाया। दो मिनट भी नहीं हुआ था कि एक विराट् व्यक्तित्व ने कमरे में प्रवेश किया। स्वच्छ धोती और मलमल का कुर्ता, ऊपर से एक चादर, उन्नत प्रशस्त ललाट, आँखों में सहज स्निग्धता! अधरों के बीच छिपती-सी मृदुल मुस्कान, सरल-गंभीर औदात्यपूर्ण मुखमण्डल! कुल मिलाकर अत्यन्त भव्य, आकर्षक, चारु दर्शन! मैंने भक्ति और श्रद्धा से झुककर उनका चरण-स्पर्श किया और सकुचाते हुए आचार्यजी का पत्र उन्हें दे दिया। पत्र लम्बा नहीं था, दो-चार वाक्य थे। वे कुछ देर मौन रहे, फर्श की ओर देखते हुए संयमित मर्यादा के साथ अतिशय विनम्र शब्दों में, मुझे जिन पुस्तकों की आवश्यकता है उनकी लिस्ट देने के लिए और ट्यूसन के बारे में कल मिलने के लिए कहा। इसके बाद वे फिर मौन हो गए। मैं कुछ देर और बैठा रहा, बोलना चाहता था, लेकिन साहस नहीं हो रहा था। दोनों मौन और कमरे में बिलकुल सन्नाटा। मुझे अजीब-सा लगने लगा। मैं प्रणाम कर चलने लगा तो वे खड़े हो गए और कमरे के द्वार तक आए। यह था बाबूजी का प्रथम दर्शन! और इस प्रथम दर्शन में ही मैंने अपने हृदय में एक दिव्यता का अनुभव किया। रानी घाट लौटते समय मार्ग में अनेक बार मुझे ऐसी अनुभूति हुई जैसे मैं परम शील, परम औदार्य और परम भाव-ऐश्वर्य के पावन संगम-तट से आ रहा हूँ। मैंने इसे जन्म-जन्मान्तर के संचित पुण्य का फल माना। मैं बहुत ज्यादा प्रसन्न था।

······और दूसरे दिन मेरे पास एम० ए० की सभी पुस्तकें थीं, रहने के लिए एक सुन्दर कमरा था, दोनों बेला नाश्ता और भोजन की व्यवस्था थी; और ऊपर से अहर्निश स्नेह की वर्षा! मेरा मन भींगता जा रहा था! मुझ जैसे अकिंचन पर भी इतना स्नेह, इतनी ममता! मैं धन्य हो गया। कुक्कू, माँजी, बहादुर सभी उन्हें 'बाबूजी' कहते। वे मेरे भी 'बाबूजी' हो गए। सचमुच उस ढाई वर्ष के साहचर्य में बाबूजी से जो स्नेह, जो ममता और जो दुलार मुझे मिला, वह कितने पुत्र अपने पिता से पाते हैं?

× × ×

बाबूजी जब भोजन करने टेबिल पर जाते, उनका पहला प्रश्न होता—'ओझाजी ने खाना खा लिया?' बहादुर को यह कड़ा आदेश था कि सबसे पहले ओझाजी को खाना मिलना चाहिए। (बाबूजी मुझे सदा ओझाजी ही कहा करते थे। इतनी निकटता होने पर

भी उन्होंने कभी मुझे 'जगन्नाथ' या 'ओझा' नहीं कहा। मुझे याद है एक बार सामनेवाले आम्रवृक्ष के नीचे वे द्विवेदीजी और सच्चिदा बाबू से खड़े-खड़े बातें कर रहे थे और मैं बगल में खड़ा था तो उनके मुँह से 'जगन्नाथजी' निकला था। मैंने लक्ष्य किया इस नाम के उच्चारण के साथ ही वे बहुत सकुचा गए थे, जैसे उनसे कोई बहुत बड़ी गलती हो गई हो। इस क्रम में किसी प्रकार का व्यतिरेक बाबूजी को सह्य नहीं था और इस पर उनकी कड़ी निगाह रहती थी। किसी दिन पढ़ने में या किसी दूसरे कार्य में व्यस्त रहने के कारण मैं समय पर नहीं खा पाता, तो बाबूजी खाना खाते समय मुझे पुकार लेते। मैं उनके सामने कुर्सी पर बैठना नहीं चाहता, मुझे बहुत संकोच होता था। लेकिन जब वे अत्यन्त धीमी आवाज में किंचित् मुस्कुराकर कहते,—"बैठिए ओझाजी"; तो मैं न जाने किस जादू से अभिभूत हो, लजाते हुए बैठ जाता। कभी यह, कभी वह, अपने हाथों से मेरी थाली में डालते जाते और अपना खाना भूलकर मुझे खिलाने लगते। जब मैं पूरा खा लेता और कुछ लेना नहीं चाहता, तो वे बगल में बैठी हुई माँजी से कहते—"मुन्ना! ओझाजी बहुत कम खाते हैं!" लेकिन बात उलटी थी। बाबूजी स्वयं कम, बहुत कम खाते थे। यह रहस्य वे ही जानते हैं, जिन्हें उनके साथ खाने का मौका मिला है। नहीं तो उनके विशाल शरीर को देखते हुए इस कथन पर लोग सहसा विश्वास नहीं करेंगे।

······एक दिन की घटना याद कर आज भी मेरी आँखें भर आती हैं। उस दिन कॉलेज में मेरी पहली घंटी थी। मैं नाश्ता कर चुका था। खाना बनने में कुछ विलम्ब था, इसलिए सोचा कि दो बजे कॉलेज से लौटकर खा लूँगा। बहादुर के बहुत आग्रह करने पर भी कि खाना खाकर जाइएगा, मैं बिना खाए चला गया! दो बजे आकर देखा कि रसोई घर के कोने में मुँह लटकाए, रोनी सूरत किए बहादुर बैठा है और ऊपर के बीच वाले कमरे में माँजी बहुत उदास हैं।·········बाबूजी बिना खाए युनिवर्सिटी चले गए थे!

× × ×

आठ जून, १९६१; बाबूजी का अन्तिम दर्शन! मैं अपने शोध-कार्य सम्बन्धी कुछ कागज उन्हें दिखलाने के लिए ले गया था। बाबूजी ने उस समय मोटर खरीद ली थी और स्वयं ड्राइव करते थे। मोटर के छोटे-छोटे पुर्जों की अभिज्ञता उन्हें पर्याप्त थी। बिगड़ने पर वे खुद ठीक कर लिया करते। उस दिन कोई बहुत बड़ी गड़बड़ी हो गई थी और बाबूजी ने गंगा को बुलाया था। बाबूजी स्वयं भी सहयोग दे रहे थे और मैं किनारे खड़ा कभी पानी, कभी तेल, कभी कोई यंत्र ला-लाकर देता जाता था। बाबूजी बड़ी तल्लीनता से

पुर्जों को देख रहे थे और बीच-बीच में गंगा को कुछ निर्देश भी देते जाते थे। मैं खड़ा-खड़ा बहुत आश्चर्य का अनुभव कर रहा था। अनेक शोध-कर्त्ताओं को अनेक विषयों पर एक ही साथ निर्देश देनेवाले, काव्य-साहित्य के परम मर्मज्ञ, संस्कृत, हिन्दी, बँगला, अंग्रेजी आदि विविध भाषाओं के चरम ज्ञाता, सद्यः प्रकाशित ग्रन्थों की नित्य टोह रखनेवाले बाबूजी का यह ज्ञान देखकर मैं और चकित रह गया।......

मोटर ठीक हो गई। सब सामान समेटकर हमलोग भीतर आ गए। इसी बीच मेरे मन में न जाने कैसे मोटर में चढ़ने का लड़कपन आ गया। लेकिन मैं संकोचवश बाबूजी से कह नहीं पा रहा था। मुझसे रहा नहीं गया और जरा घुमा-फिराकर आहिस्ते से कहा—'बाबूजी' गाड़ी ठीक हुई या नहीं, ट्रायल तो लिया ही नहीं गया।' बाबूजी ताड़ गए। धोती-कुर्ता लाने का आदेश हुआ और दूसरे क्षण हम कार में थे।......

बाबूजी बहुत कृशकाय हो गए थे। उन्हें ब्लड-प्रेशर था और डाक्टर के निर्देशानुसार बड़ी कठोरता से वे संयम बरत रहे थे। हरी सब्जी, दो-एक रोटी, यही उनका खाना रह गया था। रात में नौ बजे से पहले सोने का नियम मित्रों की कृपा से प्रायः टल जाता था। सुबह कुछ सबेरे उठने लगे थे। मोटर नहीं चलाने की कड़ी हिदायत थी। मैं यह नहीं जानता था।......

मोटर डाक बंगला रोड, सर्कुलर रोड, बेली रोड—एक सड़क के बाद दूसरी सड़क पर—सनसनाती चली जा रही थी और बाबूजी धीरे-धीरे बतलाते जा रहे थे—यह हाईकोर्ट है, यह सेक्रेटरिएट आ गया, यह राज्यपाल-भवन है, उमानाथजी इधर ही रहते हैं, यह पब्लिक सर्विस कमीशन का ऑफिस है, आप एप्लाई क्यों नहीं करते हैं, मैंने राँची में थोड़ी जमीन ली है, द्विवेदीजी की पुत्री की शादी है, चंडीगढ़ जाइएगा? खाना कम हो गया है लेकिन शक्ति क्षीण नहीं हुई है......। उस दिन बाबूजी बहुत बोल रहे थे। क्या उन्हें पता था कि मैं उनकी बोली फिर नहीं सुन पाऊँगा ???

✠

सौजन्यमूर्त्ति आचार्य नलिन विलोचन शर्मा

जगन्नाथ राय शर्मा
भूतपूर्व अध्यक्ष- हिन्दी-विभाग
पटना विश्वविद्यालय

[छात्रों से उनकी एकच्छत्रता की अनेक स्मृतियाँ सुनने के बाद अब उनके गुरु पं० जगन्नाथ राय शर्माजी के शब्दों में छात्रत्व का यह स्वरूप देखिए—"*नलिनजी अस्वस्थ रहते हुए भी अपनी मोटर पर प्रतिदिन मेरे डेरे तक मुझे पहुँचाकर अपने घर जाया करते थे। मेरे बार-बार मना करने पर भी वे नहीं मानते थे। गुरुजनों के प्रति यह अगाध आदर उनके स्वभाव का एक अनिवार्य अंग था।*"]

❋ ❋ ❋

आचार्य नलिनविलोचन शर्मा को मैं उस समय से जानता-पहचानता था जब वे पूज्य-वर महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माजी के चरणों के पास बैठकर 'रघुवंश' पढ़ा

करते थे। मैंने फिर पटना कॉलेज में आकर संस्कृत के एम० ए० वर्गों में उन्हें पढ़ते देखा, फिर आरा-कॉलेज में संस्कृत के प्राध्यापक के रूप में तथा अपने सहयोगी के रूप में भी देखा। वे मेरे समक्ष सदैव उसी प्रकार विनम्र मिले जिस प्रकार मैं उनके पूज्य पिता उक्त महामहोपाध्यायजी के समक्ष रहता था। नलिनजी मेरे वात्सल्य-भाजन थे। आज उनके अभाव से मैं कितना दुःखी हूँ इसे बस, वही समझ सकते थे। जिस समय उनका आकस्मिक निधन हुआ मैं रुग्ण था और आज तक भी इन पंक्तियों को लिखते समय हाथ काँप ही रहा है। उनका स्वर्गवास मेरे ऊपर वज्रप्रहार था। रह-रह कर उनके लड़के एवं परिवार का करुण चित्र मेरी आँखों के समक्ष उपस्थित हो जाता है और उनसे अनायास जल प्रवाहित होने लगता है। शर्माजी और मैं, दोनों लगभग तेरह वर्षों तक पटना विश्वविद्यालय में एक साथ कार्य करते रहे। मैंने उन्हें अत्यन्त निकट से अनेक परिस्थितियों में देखा है और मुझे यही प्रतीत होता है कि उनमें सबसे प्रधान गुण था सौजन्य। तेरह वर्षों के बीच केवल एक-दो बार ही मैं उनके चेहरे पर क्रोध का चिह्न देख सका था। उनका दूसरा प्रधान गुण था कर्त्तव्य-ज्ञान। समय पर क्लास में आना, पढ़ाते समय छात्रों को अपनी शिक्षण-शैली, विद्वत्ता एवं तल्लीनता से विमुग्ध एवं तल्लीन बना देना तथा पाठ्य-विषय को तत्काल ही उनको याद करा देना यह सब उनके बायें हाथ का खेल था। अपनी स्वाभाविक गम्भीरता, कार्यतत्परता, विद्वत्ता एवं सौजन्य के कारण उन्हें छात्रों, प्राध्यापकों एवं अधिकारियों के बीच ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त थी जो हममें से किसी को भी बिरले ही प्राप्त हुई।

साहित्यिकों के वे मार्ग-दर्शक थे। वे आलोचक, कहानी-लेखक एवं कवि थे। आलोचना एवं कविता के क्षेत्र में उन्होंने नवीनता की प्रतिष्ठा की। अतः नई पीढ़ी के साहित्यिक उन्हें 'आचार्य' कहने लगे। 'नकेन' वाद में पहला 'न' 'नलिन'जी की नवीन-प्रियता का ही द्योतक है।

विद्वान् होते हुए भी वे निरहंकार थे। ज्ञानरत्न संग्रह करने में वे कभी संकोच नहीं करते थे। प्राचीन एवं मध्यकालीन हिन्दी, संस्कृत, पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं तथा उनके साहित्यों से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं में सन्देह होने पर वे बड़ी विनम्रता के साथ मेरे पास आते थे और मुझे ऐसा कोई अवसर स्मरण नहीं आता जब वे पूर्णतः सन्तुष्ट होकर न गये हों। पाठक क्षमा करें, मैं यह आत्म-प्रशंसा के लिये नहीं लिखता वरन् यह भूतार्थ-व्याहृत मात्र है और अनेक प्राध्यापकों के समक्ष की बात है। इससे उनकी ज्ञान-पिपासा एवं गुण-ग्राहकता का पता चलता है।

नलिनजी के अप्रतिम सौजन्य का अन्तिम दर्शन मुझे गत ग्रीष्मावकाश के पूर्व हुआ। तीन दिनों तक हम दोनों प्रातः ८ बजे से अपराह्न में तीन बजे तक बिहार-लोक-सेवा आयोग में एक साथ कार्य करते रहे। नलिनजी, अस्वस्थ रहते हुए भी, अपनी मोटर पर प्रतिदिन मेरे डेरे तक मुझे पहुँचाकर, अपने घर जाया करते थे। मेरे बार-बार मना करने पर भी वे नहीं मानते थे। मुझे विवश होकर उनका अनुरोध मानना पड़ता था। गुरुजनों के प्रति यह अगाध आदर उनके स्वभाव का एक अनिवार्य अंग था। नलिनजी के निधन से बिहार का साहित्यिक जगत् निर्धन और माता हिन्दी के अञ्चल का एक कोना सूना हो गया।

✻ ✻ ✻

अगर लिखने के लिए पढ़ना जरूरी है तो, हिन्दी के लेखकों को, अपने पुराने साहित्य के अतिरिक्त, पाश्चात्य साहित्य से खूब परिचय बढ़ाना ही पड़ेगा।

'नईधारा'—जून १९५० —न० वि० श०

✣

एक दिन....

जानकीवल्लभ शास्त्री

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, रामदयालु सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर

[आचार्य जानकीवल्लभजी की विद्वान् और कलाकार मनीषा ने नलिनजी को जिस तरह आत्मसात् किया है, वह सर्वथा सत्य और सुन्दर के समीप है, शिव बनकर !—"*जग के आँके-बाँके मग पर मुँह उठाए चलते जाना सबके बूते के बाहर है। कुछ प्रभाव पपड़ी छोड़ने लगते हैं तो जैसे नासूर को नाखून लग जाता है। कुछ का नाल ही गड़ जाता है। नलिनजी का प्रभाव ऐसा ही था। उनके प्रकृष्ट भावों की बौछार से रुखाई भीग गई थी।*"]

☼ ☼ ☼

कोई बीस साल पहले, पुस्तक-भण्डार की जयन्ती के अवसर पर, हम पहली बार मिले थे। उस समय उनके साथ डॉ० देवराज उपाध्याय भी थे। ऐसे मिले थे कि यह

नहीं लगा था, वह नभतल पर विचरते हैं और मैं भूतल पर; वह तारे तोड़ते हैं और मैं फूल चुनता हूँ।

वह तब भी गम्भीर थे, मैं तब भी चञ्चल था। पर उनकी गम्भीरता एकाकिनी न थी, मेरी चञ्चलता का अन्तर धूमिल न था। वह निस्तरंग सागर-से थे, मुझमें भी चन्द बूँदों से प्यास बुझा लेने की व्याकुलता न थी।

हम ऐसे मिले थे जैसे·········पर जब वह हमेशा के लिए बिछुड़ गए तब अपना तल मालूम हुआ। अब अपने विशृंखल एवं आत्म-विरोधी व्यक्तित्व से उनके संश्लिष्ट तथा उदात्त व्यक्तित्व की तुलना करूँ तो जीभ तिरी-बिरी होने लगे; ताव दे तो तालू से सट जाय।—उन्होंने मानवात्मा के व्यापक और गहन क्षेत्रों की अश्रान्त यात्रा की थी। उनकी जिज्ञासा, उनकी संवेदना, उनकी क्षमता अपनी छाँह भी तो नहीं छूने देती।

व्यक्तिगत जीवन में जाने-अनजाने हम कितने क्षुद्र, अद्भुत, क्षणिक और स्थायी प्रभावों से इकहरे-दुहरे होते रहते हैं। जग के आँके-बाँके मग पर मुँह उठाए चलते चले जाना सबके बूते के बाहर है। कुछ प्रभाव पपड़ी छोड़ने लगते हैं तो जैसे नासूर को नाखून लग जाता है। कुछ का नाल ही गड़ जाता है। नलिनजी का प्रभाव ऐसा ही था। उनके प्रकृष्ट भावों की बौछार से रुखाई भींग गई थी।

तत्त्व-महत्त्व की बात सहज भाव से और अतिशय साधारण को असाधारण ढंग से अभिव्यक्त करने की अद्भुत शक्ति थी नलिनजी में।

अनुशीलन और अनुसन्धान की-सी गम्भीरता के साथ वह जैनेन्द्र की सर्वथा अपनी शैली का पूर्वाभास प्रो॰ कृपानाथ मिश्र में बताते और 'देहाती दुनिया' को हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास यों उद्घोषित करते थे जैसे वह इतिहास का संशोधन न कर कोई पीढ़ी-दर-पीढ़ी कही गई बात दुहरा भर रहे हों।

वह प्रकाश-पुंज थे, प्रेरणा-स्रोत थे। पर सतही मति, धृतिवाले न उनसे प्रेरित हो सकते थे, न प्रकाशित। वह समझते थे नलिनजी यों ही धाक जमाए हुए हैं; यों ही उनका डंका पिट रहा है; यों ही उनका रंग चढ़ा हुआ है।

उनकी आधुनिकता सघन शास्त्रीयता से फूटी थी; वह बाणभट्ट पर लिखते समय भी आचार्य्य शिवपूजन सहाय की गद्यशैली को भूलते न थे।

उनके निष्कम्प निष्कर्षों से आप असहमत हो सकते थे, उनकी निष्कम्पता को चुनौती देना असम्भव था।

आरम्भ से ही वह मुझ पर अपनी कृपा बरसाते रहे थे। बाज-बाज दफा मैं भींगता न था, पानी-पानी हो जाता था।

एक दिन की बात है। सर्दी का मौसम था। वह सम्मेलन-भवन के बाह्य प्रांगण में विराज रहे थे। उनके इर्द-गिर्द कई कुर्सियाँ पड़ी थीं। लोग-बाग बैठे कहकहे लगा रहे थे। दीक्षितजी और दामोदरजी तो अवश्य ही थे। और सूरतें अजनवी थीं। ऐसे में मैं पहुँचा और उनकी एक हल्की-सी पकड़ में मैं गिरफ्त हो गया। जहाजघाट से सीधे चल कर आया था। थोड़ा थक भी गया था। कपड़े उतार कर हाथ-मुँह धोने की इच्छा हो रही थी। पर सहसा नलिनजी ने वह तान छेड़ दी कि मैं अपना ध्रुपद-धमार भूल गया।

नलिनजी ने और नरेश ने जब-तब निराला पर जो कुछ लिखा है, मैं समझता हूँ बिहार ही नहीं, समूचे हिन्दी-संसार में उससे स्पर्द्धा करने के योग्य कुछ भो नहीं लिखा गया। फिर भी न जाने क्यों, नलिनजी को यह विश्वास था कि निराला के सम्बन्ध में मैं "वेदाः प्रमाणम्" हूँ!

बादल आते-जाते हैं; गरजते-तरजते हैं; पंछी पर फैलाए गाते चले जाते हैं, पर आकाश मौन रहता है।

काली रात में वदन पर झलमल करती पसीने की बूँदों की तरह तारे जगमग कर उठते हैं, उजली में साधना की सिद्धि की तरह हँसी-मुसकान की चाँदनी छिटकती है पर आकाश मौन रहता है।

एक दिन ब्राह्म मुहूर्त में उगते-डूबतों के सन्धि-रन्ध्र से एक अरुण आह्वान आता है; सूर्य्य का तूर्य्य निनादित होता है; आलोक की तीसरी दृष्टि खुल जाती है; मौन की ज्वाल गलने-ढलने लगती है।

और आकाश-वाणी :—

ये स्नातकोत्तर कक्षा के छात्र हैं; ये महाप्रबन्ध-लेखक। मैं इन्हें आपके पास भेज रहा था—मुजफ्फरपुर। निराला-सम्बन्धी कुछ शंकाएँ हैं। समुचित समाधान की अपेक्षा है।

"हाँ, मैं और स्पष्ट हो लूँ, आपसे पहले त्रिलोचनजी और जयकिशोरजी को भी कष्ट दे चुका हूँ।"

मेरे चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। क्या आकाश, दिन-दहाड़े, इतने विद्वानों और

विद्यार्थियों के बीच, मेरी मिट्टी पलीद करना चाहता है ? किन्तु ऐसे कुचक्र का कोई संकेत उसकी प्रफुल्ल आकृति में नहीं, प्रसन्न प्रकृति में नहीं। फिर ?

मैं सँवरूँ, सँभलूँ, खाँस-खखार कर गला साफ करूँ, इसके पहले ही नलिनजी बोल उठे :—

"अब जैसे ये पंक्तियाँ हैं......"

पंक्तियाँ 'राम की शक्ति-पूजा' की थीं। मेरी हैसियत खुलासा हो गई। नलिनजी आख्याता हैं, व्याख्याता। वह आलोचक हैं, मैं टीकाकार। सोचा :—

I even I, am he who knoweth the roads.
Through the sky and the wind thereof is my body."

पंक्तियाँ उलट-पुलट कर कही जा रही थीं। मैंने सीधी कर दीं तो उन्होंने 'अनामिका' में वैसी ही छपी होने की बात बताई। मैंने 'असम्भव' कहा तो सान्ध्य-गोष्ठी के लिए आमन्त्रित हो गया। रेडियो-स्टेशन से ठीक समय पर उनके घर पहुँचा। छात्रों-समेत नलिनजी मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। 'अनामिका' उनके हाथ में थी। बोले—"शास्त्रीजी, आप ठीक कह रहे थे; किन्तु...फिर भी...अर्थ......"

मैंने यथाशक्ति वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य—सब अर्थ बतला दिए। वह नई-नई पंक्तियाँ निकालते गए, मैं......।

यह क्रम काफी देर तक चला। मैंने कहा—"नलिनजी, 'राम की शक्ति-पूजा' मेरे सामने लिखी गई थी। उस रोज कहीं से कुछ पैसे आ गए थे। निरालाजी बाजार गए और दो मोटी-मोटी कापियाँ खरीद लाए। तीसरे पहर नहा-धोकर लिखने बैठे और महज घंटे भर बाद आरम्भ की समास-बहुल सारी पंक्तियाँ लिखकर हँसते हुए कमरे से बाहर निकले और बोले :—'देखो, आरम्भ कैसा है ?'

कुँअर चन्द्रप्रकाश सिंह और परमानन्द वाजपेयी के साथ मैं बाहर बैठा था। तब संस्कृत में ही श्वास-उच्छ्वास लेता था। मुझे पंक्तियाँ प्रौढ़ एवं पूर्ण प्रतीत हुईं। मैंने प्रसन्नता प्रकट की तो बोले :—'कुछ क्लिष्ट हैं, सादगी की तरफदारी करनेवाले नाक-भौं सिकोड़ेंगे।' हम तीनों ने एक स्वर से आग्रह न किया होता तो सम्भव है, निरालाजी कुछ पद बदल देते। 'राम की शक्ति-पूजा' के वर्त्तमान रूप का उत्तरदायी हमारा कौतुकी कुचक्र भी हो सकता है। निरालाजी ने अपनी परेशानी जताई कि राम ने राजीवनयन होने के कारण अपनी एक आँख चढ़ाकर कमल की कमी पूरी करनी चाही, यह कल्पना

'राम की शक्ति-पूजा' में भव्यता के साथ स्वरूप प्राप्त करेगी, पर क्या यह अन्तर्गगन की अव्यक्त गिरा का आलोडन भर होगा या इस किरण के पीछे शास्त्र की उद्वेलित ज्योति भी होगी ?······आपने 'अद्‌भुत रामायण' देखी है ?

मैंने कहा, "मेरे पिता-श्री पण्डित ही नहीं, राम-भक्त भी हैं। मैंने अद्‌भुत रामायण ही क्यों, आनन्द रामायण भी देखी है। पर मुझे यह प्रसंग कहीं नहीं मिला। हो भी तो अभी मुँदी स्मृति उन्मीलित नहीं हो रही। हाँ, "शिवमहिम्नः स्तोत्रम्" में अवश्य यह सुरभित सुषमा है :—

"हरिस्ते साहस्रं कमलवलिमाधाय पदयो
र्यदेकोने तस्मिन् निजमुदहरन्नेत्रकमलम्।"

और 'कृत्तिवास' में भी इसका स्निग्ध उच्छ्‌वास है, कुछ ऐसा ही आभास अवचेतन मन पर बिछल रहा है।"

निरालाजी को प्रत्यभिज्ञा-सी हुई। उनकी निरानन्द आकृति पर जैसे आनन्द की धार दौड़ गई।

नलिनजी, मैं यह सब यों ही नहीं कह रहा। मैं निराला को महिम्न या कृत्तिवासी रामायण की याद दिलाऊँ, यह सब कुछ जँचता है ? वह तो परम्परा और प्रतिभा के अद्‌भुत समन्वय हैं। सबके सामने वह यों ही मुझे गौरव देकर गर्वित होते हैं। कुछ वैसी ही बात आज आपने भी की है।

आपके भीतर ज्ञान का क्षीर-सागर लहरा रहा है। आपकी प्रज्ञा मधुमती है। तट पर बैठनेवाले कुछ छींटे पा जाते हैं तो अपने बबूल-वदन में पारिजात के फूल दिखलाने लगते हैं।

आपने अपने प्रिय जनों के बीच मुझे गौरव देकर अपनी विनय ही नहीं प्रकट की, बोध की वह अव्यय गन्ध भी प्रकाशित की है जिसके अभाव में अपनी अबोधता निराला की दुर्बोधता का दुर्दान्त रूप ग्रहण कर लेती है। 'भारत-भारती' का पहलवान वेस्टलैंड का कचूमर निकालने लगता है !!"

मैं कुछ और कहूँ इसके पूर्व ही नलिनजी ने हँसते-हँसते कॉफी का प्याला मेरी ओर बढ़ा दिया।

✠

वह याद जो भुलाई नहीं जाती !

दामोदर प्रसाद अम्बष्ठ
१२, लोआयड रोड,
[बंगलोर-५]

नलिनजी के सुप्रसिद्ध चित्रकार मित्र श्री अम्बष्ठ जी का कहना है कि—"*गो नलिनजी उम्र में मुझसे छोटे थे पर मेरे दिल में उनके लिए इतना प्रेम था कि उनका आग्रह मेरे लिए गुरु-आज्ञा से कम न था !*"

☼ ☼ ☼

जीवन के इस विकराल युग में रहकर भी नलिनजी की याद भुलाई नहीं जाती, उनकी याद दिल में एक पीड़ा पैदा करती है, एक ऐसी बेचैनी, जिसका कोई इलाज नहीं। उनकी आवाज़ कानों में आज भी गूँज रही है। मैं उन्हें 'नलिनजी' कहा करता था और वे मुझे 'दामोदरजी'।

नलिनजी से पहले-पहल मेरी मुलाकात 'आरती' के दफ्तर में हुई थी, जो महेन्द्रू में स्थित था। परिचय कराने वाले थे परम प्रिय मित्र श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' जिनके सम्पादन में 'आरती' निकलती थी। मुझे ठीक याद है कि उस वक्त वहाँ श्री हरेन्द्रदेव नारायण, बटुकदेव मिश्रजी और नरेशजी भी उपस्थित थे। 'मुक्तजी' के चाय-पान का दौर बार-बार चलता था और हम आपस में घुल-मिल रहे थे। कुछ देर की मुलाकात में ही मैं नलिनजी से बहुत अपनापन महसूस करने लगा और वे भी मेरी ओर बहुत आकृष्ट हुए।

यह बात सन् १९४२ की है। इसी वर्ष मैं मद्रास से मूर्ति-कला तथा चित्र-कला की ट्रेनिंग समाप्त कर और डिप्लोमा लेकर पटना लौटा था। नलिनजी उस समय आरा कॉलेज में अध्यापक थे।

नलिनजी इतने सरल ढंग से अपनी बात कहते थे कि उसमें अपनापन टपकता था। नलिनजी की विद्वत्ता, सादगी और ईमानदारी की मुझ पर गहरी छाप पड़ी, और मैं बार-बार उनसे मिलने को उत्सुक रहने लगा। नलिनजी मुझे कला के क्षेत्र में बहुत ज्यादा मानने लगे थे और सदैव मेरे विभिन्न सांस्कृतिक आयोजनों में मेरा साथ भी देते थे।

नलिनजी ने मुझसे एक बार आग्रह किया कि मैं उनकी पत्नी श्रीमती कुमुद शर्मा जी को चित्र-कला सिखाऊँ। गो नलिनजी उम्र में मुझसे छोटे थे पर मेरे दिल में उनके लिए इतना प्रेम था कि उनका आग्रह मेरे लिए गुरु-आज्ञा से कम न था।

फिर तो हमारा मिलना-जुलना प्रायः प्रति दिन होने लगा और उनका घर मेरा बैठक-सा बन गया। पटना से पटना सिटी जाना आसान नहीं है, फिर भी नलिनजी पटना सिटी मेरे घर अक्सर आया करते थे। नलिनजी से बराबर ही मुझे कुछ-न-कुछ ज्ञान की बातें भी सीखने को मिलती थीं।

नलिनजी ने मुझे ही अपनी पुस्तक "दृष्टिकोण" के मुखपृष्ठ की डिजाइन तैयार करने को कहा था। उनकी सौंदर्य-रुचि और कला-मर्मज्ञता कितनी परिमार्जित थी, यह मैं छोटी-छोटी चीजों में भी महसूस करने लगा था। साहित्य, संगीत और चित्र के अनेकानेक उत्सवों में हम साथ ही जाया करते थे।

सरकार के कॉटेज इन्डस्ट्रीज विभाग की नौकरी से इस्तीफा देने पर जब मैंने पटना में फ्रेजर रोड स्थित अपने स्टुडियो की स्थापना की तो नलिनजी वहाँ बराबर आया करते थे और अक्सर काफी देर तक वहाँ गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। एक बार मेरे इच्छा प्रकट करने पर नलिनजी मुझे अपनी मूर्त्ति के लिए 'सीटिंग' देने लगे और यह मूर्त्ति

लगभग तैयार भी हो चली। इसी बीच कोई बड़ी छुट्टी आई और नलिनजी कहीं चले गए। फिर वह मूर्त्ति अधूरी ही रह गई। काश ! वह मूर्त्ति आज उपलब्ध होती ! उस मूर्त्ति के अधूरी रह जाने का मुझे उतना ही अफसोस है जितना कि अपने स्वर्गीय पिताजी की मूर्त्ति के अधूरी रह जाने का।

आकाशवाणी से जब भी मैंने किसी विषय पर ब्राडकास्ट किया उसकी पाण्डु-लिपि नलिनजी को जरूर दिखला ली। वे बड़ी सरलता से, बिना भाव-परिवर्त्तन किये उसे सुधार दिया करते थे। एक-दो बार तो किसी रेडियो के कार्य-क्रम में नलिनजी का और मेरा एक साथ ही प्रोग्राम भी हो गया था।

विदेश से लौटने पर मैंने देखा कि नलिनजी बहुत ही व्यस्त रहा करते हैं, क्योंकि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का बोझ भी उन्हीं पर था और दूसरी ओर मैं भी एक अफसर के नाते तथा अनेक संस्थाओं से सम्बन्ध होने के नाते काफी व्यस्त था, फिर भी हम प्रायः मिल-जुल लिया करते थे—कम-से-कम सम्मेलन-भवन में तो अक्सर ही ! मेरी युरोपियन पत्नी—अनीता, मुझे अक्सर कहा करती थीं कि चलो, आज प्रो० शर्मा से मिल आएँ। वे शर्मा जी से काफी प्रभावित थीं।

सरकार की ओर से एक आर्ट ऐन्ड क्रैफ्ट सेमिनार का आयोजन हुआ था, जिसका मैं डाइरेक्टर नियुक्त हुआ था। इस सेमिनार में बोलने के लिए मैंने नलिनजी को आमंत्रित किया था। नलिनजी के मधुर, सरल तथा ज्ञान-प्रद भाषण से श्रोता बहुत प्रभावित हुए थे।

तीन-चार वर्ष हुए जबसे मैं बँगलोर में आ गया तो नलिनजी से मेरी आखिरी मुलाकात यहाँ आने के कुछ समय पहिले हुई थी। उसी वर्ष मार्च में मैं दिल्ली गया था और वहाँ मालूम हुआ कि वे भी दिल्ली आए हुए हैं, पर दुर्भाग्यवश उनसे नहीं मिल सका। काश ! मैं जानता कि नलिनजी अकस्मात्, हमेशा के लिए हमसे विदा हो जायेंगे ! विश्वास नहीं होता कि अब मैं नलिनजी को नहीं देख सकूँगा। मेरा संबंध नलिनजी से कितना घना और अपना था यह मैं अब महसूस कर रहा हूँ। उनका निधन १२ सितम्बर को हुआ और उसी सप्ताह मैंने दो-तीन बार उन्हें स्वप्न में देखा, और मन-ही-मन डरने भी लगा था कि क्या कोई अनिष्ट होने जा रहा है !

✠

दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी
प्राचार्य, बी० एन० कॉलेज, पटना

जैसा मैंने उन्हें जाना

[—*"नलिनजी निर्भीक आलोचना और स्नेहसिक्त मित्रता का, हिन्दी-संसार से अपना अधिकार माँगते थे। नलिनजी एक ओर कुसुम-मृदु थे तो दूसरी ओर वज्र-कठोर भी। उनकी प्रकृति के इन दोनों पक्षों को स्वीकार करके ही उन तक पहुँचा जा सकता था।"* विद्वान कलाकार डॉ० विद्यार्थी का यह विश्लेषण नलिनजी के व्यक्तित्व का नीर-क्षीर-विवेक उपस्थित कर रहा है।]

मृत्यु अपराजेय है, किन्तु पराजय जीवन की भी नहीं होती। मृत्यु पार्थिव शरीर लेती है, इससे अधिक कुछ लेने की क्षमता उसमें नहीं। जीवन मृत्यु को स्वीकार करता हुआ भी उसका अतिक्रमण करता है। सन्तान, सुयश, परम्परा, ये सब इस अति-क्रमण के ही प्रतीक तो हैं। मनुष्य चला जाता है, उसकी कृति तथा स्मृति फिर भी

रहती हैं। वृत्ति तथा स्मृति, इन दोनों धरातल पर स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा का यश-सौरभ बहुत दिनों तक रहेगा। जो रचनाएँ वे छोड़ गए हैं वे स्वल्प होकर भी समसामयिक हिंदी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं और उनके जैसे मितभाषी, संकोची मित्र की स्मृतियों में भी कहीं कुछ आकस्मिक तथा नाटकीय नहीं, जो कुछ है वह पूस की गंगा-सा सरल और पवित्र है।

नलिनजी से पहले-पहल कब और कहाँ भेंट हुई थी, याद नहीं। जीवन की कितनी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ ऐसी होती हैं जिनका उँगलियों की पोर पर हिसाब-किताब नहीं किया जा सकता। आज से चौबीस-पचीस वर्ष पहले की ग्रीष्म की एक धूसर उदास संध्या याद आती है जब पटना लॉन में (जिसे अब गांधी मैदान कहते हैं) स्वर्गीय श्री जनार्दन सहाय मुझे तथा शर्माजी को साथ लेकर बैठे थे। जनार्दन ने ही नलिनजी से मेरी जान-पहचान कराई होगी। पटना-स्थित साहित्यकारों की जो पीढ़ी १९३५-४० के बीच तैयार हुई उसमें जनार्दन सहाय का अन्यतम स्थान था। उन्होंने अंगरेजी में एम० ए० किया था और अपनी प्रतिभा और अपने अध्ययन के आधार पर वे हिंदी आलोचना, कहानी तथा कविता के क्षेत्र में अपनी कृतियों से अपने मित्रों को चकित करने लगे थे। असमय ही उनका भी निधन हुआ। बी० एन० कॉलेज से थोड़ा पूरब, बस स्टैंड के पास का उनका निवास-स्थान, "पैनाठी लॉज" पटने के हिंदी साहित्यकारों के लिए उन दिनों मिलने-जुलने का केन्द्रस्थल था। पण्डित छबिनाथ पांडेय, पण्डित नन्दकिशोर तिवारी, श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', श्री हरेन्द्रदेव नारायण, श्री बटुकदेव मिश्र, श्री नलिन विलोचन शर्मा, ये दो पीढ़ियों के साहित्यकार पैनाठी लॉज में प्रायः उपस्थित रहते। ब्रिज के दौरे और चाय की चुस्कियों के बीच वहाँ ईश्वर से लेकर आम के बाजार-भाव तक सभी विषयों पर हमारा वाद-विवाद होता, हमारे झगड़े होते और हमारी सन्धियाँ होती थीं। ताश के खेल में हारे गर्जन-तर्जन करनेवाले पण्डित नन्दकिशोर तिवारी की मुखमुद्रा इन पंक्तियों को लिखते समय मेरी आँखों के आगे आ खड़ी होती है। पण्डित छबिनाथ पांडेय मुँह में गिलौरियाँ दाबे ताश के पत्तों में कुछ इस तरह खो जाते थे कि उनके लिए सृष्टि के अन्य सारे व्यापार निरर्थक हो जाते थे। पैनाठी लॉज से अधिक मैंने उन्हें ताश खेलते हुए मखनिया कुआँ के अग्रवाल होस्टल में देखा है, जहाँ हम दोनों के मित्र श्री अमरेन्द्रनारायण अग्रवाल (इन दिनों रजिस्ट्रार, भागलपुर युनिवर्सिटी) अधीक्षक थे। जनार्दन कम बोलते थे और बड़ी मीठी, साथ ही धीमी आवाज में बोलते थे। कोई व्यंग्यपूर्ण बात कहते समय उनकी भावभंगिमा देखने योग्य होती थी। एक हलके भ्रूनिक्षेप और सधे वाक्य-खण्ड के सहारे जनार्दन

आपके और हमारे कितने ही विश्वासों को अन्धविश्वास सिद्ध कर देने की क्षमता रखते थे : बनार्ड शा उन्होंने व्यर्थ ही नहीं पढ़ा था। तिवारीजी का क्रोध, पण्डित छबिनाथ पांडेय का ताश के पत्तों को लेकर निदिध्यासन, 'मुक्त'जी की मुस्कान, जनार्दन का व्यंग्य, यह सब तो याद आता है लेकिन श्री नलिन विलोचन शर्मा की उस मंडली में मुझे इस क्षण याद नहीं आती। उनकी भव्य-आकृति और उनका विराट् शरीर किसी भी समुदाय में औरों से उन्हें पृथक् करने के लिए पर्याप्त थे, पर यह उनका शील-संकोच ही था जो उन्हें प्रायः मौन रखता था, जिस कारण पैनाठी लॉज की उस मण्डली में औरों से अलग कर मैं उन्हें इस वक्त नहीं देख पा रहा हूँ। पटना लॉन में उस शाम हम तीनों—जनार्दन, नलिनजी और मैं—एक अर्से तक बैठे रहे थे। चर्चा का विषय साहित्य ही था। सक्रिय राजनीति की ओर हम तीनों में किसी की भी अभिरुचि नहीं थी और "स्कैंडल" हमारी पीढ़ी के युवकों के लिए मनोविनोद का विषय नहीं बन पाया था। उस शाम नलिनजी ने क्या कुछ कहा, इसकी तफसील मुझे याद नहीं लेकिन यह अच्छी तरह याद है कि उनकी बातों से मैं प्रभावित हुआ था।

मेरी उनकी अन्तिम भेंट उनकी मृत्यु के कोई चार-पाँच दिन पहले हुई। वैसे हम दोनों एक ही विश्वविद्यालय के अध्यापक थे, किंतु इधर मैं विश्वविद्यालय के अपने प्रशासकीय कार्य के अतिरिक्त अपनी कोठरी की ही शरण रहता और वे साहित्य-सम्मेलन तथा अन्य संस्थाओं के संगठन-कार्य को लेकर व्यस्त रहते। मेरी उनकी भेंट विश्वविद्यालय की नियुक्ति-समितियों तथा अन्य सभाओं में महीने-दो महीने पर हो जाया करती थी। अचानक उस दिन शाम को उनका फोन आया। उन्होंने मेरा कुशल-समाचार पूछा—"आप कल शाम को घर होंगे क्या? मैं आना चाहता हूँ। बहुत दिनों से आपसे भेंट नहीं हुई; अपनी कहानियों की नई किताब भी आपको देनी है।" दूसरे दिन संध्या समय जब वे आए, पण्डित छबिनाथ पांडेय भी मेरे निकट थे। "कहानियों की नई किताब" से नलिनजी का तात्पर्य "सत्रह कहानियों" से रहा होगा, जो हाल ही राँची से, प्रकाशित हुई है। पुस्तक वे साथ नहीं लाए थे। हम तीनों बड़ी देर तक उस शाम प्रधानतया साहित्यिक विषयों पर विचार-विनिमय करते रहे थे। इधर उनका शरीर बहुत कृश हो गया था। मैंने कहा, "आहार-नियंत्रण से लोगों को शरीर घटाते मैंने पहले भी देखा है लेकिन इतनी सफलता के साथ नहीं।" वे बोले, "मेरा नुस्खा बड़ा सरल है, और लोग तरकारी के साथ रोटी खाते हैं और मैं रोटी के साथ तरकारी खाता हूँ।" (उनका तात्पर्य था : दूसरों का प्रधान भोजन रोटी है, तरकारी का उपयोग तो वे रोटी को सुस्वादु बनाने के लिए करते हैं जबकि स्वयं उनके लिए सब्जियाँ ही प्रधान भोजन थीं,

रोटी के एक-आध लुक़मे ज़ायक़ा बदलने को वे लेते थे।) जाने क्या सोचकर, कुछ रुककर, फिर बोले—"सच पूछिये तो एक विरक्ति का भाव भी मेरे मन में है। इस शरीर को मक्खन और मेवे और बढ़िया पक्वानों पर पाला गया और इन सबसे पल कर ही यह शरीर जब चिंता का कारण बना तब भोजन में रुचि नहीं रह गई।" उस दिन पंडित छविनाथ पाण्डेय और मैंने न जाना था कि शरीर के प्रति विरक्ति की नलिनजी की यह बात किस निर्ममता से फलवती होनेवाली है और किस दारुण प्रसंग में पण्डित छविनाथ पांडेय तथा मेरे मन में बहुत दिनों तक वह बराबर उठती रहेगी और हमें विचलित करती रहेगी।

उस शाम साहित्य-चर्चा के सिलसिले में नलिनजी ने कहा था, "हिन्दी में ऐसा क्यों हो रहा है कि निष्पक्ष आलोचना व्यक्तिगत सम्बन्धों का विघटन कर रही है ! मैं किसी का मित्र हूँ फिर भी उसकी कृतियों की निष्पक्ष आलोचना का मुझे अधिकार तो होना चाहिए और इस आलोचना का हम दोनों के व्यक्तिगत सम्बन्ध पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।" नलिनजी निर्भीक आलोचना और स्नेहसिक्त मित्रता का, हिन्दी-संसार से अपना अधिकार माँगते थे। शायद, यह अधिकार उन्हें मिल नहीं पाया। नलिनजी एक ओर कुसुम-मृदु थे तो दूसरी ओर वज्र-कठोर भी। उनकी प्रकृति के इन दोनों पक्षों को स्वीकार करके ही उनतक पहुँचा जा सकता था।

एक बार प्रायः दो वर्ष पहले, प्रेमचन्द-जयन्ती के अवसर पर "बचन-देवी-साहित्य-गोष्ठी" में विशेष अतिथि के रूप में उन्होंने मुझे आमन्त्रित किया। उनका अनुरोध मेरे लिए अकाट्य होता था। गोष्ठी में उस रात वे कुछ देर से पहुँचे। तब तक मेरा भाषण प्रारम्भ हो चुका था। किसी शिष्टमण्डल के साथ किसी मंत्री महोदय के यहाँ उन्हें जाना पड़ा था। जहाँ से लौटने में उन्हें विलम्ब हो गया था। प्रेमचन्दजी पर बोलते हुए उस रात नलिनजी ने कहा था कि जैनेन्द्रजी ने प्रेमचन्द-सम्बन्धी उन्हें कभी एक घटना सुनाई थी। एक सज्जन प्रेमचन्दजी से मिलने काशी के उनके निवास-स्थान को ढूँढ़ते हुए उस गली में पहुँचे जिसमें प्रेमचन्दजी रहते थे किन्तु प्रेमचन्दजी के मकान का पता उन्हें न तो नुक्कड़ पर का तम्बोली बतला सका था और न उस गली में रहनेवाली वह बुढ़िया बतला सकी थी, जिसे उस सज्जन ने राह में देखा था। उस संकट से उनका उद्धार स्वयं प्रेमचन्दजी ने उस स्थान पर सहसा उपस्थित होकर किया था। प्रेमचन्दजी बाजार से घर लौट रहे थे और गली में उस आगन्तुक महोदय से उनकी भेंट हो गई थी। फिर तो वे आगन्तुक को बड़े चाव से अपने घर लिवा गए थे। अड़ोस-पड़ोस के प्रति प्रेमचन्दजी इतने निस्संग थे। नलिनजी ने घटना की चर्चा की और कहा, "उनकी

यह निस्संगता उनके उपन्यासों में भी हमें देखने को मिलती है। उनके पात्रों के साहचर्य में हम देखते हैं कि अपनी सारी सहानुभूति इन पात्रों के प्रति उँडेल कर भी उनके चरित्र की आलोचना में प्रेमचन्द कितने तटस्थ और निर्मम हैं।" जिस संवेदनशीलता तथा निर्मम तटस्थता के समन्वय की प्रेमचन्दजी के व्यक्तित्व और साहित्य के संदर्भ में नलिनजी ने उस दिन चर्चा की थी, मुझे प्रतीत होता है, वह समन्वय स्वयं नलिनजी के व्यक्तित्व और कृतित्व में भी सदैव उपस्थित था।

याद आता है, मैं और नलिनजी, विश्वविद्यालय के कुछ अन्य अध्यापकों के साथ सभी बक्सर गये थे। डुमरी कॉलेज की नियुक्तियों के लिए इन्टरव्यू होनेवाले थे और उनमें हम सब विशेषज्ञ की हैसियत से बुलाए गए थे। लौटते समय मैं और नलिनजी साथ आए। पटना जंक्शन पर उस शाम मुझे अचानक दमे का दौरा आया। नलिनजी के चेहरे पर ही घबराहट देखते हुए उस दिन अपनी तकलीफ भूलकर मुझे उन्हें धीरज बँधाने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। राह में उनका ही घर पहले पड़ता था, किन्तु वे मुझे अकेला छोड़ने को तैयार नहीं थे। बड़ी कठिनाई से उन्होंने यह स्वीकार किया कि मैं उन्हें छोड़कर अकेले घर लौटूँ। मैंने उन्हें प्रायः सदैव उलाहना दिया कि मेरे प्रति उनका प्रेम उनकी आलोचना-बुद्धि पर हावी हो रहा है। यह बात कभी उन्होंने स्वीकार नहीं की। हमारे इस झगड़े का निपटारा न हो पाया और वे चले गए।

सन् १९४३-४४ के आसपास की बात है कि मैं एक बार 'मुक्तजी' से मिलने सिमली गया। पटना सिटी चौक से कुछ और पूरब जाकर यह सिमली मुहल्ला पड़ता है जहाँ 'मुक्तजी' अपने किसी चाचा की ठाकुरबाड़ी में, उन दिनों रहा करते थे। गर्मियों की शाम थी और उस निर्जन ठाकुरबाड़ी के प्रांगण में देर तक हम गप्पें लड़ाते रहे। नलिनजी भी उस शाम वहाँ उपस्थित थे। रात का खाना खाकर मैं और नलिनजी सिमली में ही रह गए। कॉलेज बन्द था; हमें लौटने की जल्दी नहीं थी। दूसरे दिन 'मुक्तजी' ने अपनी वह पुरानी छोटी मोटरगाड़ी निकाली जिसे 'बिजली' के सम्पादनकाल के बाद वे पद्मा, हजारीबाग से, खरीदकर लाए थे। उनका हुक्म हुआ, हम इसी मोटरकार से बाँकीपुर चलेंगे। उस मोटरकार का अस्थि-पंजर दीखता था; उसकी ढीली-ढाली आकृति को देखकर उसमें आस्था होती न थी। किंतु 'मुक्तजी' मशीनरी का कुछ ज्ञान रखते हैं, इस बात में मेरी आस्था बराबर रही है। 'मुक्तजी' के चचेरे भाई ने गाड़ी की मरहम-पट्टी की, उसे तेल-पानी पिलाया और नलिनजी, मुझे तथा मुक्तजी को लेकर शोर मचाती वह मोटरकार सिमली से बाँकीपुर चली। याद आता है कि हम ऊपरवाली सड़क से न लौटकर कंकड़बागवाली सड़क से लौट रहे थे जिसे आजकल "पटना बाई-पास" कहा जाता है।

हमने बुद्धिमानी का ह काम किया था, क्योंकि मुझ और नलिनजी जैसे दो भारी-भरकम आदमियों के लिए उस कृशकाय गाड़ी की मेनरोड की भीड़-भाड़ में अपनी राह तय करने की संभावना कम ही थी। निर्जन कंकड़बागवाली उस सड़क पर वह मोटर-कार उस दिन राह में तीन-चार बार तो जरूर ही कल-पुर्जे की खराबी के कारण रुकी थी। उस दिन मैंने जाना कि नलिनजी को कल-पुर्जे का भी शौक है। 'मुक्तजी' और नलिनजी बारी-बारी से उसे ड्राइव कर रहे थे और बीच-बीच में उसकी दवा-दारू भी करते चल रहे थे। यों पाँच-छः मील की राह उस दिन हमने कोई दो-ढाई घण्टों में तय की थी। किन्तु हममें से किसी के चेहरे पर कोई शिकन न थी। नलिनजी की विनोदप्रियता बड़ी प्रखर, साथ ही मर्यादित थी। उनकी चुटीली उक्तियों ने उस यात्रा का श्रम हमें प्रतीत ही न होने दिया।

पटना कॉलेज मैगजीन का मैं कुछ दिनों तक प्रधान सम्पादक था। सम्पादक-मण्डल में नलिनजी भी थे। उस वर्ष निश्चय किया गया कि पत्रिका की सम्पादकीय टिप्पणियाँ अंगरेजी में न जाकर हिन्दी में जायँ। नलिनजी ने, मेरे आमंत्रण पर, टिप्पणियाँ लिखने में मेरा साथ देना स्वीकार किया। नलिनजी यह चाहते थे कि मेरी और उनकी टिप्पणियों के नीचे मेरे और उनके नाम के संकेताक्षर अलग-अलग दिए जायँ। आगे चलकर 'साहित्य' की सम्पादकीय टिप्पणियों में उन्होंने यही क्रम रक्खा और उन टिप्पणियों के नीचे या तो शिवपूजन सहायजी का संकेत-नाम 'शिव' लिखा रहता था या शर्माजी का हस्ताक्षर "न० वि० श०"। मुझे पटना कॉलेज पत्रिका के लिए यह बात पसन्द नहीं थी। मैंने नलिनजी से कहा था कि जब अंगरेजी में पत्रिका की टिप्पणियाँ छपती थीं तब उन टिप्पणियों के भिन्न-भिन्न लेखकों के हस्ताक्षर नहीं छपा करते थे और इसी परम्परा का निर्वाह हिन्दी टिप्पणियों के लिए भी वांछनीय होगा। स्पष्ट ही नलिनजी को मेरा प्रस्ताव बहुत अच्छा नहीं लगा होगा किन्तु उसे स्वीकार करने में उन्होंने एक क्षण भी विलम्ब नहीं किया। नलिनजी की जैसी शालीनता अन्यत्र मिलना कठिन है।

पटना कॉलेज हिन्दी-साहित्य-परिषद् की एक विशेष सभा की याद आती है जो कॉलेज के न्यू जिमनेजियम में हुई थी और जिसमें लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ० केसरी-नारायण शुक्ल का "प्राचीन पोथियों में हिन्दी गद्य के रूप" पर व्याख्यान हुआ था। व्याख्यान के बाद धन्यवाद-ज्ञापन का भार दिया गया श्री नलिन विलोचन शर्मा को। शर्माजी ने नपे-तुले शब्दों में भाषण की सराहना की, भाषण की त्रुटियों की चर्चा करते हुए उन्होंने एक बात यह बतलाई कि भाषणकर्त्ता महोदय ने मिथिला के ज्योतिरीश्वर ठाकुर के प्राचीन गद्य की चर्चा ही नहीं की, फिर सौहार्दपूर्ण शब्दों में उन्होंने अपना धन्यवाद-

ज्ञापन समाप्त किया। अबतक मैं हिन्दी-साहित्य-परिषद् की सभाओं में आवेश-पूर्ण धन्य-वाद-ज्ञापन ही सुनता आया था, यह पहला अवसर था जब अंगरेजी परम्परा के अनुसार किसी विद्वत्सभा के धन्यवाद-ज्ञापन में उस सभा के सभापति महोदय के भाषण की सार-गर्भित आलोचना भी मैंने सुनी थी। शर्माजी हिन्दी के विद्वान तो थे ही, साथ ही पाश्चात्य परम्परा और रीति-रिवाज के भी जानकार थे।

नलिनजी ने संस्कृत का विधिवत् अध्ययन किया था। उनकी आदि शिक्षा संस्कृत में ही हुई थी, हिन्दी में एम० ए० तो उन्होंने पीछे चलकर किया। किन्तु विचित्र बात यह थी कि संस्कृत में निष्णात होकर भी उन्होंने पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियों को इतनी अच्छी तरह पहचाना और गत के उनके ज्ञान ने आगत तथा आगामी के प्रति उन्हें कभी अनुदार नहीं होने दिया। उनकी आलोचना में पाश्चात्य साहित्य के स्वर बोलते हैं, गोकि इन स्वरों की पृष्ठभूमि भारतीय आलोचना ही है, जिसका उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। उनकी एक कविता "बिब्बो का बिब्बोक" "पाटल" में प्रकाशित हुई। कविता में किसी आधुनिका के व्यक्तित्व का व्यंग्यपूर्ण विश्लेषण था। प्राचीन रीतिग्रन्थों से अछूते कितने मित्र "बिब्बोक" को बिब्बो से बना शब्द मान बैठे थे जब कि वास्तविकता यह थी कि "बिब्बोक" हिन्दी रीति-साहित्य का एक सुपरिचित पारिभाषिक शब्द है और इस 'बिब्बोक' को लेकर ही अपनी कविता की नायिका का नलिनजी ने नामकरण किया था, न कि "बिब्बो" के अनुसार "बिब्बोक" का। रूढ़ि और क्रान्ति नलिनजी की रचनाओं में गलबाहीं दिए चलती थीं। श्रेष्ठतम और समर्थतम साहित्य की यही पहचान भी है।

प्रपद्य, कहानी, वेश्मनाटक, आलोचना, कितनी दिशाओं में नलिन विलोचन शर्मा की प्रतिभा ने नए क्षितिज का निर्माण किया और सहसा वे हमारा साथ छोड़ गए। अपनी हाल ही प्रकाशित "रजनी और तारे" नाम कहानी-संग्रह की जो प्रति मैंने उन्हें भेंट की थी उसमें मैंने उन्हें "साथी संगतराश" कहकर सम्बोधित किया था। कहानी लिखना पत्थर पर की नक्काशी ही तो है। नलिनजी को वह बात पसन्द आई थी। जिस तरह की मर्मस्पर्शी कहानियाँ वे स्वयं लिखते थे, काल उनके जीवन के माध्यम से स्वयं लिख गया। नलिन विलोचन शर्मा चले गए, किन्तु उनके जीवन की जो कहानी रह गई है, वह कड़ी-से-कड़ी कसौटी पर जाकर भी खरी उतरेगी।

✣

देवराज उपाध्याय
गौरीभवन, बापूनगर,
अजमेर

संबंधी : सखा : सचिव

[डॉक्टर देवराज उपाध्याय के नलिनजी घनिष्ठ सम्बन्धी ही नहीं, सखा और सचिव भी थे। इसीलिए उनका यह निकट निदर्शन है कि—*"भले ही उन्होंने राजनीतिक आन्दोलनों में भाग नहीं लिया था पर उनकी आत्मा मूलतः विद्रोही थी। रूढ़ियों के विरुद्ध, सस्तापन के विरुद्ध, सतहीपन के विरुद्ध !"*]

नलिनजी के नाम के साथ स्वर्गीय विशेषण जोड़ने के लिए मैं बचा रहूँगा इसकी कल्पना भी मैंने नहीं की थी। मेरे वे निकट के सम्बन्धी तो थे ही पर साथ ही घनिष्ठ मित्र, सखा तथा सचिव भी थे। जब कभी भी कोई साहित्यिक, पारिवारिक एवं अन्य किसी प्रकार की जटिल समस्या उत्पन्न होती थी तो उनके पास ही समाधान के लिए जाता

था। वे मुझसे उम्र में छोटे थे और स्वभावतः धीर और गम्भीर थे, लोग उनकी लहीम-शहीम मूर्त्ति को देखकर दहशत खाते थे पर इस हिमालय की छाती में कौन-सी स्रोतस्विनी प्रवाहित हो रही है इसे कम लोग देख पाये थे। मेरे जैसे कुछ व्यक्ति जो उनके अन्तस्तल की झाँकी ले पाये हों उनके लिए जीवन का जो एक मधुर आकर्षण नष्ट हो गया वह कभी भी प्राप्त होनेवाला नहीं है। हृदय में जो रिक्तता आ गई वह कभी भी पूरी होनेवाली नहीं है। जीवन में मैंने बहुत-सी विपत्तियाँ झेली हैं, कष्ट उठाये हैं पर नलिनजी के खोने के बाद अब मेरे लिए कुछ ऐसी चीज नहीं रह गई जो उल्लास का संचार कर सके। यह विपत्तियों की विपत्ति है, जिसके सामने कोई भी विपत्ति तुच्छ है।

ऐसे बबुआ (नलिनजी) के सम्बन्ध में कुछ लिख पा सकने की शक्ति कहाँ से बटोर पाऊँ? १६३२ में जब उनके परिवार के साथ मेरा सम्बन्ध हुआ तब वे शायद मैट्रिक या इन्टरमिडियट के विद्यार्थी थे। नलिनजी की अवस्था छोटी थी; उस समय गाँधीजी के नेतृत्व में स्वाधीनता-आन्दोलन चल रहा था उसमें वे भाग नहीं ले सकते थे। पर मैं तो सजायाफ्ता आदमी था, जेल जा चुका था। विवाह के बाद कुछ ऐसी परिस्थिति हुई कि जेल न जा सका पर दागी तो था ही, खुराफात करने की प्रवृत्ति तो थी ही। मुझे बात याद नहीं आती कि क्या थी। शायद स्कूल के हेडमास्टर ने नलिनजी से यह जवाब तलब किया था कि अमुक तिथि को स्कूल से अनुपस्थित क्यों रहे? मैंने नलिनजी से कुछ बेढंगा-सा, विद्रोहात्मक (जैसा उस समय के छात्र लिखा करते थे) लिखवा दिया। बाद वह में पत्र माई (नलिनजी की माता) के पास भेजा गया। माई घबड़ाईं तो बहुत, पर ऊपर से कुछ भी घबड़ाहट का परिचय नहीं होने दिया। उस समय धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी (नलिनजी के पिताजी के प्रिय शिष्य होने के नाते) परिवार में बहुत आते-जाते थे। उन्हीं के द्वारा सारी बातें जैसे-तैसे सुलझाई गईं। है यह बात छोटी-सी पर यह इस बात की ओर संकेत करती है कि नलिनजी किस धातु के बने थे। भले ही उन्होंने राजनीतिक आन्दोलनों में भाग नहीं लिया हो पर उनकी आत्मा मूलतः विद्रोही थी। रूढ़ियों के विरुद्ध, सस्तापन के विरुद्ध, सतहीपन के विरुद्ध। वे बातें बनाना नहीं जानते थे, स्वभाव से "लजकोंकड़" थे, जनता के सामने जाने में घबड़ाते थे पर अन्दर-ही-अन्दर उनके हृदय में आग जलती रहती थी। मुझसे कई बातों में मतभेद रहता था। मैं स्वभाव से बातूनी था, बहुत बोलता था। साहित्य-क्षेत्र में भी पाठकों का बहुत ध्यान रखता था, मेरा प्रयत्न यह होता था कि बातें इस ढंग से कही जायँ या लिखी जायँ कि पाठकों की रुचि बनी रहे, वे ऊबें नहीं। पर वे इस बात से

सहमत नहीं होते थे। मैंने उनसे हाल ही में कहा था कि "साहित्य के इतिहास दर्शन" में तुम्हारे पांडित्य का, अध्ययन का तो दर्शन होता है, पाठक को चाहे तो दबोच भी दो पर ऐसा कहीं नहीं लगता कि लिखते-लिखते तुम कहीं उच्छ्वसित भी हुए हो। सब कुछ तो मिलता है, तुम नहीं मिलते। एक थी गेंदा तमोलिन। वह तो पान देती ही थी पर साथ ही एक मुस्कान भी सौंप देती थी। वह मुस्कान इसमें नहीं है।" वे बोले कि "साहित्य का काम मुस्कान बाँटना नहीं है। मेरा साहित्य जो पढ़े वह प्रत्येक पंक्ति को तीन-तीन चार-चार बार पढ़े। यही बात मेरी कहानियों तथा कविताओं में भी है।" बातें तो उन्होंने और भी कही थीं। शुक्लजी तथा हिन्दी के अन्य आलोचकों के बारे में भी कुछ कहा था। पर वे सब बातें धीरे-धीरे कही जायेंगी।

आज तो हम सब उनको खोकर स्तब्ध हैं। उनकी याद सदा आती रहेगी। जब कभी कोई बात सामने आयेगी, और उसका हल नहीं सूझेगा, जब कभी साहित्यिक गोष्ठी होगी और कोई विवादास्पद प्रश्न छिड़ जायगा, उस समय असहाय होकर हम नलिनजी की याद करेंगे।

..."इन बेचारी लड़कियों को हर घड़ी यही सुनने को मिलता है कि वे बालकों की तुलना में सर्वथा अयोग्य हैं।......किसी बात को बार-बार सुनने के बाद आदमी स्वभावतः उसमें विश्वास करने लग जाता है। यदि ये बालिकाएँ अपने को अयोग्य समझने लगें और आत्म-विश्वास खो देने के बाद अवसर आने पर अयोग्य प्रमाणित हो जाएँ, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।...असत्य की निरन्तर पुनरावृत्ति की प्रतिक्रिया कितनी सफल हो सकती है, इसका हमें पूरा अनुभव है।

'दृष्टिकोण'   —न० वि० शा०

✣

सत्य और तथ्य के समर्थक

देवव्रत द्विवेदी

हिन्दी-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़

[हिन्दी के एक सेवक का यह सरल उद्गार किस स्नेह से सन जाता है जब वह कहता है कि—*"हिन्दी के पुनरुत्थान में नलिनजी ने जो बहुमूल्य योग दिया है, उससे उऋण होना सम्भव नहीं। उनकी रचनाओं में हिन्दी को राष्ट्रभाषा-पद पर बिठाने की एक नई भावना हिलोरें ले रही है।"*]

* * *

सन् १९५२ से मैं 'साहित्य' के माध्यम से स्वर्गीय नलिनजी को जानता था। आचार्य डॉ० हजारीप्रसादजी द्विवेदी के द्वारा मेरा प्रथम परिचय नलिनजी से सितम्बर १९५८ में हुआ। परिचय तो मुझे जीवन में अनेक लोगों से हुआ परन्तु इस तरह का नहीं। नलिनजी पिछले फरवरी-मार्च के महीनों में पी० एच० डी० की मौखिक परीक्षा लेने के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आये थे। ग्यारह बजे तक विश्वविद्यालय के कामों

से निवृत्त होकर मुझे डॉ० रामदेव मिश्र के मकान पर बातचीत करने के लिए बुलाया। मैं वहाँ निःसंकोच भाव से गया। दो घंटे तक जम कर बातें हुई। उन्होंने डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी और डॉ० राजबली पाण्डेय के बारे में विस्तृत रूप से समाचार पूछा। मुझे जो बातें जहाँतक मालूम थीं, सभी उनसे कह दीं। उसी सिलसिले में उन्होंने मुझसे कई बार पटना के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन कार्यालय के भार को संभालने के लिए कहा परन्तु मैंने उनसे यही कहा कि—

"चना चबेना गंग जल औ करवे करतार, काशी कबहुँ न छाड़िये विश्वनाथ दरबार।"

परन्तु मुझे क्या पता था कि इस मुलाकात के बाद उनका दर्शन दुर्लभ हो जाएगा। योग्य पिता का पुत्र इतनी शीघ्र ४६ की आयु में ही काल-कवलित हो जायगा!

नलिनजी सचमुच में हिन्दी के उद्‌भट महारथियों में से एक थे। वे एक महान साहित्यिक ही नहीं, वरन् आधुनिक हिन्दी के एक निर्माता भी थे। वे बिहार के लिए सम्मानीय साहित्यकार तो थे ही साथ ही बिहार के बाहर भी अन्य प्रान्त के लोग उनका लोहा मानते थे।

जन-कोलाहल से दूर, वे सृष्टि करते थे। साहित्यकारों की दृष्टि में वे केवल साहित्यिक ही हों, किंतु सामान्य जनता की दृष्टि में एक मार्गदर्शक भी थे। उन्होंने अपनी कृतियों में भव्यता, उत्कृष्टता के आभूषणों के साथ-साथ सत्य, शिव और सुन्दर को भी अपने साहित्य का विषय बनाया था। वे साहित्य में सत्य और तथ्य दोनों के समर्थक थे।

उनके साहित्य के विषय विविध और व्यापक रहे और उनके साहित्य का क्षेत्र भी मानव जीवन की तरह विशाल रहा। शिक्षा, नवीन प्रगति और समीक्षा इन सब में वे रस लेते थे और अपने साहित्य द्वारा इन सब क्षेत्रों में मार्ग-दर्शन करते थे। जीवन में उनकी श्रेष्ठता सभी लोगों ने स्वीकार की। हिन्दी के पुनरुत्थान में नलिनजी ने जो बहु-मूल्य योग दिया है उससे उऋण होना संभव नहीं। उनकी रचनाओं में हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर बिठाने की एक नई भावना हिलोरें ले रही है। और अंग्रेजी के बन्धनों को काटने एवं राष्ट्रभाषा में सभी कार्य करने की उत्कट लालसा सर्वत्र परिलक्षित होती है।

✣

हिन्दी के सच्चे सेवक

देवव्रत शास्त्री

प्रधान सम्पादक, 'नवराष्ट्र', पटना

[प्रतिष्ठित पत्रकार पं० देवव्रत शास्त्रीजी की यह निर्भीक घोषणा कितना दोटूक है कि—*"प्रो० नलिन विलोचन शर्मा कॉलेज के आजकल के प्रोफेसरों की नाईं प्रोफेसर मात्र नहीं थे, बल्कि हिन्दी के एक सच्चे सेवक थे।"*]

※ ※ ※

आज से २७ वर्ष पहले, यानी १९३४ ई० की बात है, जबकि नलिनजी से मेरी पहली मुलाकात हुई थी। उस समय वह पटना कॉलेज के विद्यार्थी थे और मैं उन्हीं का मकान, जिसमें इन दिनों वह रह रहे थे, किराया लेकर साप्ताहिक 'नवशक्ति' निकाल रहा था। वह बगल के अपने दूसरे मकान में रहते थे और जबतब उनसे भेंट हो जाया

करती थी, परन्तु बात बहुत कम होती थी। उस समय से अबतक मेरा उनका सम्पर्क बढ़ता गया और जैसे-जैसे सम्पर्क बढ़ा, मैंने देखा कि जिस नलिनजी में १६३४-३५ में मैंने एक "होनहार बिरवान के होत चिकने पात" की झलक देखी थी, वह बिरवा बराबर पनपता, बढ़ता और फूलता-फलता जा रहा है और उसकी बाढ़ और छाया ऐसी घनी होती जा रही है कि उससे, उसकी हिन्दी-साहित्य साधना से, बहुत लोगों को लाभ मिलेगा, बहुत लोग सुखी और तृप्त होंगे।

प्रो० नलिन विलोचन शर्मा कॉलेज के आजकल के प्रोफेसरों की नाईं प्रोफेसर मात्र नहीं थे, बल्कि हिन्दी के एक सच्चे सेवक थे। वे हिन्दी-साहित्य के धुनी तपस्वी विद्वान और हिन्दी माँ के प्रशंसनीय पूत थे। जिन्होंने वर्षों तक लगातार, उन्हें बिहार हिंदी साहित्य-सम्मेलन के कमरे में एकान्त भाव से काम करते देखा है, वे जानते हैं कि हिंदी के लिए उनके हृदय में कितनी निष्ठा और कितना प्रेम था। और यही कारण है, उनकी उस लगन और निष्ठा का ही परिणाम है कि ४६ वर्ष की छोटी-सी आयु में ही उन्होंने हिन्दी की अमूल्य सेवा की और उस सेवा के माध्यम से अपने को एक यशस्वी और धुनी साहित्यकार बना लिया।

बिहार का और हिन्दी संसार का यह भारी दुर्भाग्य है कि उसका ऐसा सपूत और ऐसा सेवक असमय ही उठ गया! मुझे आशा है कि शर्माजी ने अपने छोटे जीवन में भी जो कुछ कर दिखाया और हिन्दी की जो सेवा की, वह हिन्दी-प्रेमियों और विशेष कर युवकों के लिए प्रेरणा और मार्ग-प्रदर्शन का काम करेगी और ऐसा अनेक युवक निकलेंगे जो नलिनजी के पद-चिह्नों पर चलकर हिन्दी-साहित्य-भण्डार को भरने में सफल होंगे।

✣

"कला में ग्राम्यता चिन्तनीय है। कला में अश्लीलता नासमझ आलोचकों का भ्रम है।"

'दृष्टिकोण' —न० वि० श०

✣

नलिनजी के साथ अंतिम यात्रा

देवेन्द्रनाथ शर्मा

हिन्दी-विभागाध्यक्ष, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

[प्रोफेसर शर्मा नलिनजी के प्रगाढ़ मित्र। परिवार के एक ऐसे सदस्य जिसके अचानक चले जाने पर—*"रेडियो खोला तो पहला समाचार कानों में पड़ा कि नलिनजी नहीं रहे। शरीर स्तब्ध हो गया और हृदय अवसन्न! मेरे परिवार के और सदस्य भी निश्चेष्ट हो गए। उस दिन रात भर मुझे नींद नहीं आई!"*]

※ ※ ※

८ सितम्बर, १६६० को राँची विश्वविद्यालय की एक बैठक थी जिसमें मुझे भी जाना था और नलिनजी को भी। ७ सितम्बर की शाम को जब मैं पटना जंक्शन स्टेशन

पर पहुँचा तो मालूम हुआ कि हम दोनों का रिजर्वेशन एक ही डब्बे में है। स्वभावतः इस संयोग से मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। इतमीनान हो गया कि अब यात्रा में मनहूसियत नहीं सता पायगी! लम्बी यात्रा में साथी मिल जाना ही गनीमत है और वह यदि मित्र हो और उसमें भी सहृदय, तो फिर क्या पूछना! नलिनजी बाहर से जितने गम्भीर दीखते थे भीतर से उतने ही सरस थे। उनसे बातें करने में कितना आनन्द आता था इसे वे ही जानते हैं जो उनके सम्पर्क में आ चुके हैं। नलिनजी हँसना भी जानते थे और हँसाना भी। स्वभावतः मैं यात्रा की सुखद घड़ियों की कल्पना करता अपने डब्बे की तलाश में प्लेटफार्म पर बढ़ता जा रहा था। एक डब्बे के दरवाजे के सामने अपना नाम पढ़कर मैं ज्यों ही रुका वैसे ही भीतर से नलिनजी ने मुस्कुराते हुए कहा—"नमस्कार।" मैं नमस्कार का उत्तर देता हुआ डब्बे में दाखिल हो गया। सामान रखवा-कर बिस्तर डलवा दिया और जम कर गप्प करने की मुद्रा में हम दोनों आमने-सामने बैठ गये। दस मिनट बाद गाड़ी चल पड़ी।

मैं राँची में डॉ० रामखेलावन पाण्डेय के साथ ठहरा था। नलिनजी एक दूसरी जगह ठहर गये थे। किन्तु दोपहर का भोजन उन्हें भी रामखेलावनजी के ही यहाँ करना था। भोजन के बाद हम साथ ही बैठक में गये। मुझे अनिवार्यतः उसी दिन शाम को लौटना था। बहुत कोशिश करने पर भी रिजर्वेशन नहीं मिल सका। नलिनजी एक दिन रुक जाने के पक्ष में थे। बिना रिजर्वेशन के यात्रा करना उन्हें अनभिमत था। पर मेरी भी लाचारी थी। मैंने कहा कि 'मुरी' में भाग्य आजमायेंगे। वहाँ प्रायः 'ताता' से आनेवाली बोगी में रिजर्वेशन मिल जाने की सम्भावना रहती है। बहुत देर तक सोच-विचार के बाद भाग्य के भरोसे हमने यात्रा करने का निश्चय किया। मुरी पहुँचने पर मैंने कहा कि आप विश्राम कीजिए। मैं सारी व्यवस्था कर लेता हूँ। ताता वाली ट्रेन में बर्थ तो दो मिल गये पर भिन्न डब्बों में। जिस डब्बे में नीचे का बर्थ मिला था उसे मैंने नलिनजी के सुपुर्द किया और आप दूसरे डब्बे में ऊपरवाले बर्थ पर चला गया। गया पहुँचते-पहुँचते मेरे डब्बे में नीचे के दोनों बर्थ खाली हो चुके थे। इसलिए नलिनजी फिर मेरे डब्बे में आ गये। यों उस समय बर्थ खाली रहने और न रहने का कोई विशेष अर्थ नहीं था क्योंकि सुबह हो चुकी थी। गया से पटने तक की अवधि में हमने न जाने कितनी समस्याओं का विवेचन-विश्लेषण किया। उन बातों की याद आज भी आन्दोलित कर जाती है।

उस दिन नलिनजी मेरे हठ के कारण ही आये अन्यथा एक-दो दिन बाद आते। ६ सितम्बर की रात को मैं मुजफ्फरपुर लौटा—हृदय में यात्रा की सुखद स्मृतियाँ सँजोये।

१२ की शाम को प्रादेशिक समाचार सुनने के लिये जो रेडियो खोला तो पहला समाचार कानों में पड़ा कि नलिनजी नहीं रहे। शरीर स्तब्ध हो गया और हृदय अवसन्न। मेरे परिवार के और सदस्य भी निश्चेष्ट हो गये। उस दिन रात भर मुझे नींद नहीं आयी। विचारों की वात्या में मैं रात भर उड़ता रहा। राँची-यात्रा का एक-एक सरस प्रसंग तीव्र दंश बन कर हृदय में लग रहा था।

नलिनजी मेरे परिवार के सदस्य जैसे थे। पटना कॉलेज में लगभग दस वर्षों तक हम दोनों ने साथ काम किया था। आत्मीयता कहने की नहीं, अनुभव की वस्तु होती है। नलिनजी के निधन से बहुतों ने बहुत कुछ खोया पर सबसे बड़ा आघात उनके परिवार के अतिरिक्त उनके मित्रों को लगा क्योंकि नलिनजी 'प्रीति की रीति' निभाना जानते थे। उनके जैसे सच्चे मित्र इस युग में विरल हैं। उनके साथ की वह अन्तिम यात्रा पत्थर की लकीर बनकर हृदय पर खिंच गयी है, जो आजीवन न मिटेगी।

उपन्यास एक ऐसा वातायन है, जिससे हम रास्ते पर बहते हुए जीवन के, या मस्तिष्क में बहती हुई चेतना के प्रवाह का अवलोकन करते हैं; छोटी कहानी एक सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र है, जिसके नीचे मानवीय अस्तित्व के रूपक के दृश्य खुलते हैं।

'दृष्टिकोण' —न० वि० श०

✣

धनेन्द्र सहाय

उप संगठन एवं पद्धति पदाधिकारी,
सचिवालय, पटना—१

एक असम्बद्ध चित्र

[श्री धनेन्द्र सहाय जी नलिनजी के बाल-साथी हैं। साहित्य-संसार से अलग रहने पर भी उनकी सौहार्द-सुधा में इन्होंने सदैव स्नान करने का सुअवसर लिया था। आज वे कहते हैं—*"उन्हें देखकर मुझे इस कहावत में सार दीख पड़ता था कि आदमी जितना ही काम-काज में व्यस्त हो, उसे उतना ही समय मिलता है।"*]

नलिनजी के विषय में क्या लिखूँ और क्या नहीं लिखूँ, यही समझ में नहीं आता। जब भी लिखने बैठता हूँ, उन दिनों की याद, जो उनके साथ बीते थे, इस तरह मानस-पट पर आने लगती है कि उन्हें सहेजना तथा उनमें क्रम स्थापित करना असंभव-सा हो जाता है। १६२६ की बात है कि मैं स्कूल में था और एक बार होली के दिन परिवार के लोगों के साथ स्टेशन के पास एक सम्बन्धी के यहाँ बंद गाड़ी में जा रहा था। जब गाड़ी एक्जिबीशन रोड, नलिनजी के मकान के पास पहुँची तो देखा कि लड़कों के जत्थे बाल्टियों में रंग घोले पिचकारियों से आने-जानेवालों को बगैर रोके और बिना रंग

आगे बढ़ने नहीं देते थे। उनमें दो के साथ कुछ ही दिनों के बाद मेरी बड़ी घनिष्ठता हो गई। एक तो थे नलिनजी, और दूसरे हैं श्री कपिलदेव नारायण (सच्चा बाबू)।

संस्कृत का अध्ययन नलिनजी के घर की परम्परा था, अतः बचपन में उन्होंने भी संस्कृत से ही अपना अध्ययन प्रारम्भ किया था। पर, जैसा वे स्वयं कहते थे, उनकी रुचि व्याकरण के अध्ययन में उतनी नहीं थी। साहित्य में ही उनकी रुचि थी। उनकी स्कूल की शिक्षा पटना कॉलेजियट स्कूल में और कॉलेज की शिक्षा पटना कॉलेज में हुई थी।

नलिनजी के पूर्वज छपरा के रहनेवाले थे, अतः उनकी बोलचाल की भाषा भोजपुरी थी। निकट के मित्रों या सम्बन्धियों से वे भोजपुरी में ही बात करना पसंद करते थे। भोजपुरी साहित्य के सृजन में उनका बड़ा उत्साह रहता था। भोजपुरी के लोकगीतों को संकलित करने, भोजपुरी में पत्र-पत्रिकायें निकालने, मौलिक रचनायें करने या सभाओं के आयोजन करने के लिए, लोगों को प्रेरणा देते थे, और यथासंभव अपना योग भी देते थे। मैथिली और मगही के लिये भी उनका प्रेम कम न था। पर जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की सरकार ने अपनी नीति की घोषणा की तो उन्हें बड़ा ही संतोष हुआ था। सरकार के सचिवालय में या अन्य कार्यालयों की भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी होगी, यह सोचकर ही वे बहुत प्रसन्न होते थे। पत्रों में प्रकाशित सरकारी आदेशों की रिपोर्ट में बड़ी दिलचस्पी लेते। वे कहते थे कि यदि मुस्लिम या बंगाली पदाधिकारी मात्र देवनागरी लिपि जान लें तो वे बहुत अच्छी हिन्दी लिख ले सकेंगे। मुस्लिम पदाधिकारियों की भाषा तो बड़ी ही सलीस होगी पर बंगालियों की भाषा क्लिष्ट हो जाने की संभावना है, फिर भी इसके लिए चिन्ता करने की बात नहीं थी क्योंकि नींव की ईंटों में उतना मीनमेख नहीं किया जाता। हिन्दी के भविष्य के सम्बन्ध में वे बड़े आशावादी थे।

बचपन में उन्होंने डम्बेल और चेस्ट एक्सपेंडर खरीदा था और कुछ दिनों तक किया भी। कभी टेनिस, वॉलीबॉल और बेडमिन्टन भी खेलते थे पर शारीरिक व्यायाम में उनका वैसा विश्वास नहीं था। टहलना भी यह समय को नष्ट करना ही समझते थे। वैसे कभी संध्या में हमलोगों के बहुत आग्रह करने से वे टहलने निकलते थे और तब बहुत तेज चलते थे।

जीवन-बीमा में भी उनका विश्वास नहीं था। इस सम्बन्ध में वे कहते कि जीवन का बीमा लेने के लिये व्यावसायिक कम्पनियों का सहारा लेना हास्यास्पद मालूम पड़ता है। आखिर 'डेस्टिनी' या किस्मत भी कोई चीज है।

होली और दशहरे के दिनों में मन में विशेष उत्साह रहता था। उन अवसरों पर आपस में मिलने में विचित्र ढंग की प्रसन्नता होती थी। उन अवसरों पर जीवन में सार दीख पड़ने लगता और संसार के लिये मोह हो जाता था। ऐसे अवसरों पर नलिनजी स्वयं बहुत जगह नहीं जा सकते थे, क्योंकि घर में महिलाओं और बच्चों को छोड़ उनके सिवा कोई दूसरा मर्द नहीं था और फिर मिलनेवालों का भी तो ताँता बँध जाता था। मित्र, सम्बन्धी, छात्र सभी की यही लालसा होती थी कि उनसे मिला जाय और इसलिए वे घर पर ही रहते थे क्योंकि उनके नहीं रहने से निराशा होती थी। हमलोगों ने उन्हें बख्श दिया था और हम सभी मित्र स्वयं उनके घर ही आ जाते थे। होली के दिन प्लेटों में पूए और अबीर होता। पहले अबीर लगाया जाता और तब कुछ पूए खाने पड़ते। रात में ६ बजे हमलोगों की टोली, जिसमें नलिनजी स्वयं, मैं, और कपिलदेवजी होते, गर्दनीबाग जाती। पहले हमलोग जन-सम्पर्क-विभाग के उप-निदेशक पण्डित भुवनेश्वर द्विवेदी के यहाँ पहुँचते, और उसके बाद उत्पाद-विभाग के रजिस्ट्रार पण्डित बटुकदेव मिश्र के यहाँ। वे द्विवेदी जी की पत्नी के चरणों का स्पर्श करते और उन पर अबीर डालते, तब द्विवेदी जी की पत्नी अपने से दुगुने लम्बे देवर के ललाट पर अबीर पोत देतीं। कुछ पूए-पूरी और सब्जियाँ जिनमें आँवले की चटनी अवश्य होती, खानी पड़ती। मिश्रजी के यहाँ तो अन्तिम मंजिल होती। वहीं रात का अन्तिम खाना होता और बहुत रात बीते हमलोगों को मिश्रजी से छुट्टी मिलती। १६५० के पहले, दशहरे के अवसर पर हमलोग प्रायः काशी जाया करते और अधिक-से-अधिक ८-६ दिन बिताकर पटने वापिस आ जाते। यात्रा की प्रेरणा बराबर नलिनजी की ही होती और हमलोग दशहरे की छुट्टियों का इंतजार करते रहते। गंगा के किनारे तेल-मालिश, गंगा-स्नान, दिन का भोजन स्वयं तैयार करने की लगन, पाक-शास्त्र के ज्ञान और अनुभव का प्रदर्शन, दिन में आलस्य की उपासना, संध्या की गोधूली में मिठाई या ताम्बूल! और दशाश्वमेध पर चाट खाना, और बाजरे पर सैर। एक-से-एक विनोद और हास्य की बातें—सभी घटनायें चलचित्र की तरह सामने आती हैं। नलिनजी का स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है—"खिचड़ी में नमक तेज होने की सम्भावना हो तो कटोरे का घी सब छोड़ दीजिए। खिचड़ी कुछ ढीली भी हो जायगी। कपिल की समझ में तो कुछ आयगा नहीं। मसाले ये हैं—कुछ-कुछ सभी में से दे दीजिये—जब तैयार हो जाय तो कहियेगा—बघारने की विधि मैं बताऊँगा। पाकशास्त्र के ये कुछ लटके हमीं को मालूम हैं—मिश्रजी क्या जानें, और कपिल को तो अलग ही रहने दीजिये। वह केवल भर्ता बनायें।" करते-धरते देर होती थी और भूख जोरों की लगती

थी। बड़े चाव से खाना खाया जाता था और तब निश्चेष्ट होकर देर तक पड़े-पड़े हमलोग छत ताकते रहते। नलिनजी के बचपन के साथी थे कपिल भाई, इसलिये इन्हीं पर बराबर बौछारें पड़तीं। आपस में बड़ा ही शिष्ट विनोद होता। १९५१ के बाद से दशहरा पटने में ही मनाया जाता। मिलने-जुलने के बाद कुछ रात बीते हमलोग संगी-समारोहों का आनन्द घूमते-फिरते ही लेते थे। मछुआटोली के संगीत-समारोह में एक वर्ष तो दशहरे की रात में ३ बज गये और हमलोगों को कुछ समय का ध्यान ही नहीं रहा, पर जब एक सज्जन ने, जिनसे नलिनजी का परिचय था, भेंट होने पर आश्चर्य प्रकट किया कि वे कैसे ३ बजे रात तक घर से बाहर रहकर संगीत सुनते रहे तो समय का ध्यान आते ही उन्होंने कहा—'बस, अब तो चलना ही चाहिए।'

नलिनजी को एक दिन संध्या में लाल रंग का नाइटगाउन पहने देखा तो हमलोग सभी हँस पड़े। इसका बड़ा ही सुन्दर रंग था और उनके शरीर पर यह बहुत अच्छा लगता भी था। हमलोगों के हँसने पर कपिल भाई की तरफ इशारा करते हुए उन्होंने कहा—"ये तो कहते हैं कि उम्र बढ़ने पर लाल रंग की गंजी, अद्धी का कुर्त्ता, आँखों में सुरमा, छींट की टोपी, अनीदार दिल्लीवाल लाल जूता, मुँह में पान और हाथ में बड़ी-सी छड़ी धारण करना चाहिये। नहीं तो कोई नजर उठाकर आप पर देखेगा भी नहीं!" और वह स्वयं भी हँस पड़े थे। वास्तव में अपने लिये कपड़े, जूते, या अन्य आवश्यकता की चीजें वे खुद नहीं खरीदते थे—ये काम उनकी पत्नी या चिरंजीव राजीव कर लेते थे। और उन्हें जो कुछ भी खाने या पहनने को दिया जाता वे खा लेते और पहन लेते थे।

घर के अध्ययन-कक्ष या ड्राइंग रूम में आराम से बैठने के सामान, तथा दो-एक चित्र इत्यादि जो देखने में प्रिय हों, अवश्य होते। चिंतन या अध्ययन के लिए विशेष वातावरण का होना आवश्यक भी है। फिर सारे हिन्दुस्तान के जो भी चोटी के साहित्यिक पटने आते नलिनजी से मिलने आते ही थे और इनमें बहुत ऐसे भी थे जो उन्हीं के साथ ठहरते भी थे। ऐसा करीब-करीब रोज ही होता था, इसलिये एक स्थायी प्रबन्ध कर दिया गया था जिससे न मेजमान को और न मेहमान को किसी तरह का कष्ट हो। वैसे तो कोई भी उनमें या उनके घर के वातावरण में कृत्रिमता की प्रचुरता पाता। पर वास्तविकता यह थी कि जीवन में सादगी की उनकी अपनी विचित्र शैली थी।

घर में छोटे बच्चों के साथ खेलने में उन्हें बहुत प्रसन्नता होती थी। छोटे भाई प्रेमसुन्दर शर्मा के पुत्र चिरंजीव पुहुप तो उनसे बहुत ज्यादा हिला-मिला रहता था।

जिस किसी ने भी उनका उपकार किया वे आजीवन उसके आभारी रहे। किसी

मित्र या सम्बन्धी पर कोई आपत्ति आती तो उसके प्रति उनकी समवेदना हृदय से होती थी। उनके कष्ट-निवारण की उन्हें चिन्ता होती और उसके लिए वे प्रयत्न करते। उन्हें देखकर मुझे इस कहावत में सार दीख पड़ता था कि आदमी जितना भी काम-काज में व्यस्त हो, उसे उतना ही समय मिलता है। किसी के बुलाने पर वे अवश्य पहुँच जाते। यदि विद्यार्थी घर पर आते और वे बुखार में भी पड़े होते तो भी कभी उनसे बिना भेंट किये उन्हें नहीं लौटाते थे। शोध-कार्य में उनकी बड़ी दिलचस्पी रहती थी। संध्या में विश्वविद्यालय से लौटने के बाद प्रायः कुछेक शोधकर्त्ता को अपने शोधकार्य के सम्बन्ध में बात करने के लिये बाट जोहते पाते और तब वे बिना विश्राम किये ही उनसे विचार-विमर्श करने लगते। प्रकाशक, पत्रकार, समाज-सेवी, सम्बन्धी और मित्र सभी संध्या होते ही आने लग जाते। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन भी जाने का समय होता और वहाँ भी प्रायः नित्य का जाना अनिवार्य ही था।

नलिनजी एक व्यक्ति नहीं रह गए थे, संस्था बन गए थे। न केवल साहित्यिक मित्र उनसे विचार-विनिमय करते, बल्कि संसद् के सदस्य भी उनसे विचारों के आदान-प्रदान करते, समाज-सेवी अपनी उलझनों को उनके सम्मुख रखते, मित्र या सम्बन्धी अपने संकटों और झमेलों की कथा उन्हें सुनाते। सबों को उनके उत्तर एवं परामर्श से सन्तोष होता था। कदाचित् कारण यह था कि उनमें कृत्रिमता कहीं भी नहीं थी।

इस युग की आवश्यकताओं ने पुरुषों को इस बात के लिए बाध्य किया है कि वे स्त्रियों के प्रति भाव बदलें। स्त्रियाँ उन कामों को योग्यता के साथ निभा रही हैं, जिन्हें कुछ दिन पहले तक केवल पुरुषों के योग्य ही समझा जाता था।

'दृष्टिकोण' —न० वि० श०

✠

धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री
प्राचार्य, जगजीवन कॉलेज,
आरा, बिहार

वह नृशंस संध्या न आती !....

[डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्माजी के अनन्य आत्मीय शिष्य थे और नलिनजी के द्वितीय अभिभावक भी। ये पढ़ाते रहे—*"नलिनजी को अनुज समझकर। इस क्रम में डाँट-फटकार के अतिरिक्त कनैठियाँ भी देनी पड़ीं। उस समय मुझे इसका अधिकार था। पीछे, इस पर ग्लानि और गौरव दोनों का अनुभव हुआ।"*]

❋ ❋ ❋

यह भी विधाता का क्रूर विधान है कि प्रिय नलिनजी को स्वर्गीय नलिनजी कहना पड़ रहा है। जिस नृशंस सन्ध्या को रेडियो पर नलिनजी के आकस्मिक निधन की सूचना

मिली, यदि वह न आती और हठात् प्रलय हो जाता, हम सभी साथ-ही-साथ काल कवलित हो जाते, तो अच्छा ही होता।

नलिनजी को मैं तब से जानता था जब वे दस-बारह साल के होंगे। मैं महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा के अतिप्रिय शिष्यों में से था, प्रतिभ संस्कृत का विद्यार्थी होने के नाते। उस समय संस्कृत में गुरु-शिष्य-परम्परा प्राचीन से ही थी; शिष्य अपने आचार्य के कुल का एक सदस्य होता था। मैं भी इस कारण, 'वंशोद्विधा विद्यया जन्मना च' न्याय से, पूज्य शर्माजी का उतना ही प्यारा पुत्र था, जितने थे नलिनजी। शर्माजी के आदेश से मुझे नलिनजी को इतिहास, भूगोल, अंग्रेजी, हिंदी आदि पढ़ाने का भार सौंपा गया, जो मैंने निभाया; नलिनजी को अनुज समझकर। इस क्रम में डाँट-फटकार के अतिरिक्त कनैठियाँ भी देनी पड़ीं। उस समय मुझे इसका अधिकार था। पीछे इस पर ग्लानि और गौरव दोनों का अनुभव हुआ।

दस-बारह साल बाद नलिनजी पटना कॉलेज में संस्कृत की कक्षाओं में मेरे शिष्य रहे। उस समय मुझे स्पष्ट प्रतीत हुआ कि यह युवक उन सभी भविष्णुताओं को पैतृक सम्पत्ति के रूप में सँजोए है, जिनने पं० रामावतार शर्मा को भारत का मूर्धन्य विद्वान् बनाया और उन्हें 'महामहोपाध्याय' की विरल उपाधि से विभूषित किया।

डेढ़ दशकों की अल्प अवधि के अन्दर श्री नलिन विलोचन शर्मा ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है वह एक युग अथवा स्तम्भ का प्रतीक है। विश्व-साहित्य-सर्जन की जितनी क्षमताएँ और संभावनाएँ कथित की जा सकती हैं वे सभी नलिनजी में विद्यमान थीं। उस उपवन में वसन्त ने पदार्पण ही किया था कि प्रखर निदाघ आतप ने उसे झुलसा दिया। कवि कालिदास की पंक्तियों के थोड़े से हेरफेर के साथ—

> यशसा किल विद्यया गुरुः
>
> प्रिय शिष्यः प्रथमं कलार्जने
>
> करुणापि मुखेन मृत्युना
>
> हरता तं वद किं न मे हृतम्।

✠

तुम्हीं सो गए दास्ताँ कहते-कहते !

नरेन्द्र नारायण लाल

जनसम्पर्क-विभाग, बिहार, पटना

[—*"नलिनजी में एक ऐसा आकर्षण था, ऐसी कशिश थी कि जो भी उनके सम्पर्क में आया, उनका हो गया। वे एक केन्द्र-विन्दु थे, जहाँ सभी रेखायें मिलती थीं।"* नरेन्द्रजी यद्यपि उनसे यदा-कदा ही मिलते थे फिर भी उनके प्रति इनका उपर्युक्त निष्कर्ष कितना तथ्यपूर्ण है।]

❋ ❋ ❋

'बड़े शौक़ से सुन रहा था जमाना'; लेकिन हाय, नलिनजी ! 'तुम्हीं सो गए दास्ताँ कहते-कहते !' कौन-सी खता हो गई हम गरीबों से ! कौन-से गुनाह हो गए हम बदनसीबों से !! आखिर आँखें क्यों बन्द कर लीं एकाएक आपने ? एकाएक अपनी शीरीं ज़बान पर ताले क्यों जड़ लिए !! हमारी आँखें आपके दर्शन को तरसती हैं ! हमारे कान आपकी

बानी सुनने को बेताब हैं !! लेकिन यह मेरी हिमाक़त ही है जो ऐसी चीज़ों की तमन्ना अब करता हूँ जब नलिनजी नहीं रहे ! १२ सितम्बर '६१ की वह मनहूस सायत आखिर आई क्यों जो हम सबके प्यारे, हम सबके सच्चे दोस्त, और साहित्य के एक मान्य स्तम्भ श्री नलिन विलोचन शर्मा को अपने साथ ले गई ! वह सायत कितनी स्याह थी जिसने हमारे नलिनजी को हमसे जुदा कर दिया !!

लेकिन, दिल को तसल्ली होती है यह सोचकर कि हमारे नलिनजी अब भी हमारे बीच हैं ! और हमेशा रहेंगे भी !! पर, यह तो सत्य है कि हाड़-चाम के घेरों में हमारे प्यारे नलिनजी अब क़ैद नहीं । वे उन्मुक्त हैं और यशःशरीर के सहारे हमारे बीच हमेशा रहेंगे और जबतक हिंदी-साहित्य जीवित है, हमारे नलिनजी जीवित हैं । क्योंकि हिंदी नलिनजी की थी और नलिनजी हिंदी के थे । हिंदी-भारती की कोख गौरवान्वित थी नलिनजी जैसे सशक्त, उदार और विद्वान्-रत्न पैदा करके !

उधर ७ सितम्बर की रात से दम्मे के दौरे से मैं परीशान था और घर की चहार-दीवारियों में क़ैद था । १२ सितम्बर की शाम ! दौरा अपने पूरे रंग पर था और मुझे साँस लेने में भी बेहद तकलीफ़ थी, नींद तो बिलकुल रूठ चुकी थी परीशानी के आलम में ! एकाएक पड़ोस के रेडियो से खबर सुनी; आचार्य नलिन विलोचन शर्मा नहीं रहे, १ बजे दिन में हृदय-गति रुक जाने से अचानक उनका शरीरान्त हो गया । दिल धक्-सा कर गया; साँसें बढ़ गईं, लेकिन कानों को यक़ीन न हुआ ! दिल ने इसे बिलकुल नहीं माना !! अभी-अभी की तो बात है; साहित्य-सम्मेलन-भवन में तुलसी-जयन्ती के मौके पर मुझे उन्होंने हुक्म दिया था कि तुलसीदास पर मैं भी कुछ बोलूँ और पास में ही बैठे मेरे अज़ीज़ दोस्त श्री दिनेश प्रसाद सिंह ने भी उनके हुक्म की ताईद कर दी; लेकिन मैं सीधा दफ़्तर से ही आया था और थका था, इसलिए हाथ जोड़ उनसे माँफ़ी माँगते हुए मैंने कहा—"आज मुझे श्रोता ही रहने दें, वक्ता तो बहुत हैं !" जवाब में नलिनजी मुस्कुरा गए ! ग़ज़ब की मुस्कुराहट थी उनकी !! उस मुस्कुराहट में एक वज़न होता, एक दास्तान होती ! आज उस लहमे की याद आते ही, उस मुस्कुराहट की तसवीर आँखों के सामने आती है । कलेजा मुँह को आता है और मैं अपने आपको कोसता हूँ कि मैं ऐसा अभागा निकला कि उनका आख़िरी हुक्म भी न मान सका । उस वक्त क्या पता था कि नलिनजी का वह हुक्म मेरी तरफ़ आख़िरी होने जा रहा है । काश, मालूम हो गया होता तो उनके हुक्म मानने की क्या बात थी, उनको अपने बीच से जाने ही

कभी-कभार सोचता हूँ कि ऐसा मैं कर पाता ! क्या कोई प्राणी ऐसा कर सकता है ? आखिर वह कौन-सी हस्ती है जिसका लोहा सभी प्राणियों को ही मानना पड़ता है। इन्सान मजबूर है। लेकिन आज का इन्सान तो बड़ा ही ताकतवर हो गया है। चाँद-सितारों तक उड़ानें मारनी शुरू कर दी हैं उसने। लेकिन, यह अजीब बात है, अजीब मजबूरी है कि सारी ताक़तों के बावजूद इन्सान यह नहीं जानता कि उसकी जिन्दगी के अगले लहमे, अगले क्षण क्या होने जा रहा है।

इसी मजबूरी में मैं रो रहा हूँ, आप रो रहे हैं, सारा हिन्दी-संसार रो रहा है, लेकिन रोने से क्या हक़ीकत मिट जायगी ? हक़ीक़त तो यही है कि हमारे नलिनजी आज हमारे बीच स्थूल रूप में विराजमान नहीं हैं।

आज जब नलिनजी नहीं हैं तब उनकी सारी बातें रह-रहकर दिल ओ दिमाग को कचोट जाती हैं। पिछले दस-बारह वर्षों से उनसे मेरा परिचय था, घनिष्ठता थी, अपनापन था। साल मुझे ठीक याद नहीं, लेकिन सन् ५१-५२ का ज़माना था। उन दिनों पटने की एक सांस्कृतिक संस्था आर्ट्स ऐण्ड आर्टिस्ट का मैं साहित्य-मंत्री था। एक गोष्ठी करनी थी और उस गोष्ठी के सभापतित्व के लिए मैं नलिनजी के पास पटना कॉलेज आमंत्रित करने गया था। प्रणाम-पाती के बाद मैंने अपना विचार रखा और उन्हें दावत दी; फिर वही मुस्कुराहट। घबराया, क्या इन्हें मेरी दावत मंजूर नहीं। मैंने पूछा—"तो जाऊँ न मैं इतमीनान से ?" "हाँ-हाँ, आप जाइए न, मैं ठीक वक्त पर आ जाऊँगा।" हल्के दिल से मैं लौट आया।

शाम आई और गोष्ठी का वक्त हो आया। सारे इन्तजाम पूरे हो चुके थे, सिर्फ नलिनजी के आने की देर थी। मैं घड़ी बार-बार देख रहा था और तब मेरी बाँछें खिल गईं जब ठीक वक्त पर रिक्शे से नलिनजी आ धमके। बड़े शख़्स के हर काम से बड़प्पन टपकता है !!

नलिनजी से परिचय यूँ तो पहले से ही था, पर अपनापन और घनिष्ठता तबसे बढ़ती गई, बढ़ती गई। उनसे बराबर प्यार और मार्ग-दर्शन मिलते गए। जब भी कुछ कठिनाई आई, उनसे जिक्र किया तो बराबर अपनापन मिला। सौहार्द मिला।

एक घटना और याद आती है। सन् ५५-५६ की बात है। मुझे पहली दफ़ा सरकारी नौकरी में दरखास्त देनी थी; जन-सम्पर्क-विभाग में एक जगह खाली हुई थी। मैंने एक शाम सम्मेलन-भवन में नलिनजी से इसका जिक्र किया। उन्होंने बड़े खुश होते हुए आशीर्वाद दिया—"आप योग्य हैं नरेन्द्रजी। आपकी नियुक्ति अवश्य होगी।" मैंने फिर कहा—"आपको एक बात का कष्ट देना चाहता हूँ।"

"अरे, कष्ट की कौन-सी बात है ?"

"मुझे आपका एक प्रमाण-पत्र चाहिए।" फिर वही मुस्कुराहट! मुस्कुराते हुए उन्होंने जवाब दिया—"मेरा प्रमाण-पत्र!" उनकी अदा में हैरत थी। वही मुद्रा तो महान् व्यक्तित्व की द्योतक थी; इतना बड़ा विद्वान और इतनी नम्रता! शायद नम्रता ही वास्तविक विद्वान् का वास्तविक लक्षण है!! तुरत ही उन्होंने अपने पैड पर एक तगड़ा-सा प्रमाण-पत्र लिखकर मुझे दे दिया। आज वह प्रमाण-पत्र उनकी महानता, नम्रता, विद्वत्ता, सौहार्द, मानवता की धरोहर के रूप में मेरे पास सुरक्षित है; अब तो वह कंगाल की दौलत है!

कई दफ़ा उन गोष्ठियों में शरीक हुआ जिनका नलिनजी ने सभापतित्व किया था और जब-जब शरीक हुआ, हर दफ़ा उनकी विद्वत्ता और महानता मेरी आँखों में झलकती गई। वे अपने-आप में एक ऐसी विशालता समेटे हुए थे जिसकी छत्रछाया में शान्ति थी; प्रकाश था; किंतु भेद-भाव न थे।

नलिनजी में एक ऐसा आकर्षण था, ऐसी कशिश थी कि जो भी उनके सम्पर्क में आया, उनका हो गया! वे एक केन्द्र-विन्दु थे जहाँ सभी रेखाएँ मिलती थीं। नलिनजी एक ऐसे इन्सान थे जो खुद जहर पीते थे और दूसरों के लिए अमृत देते थे!

लेकिन अफ़सोस, आज हक़ीक़त ही कुछ और है! और पटना की साँय-साँय चलती हुई हवाएँ कानों में बड़ी बेदर्दी और बेरुखी से कह जाती हैं—नलिनजी नहीं हैं! नलिनजी नहीं हैं!!

✠

"कलाकार ग्राम्यता से बिलकुल बच नहीं सकता; आलोचक का काम है वह देखे कि कलाकार इससे कहाँ तक अपने को बचाए रख सका है।"

'दृष्टिकोण' —न० वि० श०

✠

वे कितना छिपाते थे !

नरेश

उपनिदेशक, जनसम्पर्क-विभाग,

बिहार, पटना

['नकेन' के प्रथम 'न' नलिनजी और अन्तिम 'न'—नरेशजी। इसी संज्ञा से नरेश-नलिन की निकटता का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु आज वह निकटता कितनी दूर जा पड़ी है यह अनुभूति देते हुए भी कि— "*मैंने कहा—नलिनजी, मैं पिताजी से सब कुछ कहता-सुनता था। आपसे भी सब कुछ कह-सुन लेता हूँ।......उन्होंने मेरी ओर देखा। कुछ बोले नहीं। फिर उनकी आँखें गीली हो आईं।......*"]

यूँ नलिनजी से मेरा मिलना-जुलना प्रायः रोज ही होता। अगर दो-चार दिन किसी कारण से न जा सका और उसके बाद पहुँचा तो उनका पहला सवाल यही होता, "कहाँ रहीं जी ? एकदम दिखाइये नइखीं पड़त ?" और बातों का सिलसिला यहीं से शुरू हो जाता। जिस कारण से भी नहीं पहुँच सका उसे बताया तो उसी पर बातें होती चलीं। और हर बात के निष्कर्ष-स्वरूप हमलोग किसी-न-किसी नीति की बात पर आ जाते। बातें दफ़्तर की भी होतीं, आजादी की भी होतीं, आजादी के बाद जो हाल-हिसाब है, उस पर भी होतीं। ज्यादातर तो हमलोग यही महसूस करते कि हालात सुधरी नहीं हैं। लेकिन नलिनजी के स्वर में फिर भी निराशा कभी नहीं दिखती। गरज यह नहीं कि वे बहुत बड़े आशावादी थे। सच पूछिये तो वे वही थे, न निराशावादी; न आशावादी। सोचता हूँ कभी-कभी कि क्या वे 'स्टोइक' थे ? तो लगता है कि कुछ हद तक उनकी तटस्थता वैसी ही थी।

वे बहुत 'प्रैक्टिकल' भी नहीं थे, लेकिन किसी मानी में, किसी चीज में, जरा भी हल्के नहीं थे। वे बहुत मिहनती नहीं थे, किन्तु अगर ऐसा मौका आया कि रातोंरात जगकर कुछ करना है तो उसमें किनाराकशी भी नहीं करते थे। लेकिन 'सेनेको' की तरह उनमें वह विराग भी नहीं था कि कोई जाय चूल्हे-भाँड़ में, हमारा क्या? लोगों में दिलचस्पी लेना, उनकी परेशानियों और समस्याओं को सुनना, फिर यदि संभव हो तो अपनी तरफ से कुछ करना, इससे वे हिचकते-कतराते नहीं थे।

मैंने उन्हें बहुत नजदीक से और ४३ से लेकर मृत्यु पर्यंत देखा। और यही पाया कि नलिनजी में दो प्रधान तत्त्व थे। हृदय से बड़े कोमल, बुद्धि से बड़े कठोर। सच पूछिये तो कहूँ कि नियमों से वे नहीं बंधे थे, नियम उनसे बंधते थे। उनकी हर अदा अपनी थी, हर नियम अपना था और हमलोग हैं कि उनकी बातों की, चीजों की नकल उतार कर संतोष करते थे, बल पाते थे। उनकी पोशाक की ही बात लीजिये। धोती और कुर्ता। लेकिन पता नहीं, उसे भी कुछ ऐसी नफासत से वे पहनते कि धोती-कुर्ता भी पहनने का, उनकी तरह पहनने का, जी होने लगता। नफीसतबीयत आदमी। धोती भी पहनते तो बहुत बारीक और कुर्ता मलमल या अद्धी ...। और बताऊँ कि जो धोती-कुर्ता, सुबह वे कॉलेज जाते समय पहनते, उसे फिर शाम को नहीं पहनते; बदल डालते। लेकिन इसके प्रति किसी प्रकार भी उनकी आसक्ति हो, ऐसा भी कभी नहीं पाया। सूट, यानी कोट-पैंट पहने नलिनजी को मैंने कभी नहीं देखा। एक बार मैंने कहा "नलिनजी आपका जो 'फिगर' है, उस पर सूट फबेगा। क्यों न कभी-कभार वह भी चले?" पहले जरा-सा हँसे वे। फिर बोले, "एक गर्म सूट कहीं पड़ा होगा। एक बार पहना था, जब कमीशन के सामने साक्षात्कार के लिये जाना पड़ा था।"

एक शाम बदस्तूर पहुँचा। नलिनजी अपने काम करनेवाले कमरे से ड्राइंग रूम में आये। कपड़े पहने हुए थे। मैंने पूछा, कहीं की तैयारी है? बोले, ना। कहीं जाना नहीं। थोड़ी देर बातें होती रहीं। फिर हँसकर बोले, वाह जनाब, आपने अभी तक तो मुझसे पूछा ही नहीं! मैं चकराया। बोला, क्या पूछूँ? उन्होंने बालोचित हास्य और माधुर्य के साथ कहा, यही कि यह कुर्ता कब बना? मैंने ध्यान दिया था। उसका हल्का, 'क्रीम' रंग था। हल्की चमक भी थी। नलिनजी बराबर ही उजला कुर्ता पहनते। इसलिये मुझे पूछना चाहिये ही था, क्योंकि ऐसी-वैसी बातें भी हम एक दूसरे से पूछ बैठते थे। मैंने कहा, खैर, बताइये भी। क्या कपड़ा है! है हसीन। उन्होंने बताया 'टेरिलिन' का है। इसलिये बनवाया गया था कि वह 'ऐंटीक्रीज' कपड़ा था और धोना इतना आसान कि साबुन लगा के सूखने को डाल दें। न इस्त्री का कोफ्त, न कलफ की परेशानी।

जानो अपने कपड़े नलिनजी को स्वयं धोने पड़ते हों ! और यह भी नहीं कि इन सब चीजों के लिये माथापच्ची करने की उन्हें कभी जरूरत पड़ती हो ।

बहरहाल, कुछ दिन गुजर गये । एक शाम कहीं जाना था । मैंने कहा, 'जरा निकले न टेरिलिन का कुर्ता आज । जमेगा ।' बोले, 'भाई, इस विशालकाय के शरीर से जो भी कुर्ता दबता है, वह 'टेरिलन' हो या मलमल, चुरा-मुड़ा हो ही जाता है ।' फिर बोले, 'ऍंटिक्रीज' समझकर कुछ मत बनवाना ।' बात हुई थी कि मैं भी कुछ बनवा लूँ उस कपड़े का ·

नलिनजी को पूरे अर्से में चार बार छोड़कर आलोड़ित होते कभी नहीं देखा मैंने । शायद और दोस्तों ने भी नहीं देखा होगा । जिन्दगी ही है, खुशियाँ-गमियाँ आती ही जाती रहती हैं । नलिनजी की जिन्दगी भी इससे अछूती तो थी नहीं । लेकिन ऐसा नहीं देखा कि उनकी आँखें नम हों, भर आयी हों । बहुत-बहुत बीमार पड़े । टाइफायड हुआ, सामान्य बुखार हुआ, दाँत में दर्द हुआ । लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि नलिनजी घबरा गये हों, या उनकी आँखें भींग गयी हों । लेकिन उनकी आँखें भी भींगती थीं और किस तरह की बात पर, जरा देखिये ।

मेरी सबसे बड़ी लड़की, एला, कुछ दिनों से बीमार चली आ रह उसका हालचाल ले लेते वे । एक शाम मैं कुछ बड़े परेशान ढंग से बोला कि उसे तकलीफ में देखता हूँ और मेरी समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूँ । घबराकर बोले, 'किसी और डाक्टर से क्यों न दिखाया जाय ।' मैंने लक्ष्य किया, यह कहते-कहते उनकी आँखें और आवाज भींग आयी थीं । उनकी इस सहृदयता से मेरा मन अफर आया । मैं सिर्फ उनकी ओर ताकता रह गया । तब मुस्कुराकर बोले, 'का जाने काहे, ऊ जब से पैदा भइल तबे से हम ओकरा बड़ा मानिले ।'

फिर एक बार आरा के पास के एक गाँव में । छपरे के बासुदेव के लड़के की शादी में हमलोग गये हुए थे । बारात एक आम के बाग में ठहरी थी । वहाँ एक जीर्ण तालाब था । उसमें सेवार और काई से ढका हरे रंग का पानी भी थोड़ा था । उसके किनारे एक दरी पर हम जमे हुए थे । गर्मी का मौसम और पछिया । थोड़ी दूर पर एक पेट्रोमैक्स । खाना-पीना हो चुका, वहीं । सुबह लौटना था । ज्ञानेश्वर, मैं, नलिनजी बातें करने लगे । मदन बिहारी सहाय भी थे लेकिन उन्होंने सोना पसंद किया । बातों-बातों में हम निराला पर चले आये । निराला की वह कविता; 'स्नेह निर्झर बह गया है' मुझे बेतरह प्रिय है और अक्सर मैं नलिनजी से कहा करता, 'ऐसा गीत हिन्दी में दूसरा नहीं ।' उस दिन भी कुछ उसी तरह का जोश आ गया और मैंने कविता पढ़ी और मुझे क्या अच्छा लगता

था, यह कहने लगा। मैंने तब कहा, ऐसा कवि, जो साहित्य-भाग को दुहरा कर नहीं मिलता, और उसकी हम ऐसी उपेक्षा किये बैठे हैं। मैं आसानी से रो पड़ता हूँ सो रो पड़ा। लेकिन नलिनजी आसानी से रो पड़नेवाले जीव नहीं थे। फिर भी निराला की बात सोचकर उनकी आँखें भर आयीं और दो बूँद आँसू टपक पड़ा। निराला के प्रति नलिनजी की इतनी बड़ी श्रद्धांजलि! काश आज नलिनजी होते और दो बूंद आँसू निराला के नाम फिर टपका सकते! लेकिन आज जिन्दगी ने हमसे इन दोनों महारथियों को छीन लिया है।

पारिवारिक बातों से उद्वेलित होते हुए भी उन्हें शायद ही कभी देखा गया हो! कुग्गू (राजीव लोचन शर्मा), उनका सुपुत्र, उनका इकलौता है। इकलौते के लिये यदि थोड़ा अधिक ममत्व हो तो आश्चर्य नहीं लेकिन उसका प्रदर्शन भी नलिनजी में नहीं ही होता था। सिर्फ एक दिन मैंने वह देखा था। सुबह से ही डटा हुआ था। छुट्टी के दिन थे। वहीं खाना भी हो गया। हम ही दो थे। बातें होती रहीं और दिन के तीन बज गये। तभी कुमुदजी ने उन्हें आवाज दी। ... । ये तो हल्का-सा परेशान देखा उन्हें। पूछ दिया। बोले, भई, कुग्गू कहीं ग्यारह बजे दिन को ही निकले; पत्नी कह रही हैं, अभी तक लौटा नहीं है। मैंने कहा, चिन्ता की बात तो है। बोले, "एँ? चिता की बात है?" "है न, अभी लड़का है (तब वह स्कूल में था), साइकिल लेकर निकला है और देर काफी हो चुकी है।" बातें करते हम ऊपर के ड्राइंग रूम से बाहर निकल आये। बरामदे में खड़े होकर सड़क की ओर ताकते रहे। मैंने देखा, उनकी आँखें गीली हो आयी हैं। तभी कुग्गू साइकिल लिये गली में घुसे। उनके चेहरे पर मुस्कुराहट फैली। बोले, 'आ रहल बाड़न।'

और जब कुग्गू ऊपर आये तो बस इतना-सा-कहाँ चले गये थे भई तुम! एँ!

और हाल ही, एक दिन कुछ परेशान-सा मैं उनके यहाँ गया था। बहुत-कुछ बोलता रहा। वे सुनते रहे। तभी मुझे लगा कि मैं आखिर इनसे अपनी सभी बातें क्यों कर लेता हूँ! मन ने कहा, तुम्हारे पिता नहीं रहे, इसलिए। मैंने कहा, 'नलिनजी, मैं पिताजी से सब कुछ कहता-सुनता था। आपसे भी सब कुछ कह-सुन लेता हूँ। लगता है, अवचेतन में कुछ 'फादर कंप्लेक्स' डेवेलप कर गया है आपके प्रति।' एक क्षण उन्होंने मेरी ओर देखा, कुछ बोले नहीं। फिर उनकी आँखें गीली हो आयीं और दरवाजे की ओर मुँह घुमाकर उन्होंने कहा, 'अरे भई, जरा चाय भेज देना।'

❋

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा

अभिलाषा पूरी नहीं हुई !

[विद्वान एवं सुधी समालोचक डॉक्टर कमलेश कहते हैं कि—*"हिन्दी के आचार्यों में विदेशी साहित्य का ऐसा गहन अध्ययन किसी अन्य के लेखन में प्रति-फलित नहीं मिला। साहित्य और कला के क्षेत्र में कौन ऐसा व्यक्तित्व है, जिसे उन्होंने आत्मसात् नहीं किया था !"*]

सहसा यह सुना कि आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा अब इस संसार में नहीं रहे। यह पता चला कि उनकी आयु केवल छयालीस वर्ष की थी। वे हिन्दी के मूर्धन्य साहित्य-महारथियों में थे, यह सोचकर उनकी मृत्यु से निश्चय ही एक धक्का लगा। यह धक्का लगा और मैंने अपने हृदय को टटोला। हिंदी के अनेक लब्धप्रतिष्ठ कवि, कथाकार और नाटककारों से मेरा व्यक्तिगत परिचय है, उनमें से किसी के साथ ऐसी दुर्घटना घटित होती और धक्का लगता तो स्वाभाविक था लेकिन यह क्या बात है कि जिस व्यक्ति से न मेरा परिचय है और न सीधा सम्पर्क ही, उसके निधन से तन और मन क्यों मथित-से हो उठे ? इसका एक कारण है और वह यह कि मैंने उन्हें उनकी रचनाओं से जाना है। 'साहित्य' में उनके गम्भीर और उच्चकोटि के लेख तथा आलोचनाएँ पढ़कर और

अनुसंधान की नई-नई दिशाओं का ज्ञान प्राप्तकर मुझे सदैव विस्मय होता रहता था। कारण, वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और उनकी अपनी एक ऊँचाई की सीमा निर्धारित थी, जिससे नीचे उतरना उन्हें स्वीकार नहीं था। 'नकेनवाद' के प्रवर्तक के रूप में उनकी मौलिक सूझ का लोहा लगभग सभी विज्ञ हिंदी-सेवियों ने माना था और उसकी चर्चा के बिना प्रयोगवाद की चर्चा करना, विद्वानों की सम्मति में, सम्भव नहीं है। अपनी बात वे ऐसे ढंग से लिखने के पक्षपाती थे कि उस पर आप विश्वास किये बिना नहीं रह सकें।

उनके साहित्यिक स्तर का पता तो मुझे उनके 'दृष्टिकोण' नामक पुस्तक से चला था जिसे मैंने अपनी प्रिय पुस्तकों में सम्मिलित कर लिया था। देश-विदेश के साहित्य का ऐसा गहन अध्ययन उन्होंने किया था कि जब भी उस विषय पर कलम चलाते थे तब लेखक अथवा कवि विशेष के मूल्यांकन में वे निरन्तर तुलनात्मक दृष्टि से काम लेते थे। हिन्दी के आचार्यों में विदेशी साहित्य का ऐसा गहन अध्ययन मुझे किसी अन्य के लेखन में प्रतिफलित नहीं मिल [illegible] य औ [illegible] ला के क्षेत्र में कौन ऐसा व्यक्तित्व है, जिसे उन्होंने आत्मसात् नह [illegible] अपने [illegible] येक लेखन से वे बड़े ही मेधावी जान पड़े। साथ ही उनकी शैली [illegible] स्पष्टवादिता है, जो बताती है कि निर्भी [illegible] कता उनका जन्मजा [illegible] रिक्त श्रद्धेय जैनेन्द्रजी के सुपुत्र श्री दिलीप कुमार और मेरे एक छात्र [illegible] विश्वम्भर 'अरुण' (जो मृत्यु से एक मास पूर्व उनसे पटना में मिले थे) दोनों ने उनकी विशाल हृदयता और आकर्षक व्यक्तित्व की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी। इससे लगता है कि वे निस्सन्देह एक उच्चकोटि के अध्ययन-शील विद्वान् थे जो अपनी स्थायी छाप सम्पर्क में आनेवाले सभी क्षेत्रों पर छोड़ गए।

मेरी बड़ी अभिलाषा थी कि मैं उनसे मिलकर उनका इन्टरव्यू लेता और 'मैं उनसे मिला' की आगामी किश्त में उन्हें भी सम्मिलित करता पर वह अभिलाषा पूरी नहीं हुई और वे चले गये। उनकी मृत्यु से अंग्रेजी की वह कहावत याद आती है कि परमात्मा जिनको प्यार करता है वे युवावस्था में ही चल बसते हैं।

✤

स्वभाव के राजा

पांडेय नर्मदेश्वर सहाय

सलेमप [illegible] हरा,

पट[illegible] -३

[पाण्डेयजी नलिनजी के कानूनी दुनिया [illegible] संसार के भी सुहृद् हैं। उन्हीं पुरानी बातों की याद करते हुए आप लिखते [illegible] की चर्चा करते-करते वे हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते थे। और कभी-कभी बोल उठते—"अच्छा, इस बार यह अभियुक्त यदि रिहाई पा गया तो मैं समझूँगा कि आप कुछ हैं।"]

स्वर्गीय पं० नलिन विलोचन शर्मा के परिवार से और मेरे परिवार से बहुत पुराना संबंध है। इधर कुछ वर्षों से जब हम दोनों जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में उतरे, तब से यह सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गया। जब से मैंने वकालत का पेशा प्रारम्भ किया, मुझे मित्रों की सेवा का अधिक अवसर मिला। स्व० नलिनजी के विषय में आज जब कुछ लिखने बैठा हूँ, तो स्मृतियों का ताँता-सा बँध गया है। हृदय भर आता है और लेखनी को

बरबस आगे बढ़ाना पड़ता है। अवस्था में मुझसे वे छोटे थे, परन्तु आपस के व्यवहार की विशेषता यह थी कि हम एक दूसरे को अपने से बड़ा समझते थे।

मेरे स्वर्गीय चाचा पांडेय नवल किशोर सहाय ने सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त कर लेने पर संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ किया था। इस सिलसिले में वे पं० रामावतार शर्मा के यहाँ जाया करते थे और मैं भी उनके साथ हो लिया करता था। जिस किसी ने एक्जीबीशन रोडवाले मकान में शर्माजी को विद्वन्मण्डली के बीच सूर्य की तरह चमकते देखा होगा, उसने यह भी देखा होगा कि पिता के पार्श्व में हीं नलिनजी भी बैठा करते थे। बहुतों का ऐसा अनुमान है कि शंकराचार्य के बाद भारत में पं० रामावतार शर्मा की कोटि का विद्वान हुआ ही नहीं। नलिनजी से मेरा परिचय यहीं हुआ था। नलिनजी की अवस्था उस समय १० या १२ वर्ष की होगी।

एक बार मेरे चा ग्रेजी के एक शब्द का अर्थ अंग्रेजी में ही शर्माजी से पूछ कर लाने को भेजा। वे 'Hi ontology' नामक पुस्तक लिख रहे थे। शर्माजी के पास मैं को वहाँ बैठे पाया। उसमें से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं— ोकेट, श्री रघुवंश उपाध्याय, श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, प्रसाद ब्द को सुनकर शर्माजी के पास में ही बैठे हुए नलिनजी —"बबुआ, तनी फोन से पूछ त, राजेन्द्र प्रसादजी सदाकत आश्रम में बानीं?" इसी समय वबष्टर शब्द कोष भी देखा जाने लगा। राजेन्द्र बाबू ने भी वबष्टर को ही देखने का संकेत किया परन्तु शर्माजी ने उनसे कहा कि, "शब्द ढूढ़ल गइलह, नइखे मिलत"। राजेन्द्र बाबू ने पुनः कहा—"तनी फुटनोट में देखीं" उनके फोन रखते-ही-रखते नलिनजी ने झट उस शब्द को फुटनोट में से निकालकर पिता के सामने रख दिया। शर्माजी ने उस अवसर पर राजेन्द्र बाबू की विलक्षण-प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वहीं पर बैठे हुए कृष्णदेव बाबू बोल उठे—"सरकार, प्रतिभा तो अपने के परिवार के हिस्से भी पड़ल हे, अपने का बबुआजी के भी तो एही उमिर में प्रतिभा अभी देखल जाय।" शर्माजी मुस्कुरा कर रह गये।

यहाँ इस बात का मैं उल्लेख करूँ तो अप्रासंगिक नहीं होगा कि यदि विद्या-मार्तण्ड स्व० पं० रामावतार शर्मा की प्रतिभा का पूर्ण लाभ नलिनजी को उठाने को मिलता तो अवश्य इस बिहार के चमकते नक्षत्र की प्रतिभा में चार चाँद लग जाते। विधि का विधान कौन मेट सकता है कि इतने धुरन्धर विद्वान पिता अपने पुत्र को बाल्यकाल में

ही छोड़कर बैकुण्ठवासी हो गये ! पं० रामावतार शर्मा के जीवनकाल में उन्हें महामहोपाध्याय की पदवी मिली, परन्तु उसे वे ले न सके और स्वर्गवासी हो गये । उनके पुत्र स्व० नलिनजी को ही महामहोपाध्याय की पदवी और 'मेडल' दिया गया । मुझे याद है पटना-कॉलेज में श्री लैम्बर्ट साहब प्राचार्य के सभापतित्व में एक छोटा-सा समारोह हुआ था और विद्यार्थी नलिनजी को महामहोपाध्याय की पगड़ी देते समय श्री लैम्बर्ट साहब बोले थे—

"I am sure you will prove yourself equally great as the recipient of this great honour."

जिसे इतने महापुरुषों का वरद आशीर्वाद प्राप्त था और, ऐसे स्नेहिल वातावरण में पला था उसे तो महान होना ही था ।

घरेलू नाम 'बबुआजी' उनके परिवार के परम स्नेह का था । घर के इस वातावरण का ही प्रभाव था कि वे विनम्र, मृदुभ [illegible] अनेक मानवीय गुणों से विभूषित थे । सहपाठी और मित्रों के [illegible] फाँक, जामुन, लीची और दूध की बनी मिठाइयों की [illegible] शौकीन थे । इधर कई वर्षों से मैंने देखा कि हि[illegible] उनसे अवश्य मिलते या उनके यहाँ अवश्य ठहरते [illegible] जैसा [illegible] उसकी वैसी ही सेवा होती थी । उनका पारिवारिक जीवन बड़ा ही सुखमय था ।

नलिनजी के घर की बगल में एक दूसरा शर्मा परिवार रहता था जिससे आपके परिवार से काफी घनिष्ठता बढ़ गई थी । आपकी चिरसंगिनी, कुमुदजी उसी परिवार की हैं और मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि नलिनजी को महान् बनाने में उनका सबसे अधिक हाथ है । जो सुशीला पत्नी पति को गृहस्थी के झंझट-झमेलों से मुक्त रक्खे, उससे बढ़कर भाग्यशालिनी कौन नारी हो सकती है !

नलिनजी कौन-सा कपड़ा पहिरेंगे, क्या भोजन करेंगे, बाहर जाने में कौन-कौन-सा सामान ले जायेंगे, यह सब वे स्वयं कुछ नहीं जानते थे । शिक्षित एवं सम्पन्न परिवार में पली उनकी सर्वगुण सम्पन्ना पत्नी ने, उनके जीवन में आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन दिया, अध्ययन के लिए अवकाश दिया, जीवन को हँस-खेल कर व्यतीत करने के लिए मधुर क्षण दिये और गृहस्थ-जीवन की सारी जिम्मेदारियों को अपने कंधों पर लेकर पति के मस्तक पर विद्वत्ता और बड़प्पन का टीका लगते देखकर मुस्कुरा पड़ीं । मुझे वह दृश्य नहीं भूलता । शायद भूल भी न सकूँगा । घर में अपार जन-समुदाय,

नलिनजी का शव पड़ा था। मस्तक के पास चुपचाप जिस करुणाकुल मुद्रा में वे बैठी थीं उसे देखकर धैर्य भी अधीर हो उठता था। मैंने उनके तारुण्य को भी देखा है और अन्त में बिछुड़न की वह प्रलयंकारी घड़ी भी देखी।

नलिनजी को घूमने, पिकनिक करने और गाना सुनने का शौक बाल्यावस्था से ही था। दशहरा के दिनों में पटना के अखाड़ों में जो प्रसिद्ध गायक आते थे उन्हें घूम-घूम कर सुनने का उन्हें बड़ा शौक था। इधर कुछ वर्षों से यह छूट गया था। डॉक्टर कपिलदेव नारायण जो उनके पड़ोसी हैं, श्री बटुकदेव मिश्र, श्री धनेन्द्र प्रसाद और स्व० जनार्दनजी उनके निकटस्थ मित्रों में थे। जिस समय मित्र-मण्डली में एक को लेकर हँसने का क्रम प्रारम्भ होता था उस समय नलिनजी कितना हँसते थे और कितने जोर से कहकहा लगता था जो वहाँ रहे होंगे उन्हें अवश्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा।

उनके पिता की मृत्यु के थोड़े दिन के बाद माता भी स्वर्गवासिनी हो गईं। गृहस्थी का सारा भार उनके तरुण कन्धों पर पड़ा। अपने पिता की तरह विचारों में वे स्वतन्त्रता की मात्रा प्रारम्भ से ही अधिक रखते थे। जो उचित जान पड़ा उसे अवश्य वे करते थे चाहे इसके लिये कोई जो कहे। यह स्वभाव पारिवारिक जीवन में और बाहर के जीवन के व्यवहार में आजीवन बना रहा। उनको, जो सदा उनके पास न रहता हो क्रोध करते नहीं देखा होगा। परन्तु ऐसे व्यक्ति, जब कभी क्रोध करते हैं, वे भयंकर हो उठते हैं। नलिनजी इसके अपवाद नहीं थे।

जीवन-क्षेत्र में उतरने के बाद हमलोग कुछ और निकट आये। जीवन की कुछ ऐसी समस्यायें उठ खड़ी होती थीं जिनके समाधान के लिए हमें एक दूसरे के पास जाना पड़ता था। बातचीत के सिलसिले में कानूनी प्रश्नों पर उन्हें बहुत दिलचस्पी लेते मैंने देखा। पटना विश्वविद्यालय पारिभाषिक-शब्द-निर्माण-समिति में मैं भी उनके साथ था। मुकदमों की चर्चा करते-करते वे हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते और कभी-कभी बोल उठते, "अच्छा, इस बार यह अभियुक्त यदि रिहाई पा गया तो मैं समझूँगा कि आप कुछ हैं!" रिहाई होने पर मुझे बधाई भी देते। भाई अज्ञेय को अपने भाई के एक मुकदमे के सिलसिले में लेकर सन् १९५० में मेरे पास आये थे। उनसे मेरा परिचय कराया और मैंने मुकदमे में काम भी किया।

मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा यदि एक-सा रहे तो मानवता का बड़ा कल्याण हो। मैंने बड़े-से-बड़े सिद्धान्तवादी, भक्त, दार्शनिक और विद्वान को देखा है कि रुपये-पैसे के मामले में उनका व्यवहार बड़ा संकीर्ण होता है। जिसने अपने सिद्धान्तों को व्याव-

हारिक जीवन में नहीं उतारा वह पाखण्डी है और मैं उससे घृणा करता हूँ। नलिनजी में कभी जीवन की ऐसी संकीर्णता नहीं आने पाई।

आज से दो वर्ष हुए। एक दिन मैं उनके कमरे में बैठा था। एक छात्र अत्यन्त दीनावस्था में आकर उनके सामने खड़ा हो गया। उन्होंने पूछा, "क्या है ? क्या चाहिए ?" उसने उत्तर दिया "सर, युनिवर्सिटी की फीस न जुट सकी इसलिए परीक्षा नहीं दे रहा हूँ।" वेष-भूषा से वह गरीब मालूम पड़ता था। नलिनजी कुछ देर गम्भीर रहे। बाद में उठकर भीतर गये और थोड़ी देर में उनकी धर्मपत्नी ने पर्दे के भीतर से एक चेक बुक बढ़ा दिया और सौ रुपये का एक चेक उसे दे ही दिया गया।

जिस मकान में उनके स्वनामधन्य पिता रहते थे, उस मकान में मैंने कई बार नलिनजी से अपने स्व० पिता की स्मृति में कुछ स्थापित करने को कहा। उस घर में पटने के एक प्रमुख वकील रहते थे जिन्होंने वर्षों से न तो किराया दिया था और न मकान छोड़ने का नाम लेते थे। विवश होकर मैंने उन पर मुकदमा कर दिया और जब वे कानूनी शिकंजे में पड़ कर विवश हो गये तब इस शर्त पर घर छोड़ना स्वीकार किया कि उनसे किराये की रकम न ली जाय। किराये की रकम छः हजार रुपये थी। मैं इसके विरुद्ध था क्योंकि मैं जानता था कि पैसे-पैसे उनसे वसूल हो जाता परन्तु नलिनजी उनकी शर्त पर राजी हो गये। मैंने कहा, 'रुपयों का क्या होगा ?' नलिनजी ने छूटते जवाब दिया—"हें हें, बब्बनजी, छोड़िये, ऐसे-ऐसे बहुत रुपये आये और गये। घर तो मिल जायेगा और फिर हमलोग अपनी भावी योजना में हाथ लगा देंगे।" योजना थी उस भवन में 'पं० रामावतार शर्मा-साहित्य-शोध-मन्दिर' के नाम से एक संस्था खोलने की और विश्वविश्रुत विद्वान जिसे बिहार आज भूल बैठा है उसकी कीर्त्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने की। आश्चर्य है, बिहार में पं० रामावतार शर्मा का कोई भी स्मारक नहीं।

नलिनजी ने अपना जीवन एक राजा की तरह व्यतीत किया। स्वभाव भी राजा की ही तरह था। जीवन-संगिनी भी वैसी ही मिल गई थीं। आप नलिनजी के ड्राइङ्ग रूम में प्रवेश करते ही दीवार पर हाथ से बने अनेक तरह के भावमय चित्रों को अभी भी लटकते पायेंगे। विद्वान होने के साथ-साथ चित्रकला में भी आपका हाथ मँजा हुआ था। मैंने देखा, नलिनजी के इर्द-गिर्द कला की दुनिया मँडराती रहती थी। कला के वे अनन्य पुजारी एवं प्रशंसक थे, चाहे वह कला कहीं भी किसी में भी क्यों न हो।

विद्वानों का अपना-अपना एक व्यसन हो जाता है। मैंने देखा है, गुरुवर महाकवि

'प्रभात'जी और नलिनजी सिगरेट के बड़े शौकीन। मेरा इन दोनों से इस पर बराबर मतभेद रहा। मैं इसका घोर विरोध करता रहा कि ये लोग इतनी सिगरेट न पीयें। परन्तु मेरी बात हँसकर उड़ा दी जाती थी। कई वर्ष हुए, पटने से 'देशदूत' नामक एक पत्र श्री कर्मशीलजी के सम्पादकत्व में निकलता था। व्यवस्थापक महोदय ने मुझसे इस बात की सिफारिश चाही कि प्रभातजी एक कविता और नलिनजी एक कहानी प्रत्येक अंक में दें। मैंने सिफारिश की और वे लोग सहमत हो गये। व्यवस्थापक अपने लेखकों को पारिश्रमिक रूप में कुछ देते थे। उन्होंने मुझसे कहा "मैं प्रभातजी और नलिनजी के चाय, पान और सिगरेट का खर्च भर दे सकूँगा।" मैंने उनसे कहा, "महाशय! चाय, पान को छोड़िये, केवल सिगरेट का ही बिल अमुक दूकान से भिजवा दूँगा, आप दे दिया करेंगे।" वे बड़े प्रसन्न हुए। महीने के अन्त में वे सज्जन मुझसे मिले और बड़े तपाक से बोले—"पाण्डेयजी, सिगरेट का बिल अभी तक पहुँचा नहीं।" मेरे टेबुल पर बिल रक्खा था। मैंने धीरे से उनकी ओर बढ़ा दिया। वे कुछ घबड़ाये से नजर आये। यह कई वर्ष पहले की बात है। सम्भव है सिगरेट की वह आदत इधर आकर कुछ और जोर पकड़ गई हो। एक का बिल ८६) का था और दूसरे का ७६) का! बिल किसी तरह चुका दिया गया। बाद में पत्रिका का प्रकाशन भी बन्द हो गया।

✤

"प्रतिभा अकेली भी बड़ी चीज है। विद्वत्ता गल कर भी जले नहीं और निखर आए तो वह बहुत बड़ी चीज है।"

'दृष्टिकोण' —न० वि० श०

स्नेहशील अग्रज

प्रकाशवती

बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-भवन, कदमकुआँ, पटना—३

[कवयित्री की प्रकाशवतीजी की यह मार्मिक पीड़ा क्या उन सभी व्यक्तियों की पीड़ा नहीं, जिन्होंने नलिनजी का स्नेहिल सामीप्य सुलभ किया था ?—*"अपनों का हृदय तो यह अनभ्र वज्रपात देखकर हतचेत-सा हो रहा है। वे समझ नहीं पा रहे हैं कि यह क्या हो गया !"*]

पूज्य नलिनजी हमारी स्मृति के धन हो गए। क्या लिखूँ और कैसे लिखूँ ? स्मृतियों की आँधी जीवनतरु को झकझोर रही है। एक ऐसा मोह-मूर्च्छित अंधकार-पूर्ण पथ जिसपर आलोक-पुंज बिखेरते वे अमिट पद-चिह्न पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—'देखो, यही है जीवन में जीने की सार्थकता !'

अपनों का हृदय तो यह अनभ्र वज्रपात देखकर हतचेत-सा हो रहा है। वे समझ नहीं पा रहे हैं कि यह क्या हो गया। समझ में तो यह बात तब आएगी जब काल की रिक्तता उनके मन पर भींग-भींग उठेगी। जब उनके साहचर्य के सूने क्षणों में कानों में उनके शब्द गूँजेंगे, व्यथा-बोझिल मस्तकों को उनका अदृश्य स्नेह स्पर्श छू देगा, बन्द आँखों में उनकी छवि धुल-धुल कर निखर उठेगी, मगर चेतन पार्थिवता में स्पर्श दृश्य और श्रवण से रिक्त शून्य, हाहाकार के अट्टहास से भर उठेगा।

वह क्या था जो हमारे बीच से खो गया ! हमने जिसकी समुचित देखभाल नहीं की ! अनुताप के ऐसे क्षणों में स्वर्गीय नलिनजी की सहज प्रसन्न और गंभीर मुद्रा ही धीरज बँधाएगी !

जिन्होंने उनके कार्य-व्यस्त, आराम के, बीमारी के अथवा पहले से समय माँगकर प्रतीक्षित क्षणों में उनके समक्ष प्रवेश किया है, वे जानते हैं, किस प्रकार सर उठा कर उनका देखना, मंद स्मिति और हाथ फैलाकर निर्दिष्ट आसन की ओर संकेत कर कहना—"आइए !" इनका क्या महत्व और मूल्य था !

अब भी ठीक-ठीक विश्वास नहीं होता कि नलिनजी हमारे बीच नहीं हैं ! उनका अनुशीलन, विभाग जहाँ कुर्सी पर उनके बदले उनकी तस्वीर है, साक्षी है। उनका सूना कक्ष साक्षी है, उनके वे सारे स्थान, कृतित्व और व्यक्तित्व साक्षी हैं—नलिन जी हमारे बीच सदैव रहेंगे। उनके युग का प्रत्येक व्यक्ति उनका जीवित स्मारक होगा और हमारे लिए क्या यही कम गौरव की बात है कि हम उनके समयुगीन हैं ! इतिहास तो हमारे बाद की पीढ़ियाँ लिखेंगी। नलिनजी हमारे बीच अतीन्द्रीय, अमिट और अमर हैं। विश्वास न हो तो उनके उन छात्रों से पूछिए जिन्होंने मात्र बृहस्पति की भाँति अपना आचार्य ही नहीं खोया, बल्कि जिनसे पिता की भाँति स्नेह की छाया भी निष्ठुर नियति ने छीन ली। जो मात्र छात्रों के ज्ञानलोक के ही निर्देशक नहीं थे माँ की भाँति जिन्हें उनके सूखे मुँह और भूखे पेट की खबर तथा समाधान दोनों की चिन्ता रहती थी।

उन मित्रों से पूछिए जिनकी संध्या रोज-रोज ही मूर्त ध्वंसावशेषों की तरह मर्म कुरेदती है। उन आत्मीय स्वजनों से पूछिए जिनसे प्रश्न करने पर मूकअश्रु ही जिनका उत्तर देते हैं। उन अगणित पाठ्यपुस्तकों पर जिनपर उनका स्नेह-स्पर्श, टिप्पणी और पाठ-संकेत अथवा जिनकी रंचमात्र त्रुटि भी जिन्हें सहनीय नहीं हो सकी, वे इसकी साक्षी हैं।

हमारा काम सिर्फ अश्रुजल में उन स्मारक क्षणों के चरण पखारना भर ही नहीं, उन्हें सुरक्षित, उन्हें शृंखलाबद्ध और सँवार-सजाकर रखना है जिनसे आनेवाली पीढ़ियाँ पुण्यमयी हों।

नलिनजी इस दिशा में अन्यान्य कई साहित्यिकों से अधिक भाग्यवान थे, जिनकी कृतियाँ ढूँढ़ने के लिए प्रेस, प्रकाशक तथा अन्य स्थानों की खाक छाननी पड़ती है। उन्हें श्रीमती कुमुद शर्मा जैसी सुगृहिणी प्राप्त होने का सौभाग्य प्राप्त था, जिन्होंने उनकी एक-एक कृति और वस्तु को ही स्मारक नहीं बना रखा है बल्कि उनकी एक-एक स्मृति को आँसू से पखार-पखार कर जुगा रखा है।

दो वर्ष पूर्व कुमुदजी की बीमारी में मैं उन्हें देखने गई थी—संध्या के समय ऊपर की छत पर नलिनजी को देखा। पास ही कोई अन्य व्यक्ति बैठा उन्हीं की भाँति शान्त

था । —"आइए !" प्रताप के पीछे मुझे देखकर उन्होंने कहा और स्वयं कुमुदजी के कमरे तक छोड़ आए । काफी देर बाद जब वे एकान्त में रह गए, मेरे पुत्र को यह कहते सुन कर कि 'नीचे पिताजी भी खड़े हैं ।' उनकी उत्सुकता, सहृदयता और बन्धु-वात्सल्य देखकर चकित हो गई ! स्वयं ही व्यग्र-ममता से सीढ़ियों के नीचे आकर उन्हें पुकारते और नहीं पाकर व्यथित अनुतप्त-से मुझसे यह शिकायत करने लगे—"आपने पहले ही यह क्यों नहीं कहा ? हरिजी आए और नीचे खड़े रहे, मैं मिला तक नहीं !"

और जब उन्हें यह मालूम हुआ कि हरिजी का यही आदेश था तो उसी व्यथा से हँस भी उठे—"मुझे मालूम ही नहीं हुआ, नहीं तो मैं लोगों के बीच ही उन्हें खींच लाता !"

मित्रों के बीच साहित्य-सम्बन्धी गम्भीर चर्चा अथवा कहकहों में या "भूँजोत्सव" मनाते हुए उन्हें समान ही तुष्ट और प्रसन्न देखा ।

इतने स्नेहशील, उदार और अजातशत्रु-से व्यक्ति को भी जमाने के, मित्रों तक के और अन्य कई दिशाओं के व्यंग्य-विरोध भी झेलने पड़े । लेकिन अपने अडिग निश्चय से उन्होंने उन सारे वाणों को व्यर्थ कर दिया । तभी मेरे मुँह से शब्दों द्वारा अथवा गम्भीर उदासी द्वारा ही जब कोई मर्म कचोटनेवाली उक्ति वे जान पाते, कहा करते—"बस इतने ही पानी में हैं आप ? इतने से ही अधीर हो गईं ? मुझे भी तो बहुतों की बातें सुननी पड़ती हैं ! मैं बात के पीछे नहीं दौड़ता । क्या करना है, यही निश्चय करता हूँ ।"

साल भर पूर्व जब हृदय-रोग का जबरदस्त दौरा उन्हें हुआ था, मैं उनके ऊपर कक्ष में ही उनके दर्शनार्थ गई थी—वे आँखें बन्द किए मौन पड़े थे । कई मिनट बाद कुमुदजी से मेरे आने की सूचना पाकर वे घूमकर बोले—'कैसी हैं ?'

जिन्हें देखने गई थी, वे ही कुशल पूछ रहे थे ! मेरे प्रश्न का उत्तर उन्होंने दिया—"बस, अब ठीक हूँ । अब कोई भय नहीं रहा । इस आराम से ही सब ठीक हो जाएगा ।"

उन्हें अधिक बोलना मना था, पर वे थे कि रुक-रुक कर कुछ-न-कुछ पूछते ही जा रहे थे । सम्मेलन, पुस्तकालय और मेरे परिवार से लेकर मेरे लिखने-पढ़ने तक की गति-विधि के प्रति भी हमेशा ही एक स्नेहशील अग्रज की भाँति ही वे सचेष्ट रहे ।

और जब मैं चलने को हुई, उलाहना देते हुए उन्होंने कहा—"और आपने अखबारों की सूची नहीं बनाई न ! मैंने तो समझा था, इतनी देर में आप बना चुकी होंगी ।"

यों दीर्घसूत्रता का दुर्गुण मुझमें है, पर कई दिन पूर्व के आदेश का पालन हो चुका

था और जाने क्या समझकर मैंने उसे साथ रख लिया था। चुपके-से बढ़ा देने पर एक बार हँसे, उसे लिया और लेटे-ही-लेटे उसका मार्जन करते रहे।

मैंने कुमुदजी के समक्ष इस लाज की सफाई दी तो वे हँस पड़ीं—"इन्हें इसी तरह काम करने में सुख मिलता है। चुपचाप सो ही नहीं सकते, क्या करूँ? बस यही है इनका आराम।"

और यह कार्यशील विरामहीनता जीवन की अन्तिम रात्रि तक उनकी अबाध रही। रात के दो बजे तक जगे थे। सुबह तैयार होते-ही-होते मृत्यु का बुलावा आ गया और अन्तिम बार जब उन्हें देखा—वे पलंग पर सफेद चादर ओढ़े सारी भव-बाधा से ऊपर उठ चुके थे।

मृत्यु के कई दिन पूर्व उन्हें युनिवर्सिटी में देखा था, जहाँ उनके चेम्बर में पुत्र के साथ प्रतीक्षा कर रही थी। एम० ए० का क्लास लेकर तुरत लौट कर आते ही वे क्लान्त-से अपनी कुर्सी में धँस गये। पसीने की छोटी-छोटी बूँदें ललाट में चुचुहा आई थीं, फिर भी सामने काम का ढेर था।

आराम करने के दिन उनके आए कहाँ थे? यही दिन तो थे जब वे अपनी आयु, अनुभूति और अध्ययन की ज्ञान-संचित राशियों का वितरण करते। काल को हमारे क्रम-भंग का क्या दुख? कई बार अपने कामों का अम्बार देखकर मैं स्वयं भी खीझ जाती हूँ। उस समय उनकी यही मुद्रा, यही वाणी प्रोत्साहन देती है—"जीवन का एक क्षण भी किसी उद्देश्यहीनता से रिक्त नहीं होता, प्रतापजी! इसे सीखो और समझो, तुम पर बहुत बड़ा भार आनेवाला है।" ये शब्द मेरे पुत्र को उनके द्वारा कहे गए थे, जब उनके चेम्बर में हम उनसे मिले थे।

पूज्य नलिनजी अपने अनगिनत स्मारक क्षणों में हमारे बीच विद्यमान हैं और रहेंगे। हम तो स्वयं ही उनके स्मारक हैं। जब स्मारक तो आनेवाली पीढ़ियाँ बनाएँगी।

✠

प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'
आकाशवाणी, पटना

प्रीति-महाकाव्य के रचयिता

[स्वर्गीय नलिनजी के सहोदर अग्रज से भी अधिक आदरणीय मुक्तजी का एक-एक शब्द अपने उस सम्बन्ध को यहाँ किस स्वरूप में साकार कर रहा है—"*जीवन के पन्नों पर अक्षय प्रीति का जो महाकाव्य वे लिख गए, यह प्रतिष्ठा उन्हें उसके द्वारा मिली। यह विरलों को ही मिल पाती है।*"]

बाढ़ के जल से लबालब भरी गंगा के तट पर एक चिता जल रही थी। चिता एक मित्र की थी, एक स्वजन की, एक अनुज की। पटना के साहित्यिक, साहित्य-प्रेमी, पत्रकार, छात्र, अधिकारी, उस दिन आचार्य नलिन विलोचन शर्मा को अन्तिम विदा दे रहे थे।

चिता की लपटें बढ़ रही थीं, गंगा की तरंगें ढाड़ें मार रही थीं, मन में विचारों की झंझा प्रवाहित हो रही थी।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' : 'जो फरा सो झरा, जो 'बरा सो बुताना' तो ठीक है, लेकिन मनुष्य क्यों जन्म लेता है, जन्म लेता है तो फिर मरता ही क्यों है? और वह जीवित ही क्यों रहता है? जीवन का उद्देश्य क्या है उसके?

मनुष्य के मन का यह प्रश्न उतना ही पुराना है, जितना वह स्वयं है। जाने कितने चिन्तकों, कितने तत्वदर्शियों ने, जाने कितनी बार इन प्रश्नों का तर्क-संगत उत्तर भी दिया है, लेकिन प्रश्न आज भी अपनी जगह पर है। मनुष्य के मन का समाधान नहीं हो पाता।

नलिन आज नहीं हैं, एक रिक्तता-सी भर रही है सब ओर, एक गहरी उदासी, एक तीखा विषाद-सा भर रहा है उन सबके मन में, जो उनके मित्र थे, उनके अपने थे, स्नेही थे श्रद्धालु थे—और ओः, उनकी संख्या कितनी है ! जाने कितनी !!

क्यों ऐसा है जीवन, मनुष्य का अध्ययन-काल है और मृत्यु उसकी परीक्षा ? जीवन में हम किसी की क्रिया-शीलता ही देख पाते हैं, उसकी महत्ता नहीं तौल पाते। महत्ता का पता तो तब चलता है, जब वह हमारे बीच नहीं रहता और तब लगता है, हम कितना वंचित हुए हैं, कितना ठगे गए हैं !

नलिन को मैंने छोटे भाई के रूप में जाना-माना—उनके बहुत बचपन से। वे शालीन थे, मितभाषी थे, गम्भीर विद्वान् होते हुए भी परिहास-प्रिय थे। लिखने की उनकी शैली ऐसी, प्रच्छन्न व्यंग्य ऐसा, कि समझे सो तड़प उठे। जीवन में जितने स्नेहशील, परीक्षा में उतने ही कठोर। आलोचक ऐसे कि किसी के लिए रियायत न करते। जो उचित समझा, निर्भीक होकर कह दिया। दूसरी ओर दोस्त-परस्त भी ऐसे कि जिसे अपनाया, उसके लिए सब कुछ होम कर दिया। स्वभाव से उदार, विनयी और मिलनसार।

विनय, पाण्डित्य का भूषण है, वे निस्सन्देह इस भूषण से विभूषित थे। सच्चे अर्थों में विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता सुधी-समाज में स्वीकृत थी। उन्होंने जितना पढ़ा, उतना लिखा नहीं—किताबें उनकी गिनी-चुनी ही हैं। फिर भी उन्होंने वह प्रतिष्ठा पायी, जो कौड़ियों किताबों के अनेक लेखकों को दुष्प्राप्य रही—और यह प्रतिष्ठा उन्होंने लाठी के जोर से नहीं अपनायी, यह उन्हें स्वतः मिली। जीवन के पन्नों पर अक्षय प्रीति का जो महाकाव्य वे लिख गये, यह प्रतिष्ठा उन्हें उसके द्वारा मिली। यह बिरलों को ही मिल पाती है।

पिछले साल वे बहुत बीमार पड़े थे। रोग हृदय का था, डॉक्टरों ने पूर्ण विश्राम का आदेश दिया था। कम-से-कम श्रम करने को कहा था। किंतु इस आदेश का उनके क्रिया-शील जीवन से मेल नहीं बैठा। उनका साहित्यिक दरबार लगता रहा, उनकी दौड़-धूप, उनका कार्य-कलाप चलता रहा और उस दिन अचानक, दो बजे दिन में, वे दिवंगत हो गये।

मैं इधर कम मिलता-जुलता था उनसे—कुछ समय के अभाव से, कुछ उनके स्वास्थ्य के ख़याल से। जब कभी जाता भी, अधिक ठहरता नहीं—डॉक्टरों के आदेश का पालन वे नहीं कर सकते तो मेरा सहयोग उसमें क्यों रहे ? लेकिन पिछले दिनों वे स्वयं कई बार आये। देर-देर तक बैठे। अनाहार से शरीर को बहुत कृश कर लिया

था उन्होंने। उनकी दीर्घ-विशाल काया, दुर्बल होकर झूल गयी थी। अचानक बहुत वार्धक्य उतर आया हो जैसे। मैंने कई बार चिंता प्रकट की। वे उपेक्षा से हँसते रहे। कहते—'मुझे कोई दिक्कत नहीं मालूम पड़ती—स्फूर्त्ति ही जान पड़ती है। अधिक बोझ रखकर क्या होगा? फिर डॉक्टरों की भी यही सलाह है।'

आहार के सम्बन्ध में डॉक्टरों की सलाह उन्होंने मान ली—श्रम के सम्बन्ध में नहीं। मुझे चिंता होती, और मित्रों को भी होती, पर अब तो वे 'बबुआ' सम्बोधन-भर के लिए ही थे, अपने शरीर की स्थिति उनसे अधिक दूसरा कौन जानेगा?

उस दिन तबीयत ठीक नहीं थी। चार बजे के लगभग दफ्तर के कमरे से उठा कि घर चला आऊँ। दो-चार कदम ही बढ़ा होऊँगा कि टेलीफोन की घंटी बज उठी। डॉक्टर जितेन्द्र बोल रहे थे, नलिन के घर से—नलिनजी का देहावसान हो गया है—अभी, दो बजे।

अंधकार हो गया चारों ओर। माथा झनझना उठा। मन स्तब्ध हो गया। मैं घर गया—अपने नहीं, नलिन के। वहाँ जैसे सारा नगर उमड़ आया था। सभी स्तब्ध, सभी शोकातुर, सभी हतवाक्। नलिन का शरीर पड़ा था—शान्त, प्रसन्न, निश्चल। सच, वे हमें छोड़ गये थे—सदा के लिए।

लोगों की आँखें भरी थीं, मन भरे थे, वाणी अवरुद्ध थी। नलिन की महायात्रा के अवसर पर, लोग कुछ दूर तक पहुँचा आने के लिए एकत्रित थे वहाँ। और मैंने एक विचित्र बात देखी। वहाँ जितने लोग थे, सभी ऐसा अनुभव करते थे, मानो नलिन के सबसे निकट, सबसे आत्मीय, सबसे प्रिय वे ही हों। यह कितना बड़ा अर्जन था नलिन का! उन्होंने जन-जन के मन को कब, किस तरह, किस कौशल से, इस तरह जीत लिया था? उनके जीवन की सफलता का यह रहस्य ही आज उनकी धरोहर के रूप में हमारे पास रह गया है।

नलिन ने विद्या का, यश का, सम्मान का चाहे जितना अर्जन किया हो, इस अलौकिक प्रीति के सम्मुख वह सब मुझे तुच्छ जान पड़ा—अपदार्थ, अकिंचित्कर। जिसने इतनी प्रीति पायी थी, वह मर नहीं सकता—वह हमारे-आपके, इनके-उनके मन में जीवित है आज भी, वह हमेशा जीवित रहेगा।

✣

बंकट लाल ओझा
मंत्री, हिन्दी समाचारपत्र संग्रहालय,
कसारहट्टा रोड, हैदराबाद—२

भाई नलिन विलोचन शर्मा

[अन्वेषण की दुनिया के जिज्ञासु जानकार श्री बंकट लालजी का यह अन्वेषण सर्वथा स्वाभाविक और सहज है—*"उन्होंने इस क्षेत्र में एक कुशल शिल्पी की तरह अनेक अन्वेषकों को तैयार किया। उनका निर्माण किया। वे जन्मजात अन्वेषक थे। उनका जीवन अन्वेषण-कार्यों से सदा ओतप्रोत रहा।"*]

☼ ☼ ☼

भाई नलिन विलोचन शर्मा से मेरा परिचय तो काफी वर्षों से था, परन्तु साक्षात्कार का प्रथम अवसर गत वर्ष पटना में हुए अखिल भारतीय श्रमजीवी पत्रकार सम्मेलन के अवसर पर ही मिला जबकि वे पटना कांग्रेस अध्यक्ष द्वारा दिए गए एक भोज

में पधारे थे। वहीं पर एक पत्रकार बन्धु ने मेरा उनसे परिचय कराया। बाद में तो बातों का सिलसिला कुछ ऐसा चला कि न पूछिए। बिहार में कहाँ किस के पास हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास का मशाला मिल सकता है, इस सम्बन्ध में उन्होंने विस्तार से बताया। 'हिन्दी समाचारपत्र-सूची' के दूसरे भाग के सम्पादन और प्रकाशन पर भी उन्होंने अनमोल सुझाव दिए।

दूसरे दिन फिर उनसे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के वार्षिकोत्सव में भेंट हुई और वहाँ पर उन्होंने अनेक साहित्यिक बन्धुओं से मेरा परिचय करा दिया। जिस आत्मीयता से मेरा वह परिचय करा रहे थे, उससे मैं पुलकित हो गया। परिषद् का अनुसंधान विभाग, जिसके वे प्राण थे, को भी एक दिन मुझे उनकी कृपा से देखने का अवसर मिला। उस समय समयाभाव के कारण मेरा पटना में और कुछ दिनों के लिए ठहरना असम्भव था इसलिए मैंने यह भावना दिल में सँजोये हुए उनसे विदा ली कि एकाध सप्ताह के लिए आकर आपके सान्निध्य में रहूँगा। पर उस समय यह किसे पता था मेरी यह उनसे प्रथम और अन्तिम भेंट है! उनका हृष्ट-पुष्ट शरीर देखकर कोई भी स्वप्न में भी यह अनुमान नहीं कर सकता था कि एक ही वर्ष की अवधि में वे महाप्रस्थान कर जाएँगे। 'नवभारत टाइम्स' में दुःखद संवाद पढ़कर मैं अवाक् रह गया।

आज हिन्दी में एक नहीं अनेक विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान का कार्य चल रहा है, जिनका निर्देशन किसी-न-किसी हिन्दी के दिग्गज विद्वान पर है। परन्तु अधिकांश में यही शिकायत सुनने में आ रही है कि 'अनुसन्धान तो कर रहा हूँ, पर निर्देशन जैसा चाहिए वैसा नहीं मिल पा रहा है।' इस सम्बन्ध में देखा यह जाता है कि निर्देशकगण उसे 'अपनी सरकारी ड्यूटी' भर समझते हैं। इससे अधिक कुछ नहीं। यही कारण है कि अन्वेषक किसी-न-किसी तरह अपना महानिबन्ध प्रस्तुत कर डॉक्टरेट प्राप्त कर अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझ लेता है। ऐसे महानिबन्धों के स्तर के सम्बन्ध में जो विवरण पत्रों में आता है उसके अनुसार वे महानिबन्ध प्रकाशन के योग्य नहीं हैं। जिसके लिए निर्देशक आचार्य ही दोषी कहे जा सकते हैं। परन्तु आचार्य नलिन विलोचन शर्मा का स्थान ऐसे निर्देशकों में नहीं था। उन्होंने इस क्षेत्र में एक कुशल शिल्पी की तरह अनेक अन्वेषकों को तैयार किया। उनका निर्माण किया। वे जन्मजात अन्वेषक थे। उनका जीवन अन्वेषण-कार्यों से सदा ओतप्रोत रहा। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् और बिहार-साहित्य-सम्मेलन के संयुक्त तत्वावधान में प्रकाशित त्रैमासिक 'साहित्य' इसका प्रमाण है जिसमें सम्पादकीय टिप्पणियाँ भी वे लिखते थे जो बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण रहती थीं। अनेक खोज-पूर्ण लेख और संदर्भ-सूचियाँ भी 'साहित्य' में प्रकाशित हुईं जो हिन्दी के स्थायी साहित्य

की वस्तु हैं। इसी सन्दर्भ में परिषद् की ओर से प्रकाशित 'परिषद् पत्रिका' का प्रथमांक भी उनकी अगाध ज्ञान-गरिमा का द्योतक था।

हिन्दी के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य के वे जीवित कोष थे। हिन्दी का शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिसपर उनकी लेखनी नहीं चली। कविता के क्षेत्र में उनके एक ही काव्य-संग्रह 'नकेन' ने हिन्दी-जगत में हलचल मचा दी थी। नई कविता के सम्बन्ध में उन्होंने नई मान्यताएँ स्थापित कीं। इसी प्रकार कहानीकार के रूप में भी वे हमारे सामने आते हैं। चाहे कहानियाँ उन्होंने संख्या में कम ही लिखी हैं, पर जो लिखीं, बेजोड़ लिखीं।

असल में पूछा जाए तो उन्हें यह ज्ञान की धरोहर अपने पूज्य पिता महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा से मिली थी, जिसका उन्होंने दिल खोलकर सदुपयोग किया। ज्ञान की गंगा में स्वयं गोते लगाए और उसके गर्भ से बीन कर मोती लाए जो आज माँ भारती के गले का कण्ठहार बने हुए हैं। शोभा बढ़ा रहे हैं। बिहार में नलिन विलोचनजी के शिष्यों बड़ी संख्या है। अब उनका यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि साहित्य-अन्वेषण-कार्य की उनके गुरु द्वारा प्रज्ज्वलित की गई इस पवित्र ज्योति को सदा प्रज्ज्वलित रखें जिससे उनकी आत्मा को अवश्य ही शान्ति मिलेगी। यही उनकी सच्ची श्रद्धाञ्जलि है।

"अश्लीलता विषय में नहीं, अभिव्यञ्जना-पद्धति में छिपी रहती है।"

'दृष्टिकोण' —न० वि० श०

✠

शिष्य-वत्सल नलिनजी

बच्चन पाठक 'सलिल'

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, करीम सिटी कॉलेज, जमशेदपुर

[यह एक वियोग-व्यथित शिष्य का आकुल उद्गार है—*"मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि अपने शिष्यों के प्रति आचार्य जी का स्नेह इतना अधिक था कि अनायास ही प्राचीन विद्यापीठों के आचार्यों की याद आ जाती थी ।"*]

उस दिन जब मेरे एक मित्र ने गुरुवर आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के आकस्मिक देहावसान की सूचना दी तो सहसा विश्वास ही नहीं हुआ। किन्तु कभी-कभी प्रत्यक्ष कल्पना से भी अधिक अविश्वसनीय बन जाता है। सामने दैनिक पत्रों की प्रतियाँ पड़ी थीं और काले-काले अक्षर इस दुखद घटना की स्पष्ट सूचना दे रहे थे।

मैं एम० ए० की परीक्षा देकर जमशेदपुर हाल ही में आया था एवं सिटी कॉलेज में अध्यापन प्रारम्भ किया था। मैंने गुरुदेव के पास पत्र लिखा था कि परीक्षा-परिणाम कबतक घोषित होने की सम्भावना है ? इस महाविनाश के दो दिन पूर्व ही उनके द्वारा भेजा गया एक प्रमाणपत्र मेरे पास आया था, जिसमें मेरी योग्यता एवं सच्चरित्रता की चर्चा थी। मैंने आलमारी से वह प्रमाणपत्र निकाला, जो मेरे लिए किसी भी विश्व-

विद्यालयीय प्रमाणपत्र से अधिक बहुमूल्य है। आँखें डबडबा गईं और पत्र लिए कुछ क्षणों तक मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना रहा।

नलिनजी की विद्वत्ता के बारे में दो मत नहीं हो सकते। ध्यान से जिन्होंने उनके निबन्धों, फुटनोटों तथा उनकी कहानियों एवं अन्य रचनाओं का अध्ययन किया है, उनमें से ऐसा कोई नहीं होगा जो यह कहने का दावा कर सके कि मैं पूर्वापेक्षा अधिक समृद्ध नहीं नहीं हुआ हूँ। जहाँतक साहित्य-सेवा एवं तत्सम्बन्धी परिश्रम का प्रश्न है, आचार्यजी का जीवन ही साहित्यमय था। वे बिहार के गौरव तो थे ही, हिन्दी की एक दिव्य विभूति भी थे। मुझे उनके गुणों तथा उनकी विद्वत्ता के सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं कहना है। मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि अपने शिष्यों के प्रति आचार्यजी का स्नेह इतना अधिक था कि अनायास ही प्राचीन विद्यापीठों के आचार्यों की याद आ जाती थी।

मैं रायपुर (म० प्र०) में आयोजित अखिल भारतीय वाक्-प्रतियोगता में प्रथम होकर आया था। जब मैंने गुरुवर को अपना पदक दिखाया एवं सूचना दी, वे गद्गद् हो उठे। कई बार उन्होंने आशीर्वाद एवं साधुवाद दिया तथा मिठाई खिलाने की भी व्यवस्था की। जयपुर में आयोजित प्रतियोगिता में जब मैं सफल होकर दुबारा लौटा तो उन्होंने हिन्दी-साहित्य-परिषद् की एक विशेष गोष्ठी बुलाकर मेरा सम्मान किया। विश्वविद्यालय में, जहाँ मनुष्य निश्चित कार्य-क्रमों के कारण यंत्र बन जाते हैं, नलिनजी जैसे व्यस्त विद्वान का छोटी-छोटी बातों पर इतना अधिक ध्यान देना उनकी शिष्य-वत्सलता का अनुपम उदाहरण ही कहा जा सकता है।

हिन्दी-विभाग का अध्यक्ष बनने के बाद तो गुरुदेव ने यह नियम बना लिया था कि चाहे जिस छात्रा का विवाह हो, वे उपहार अवश्य देते थे। मुझे स्मरण है कि एक बार हिन्दी साहित्य-परिषद के चुनाव को लेकर कुछ छात्रों में हल्का मन-मुटाव-सा हो गया था। आचार्यजी ने कलाधरजी, दिनेश 'भ्रमर', श्री रंगशाही तथा इन पंक्तियों के लेखक को बुलाकर कहा था कि अगर किसी छात्र की गलती से आप क्षुब्ध हैं तो मुझे दुख है और मैं उनकी ओर से क्षमायाचना करता हूँ। उस महामानव के समक्ष हम पानी-पानी हो गये और उनकी "क्षमायाचना" ने जहाँ हमारी क्षुद्रताओं का उन्मूलन कर दिया, वहीं हम उनके श्रद्धालु भक्त भी बन गए। वे तो विभागाध्यक्ष थे, उनका आदेश ही हमारे लिए मान्य था। पर उनकी इस सरलता ने हमें लज्जित कर दिया।

✠

अनूठा और अद्वितीय

बटुकदेव मिश्र

गर्दनीबाग, पटना

[बटुकजी नलिनजी के ऐसे पुराने और माने मित्र, जिसके बिना किसी को भी एक क्षण चैन नहीं। आज वही चैन बटुकजी को बेचैन बनाकर कह रहा कि—*"नलिन ने आगत-प्राय बुढ़ापे में दगा दिया है। यह चोट जरा भीषण है।"*]

नलिन के सम्बन्ध में जब भी कुछ कहने की बात उठती है तो कलेजा कचोट उठता है। कारण है, नलिन मेरे लिए मात्र एक बहुत बड़े विद्वान या साहित्यकार ही नहीं थे बल्कि एक घनिष्ठ मित्र, एक अनुज की तरह आत्मीय और वक्त पर काम आनेवाले, राने किस्से-कहानियों में 'सखा' की परिभाषा को सत्य बनानेवाले, व्यक्ति-विशेष थे।

यह मेरी खुशकिस्मती थी कि मैं उन पुराने मित्रों में था जिनके सामने वे वाकई खुलते थे।

कॉलेज के जमाने के एक और मित्र थे नलिनजी के। 'पैनाठी' के जनार्दन। जनार्दन मेरे स्कूलकालीन मित्र थे। स्कूल में वे एक या दो कक्षा नीचे पढ़ते थे। मगर थे इतने तेज छात्र और होनहार कि मैं उनके प्रति आकर्षित हुए बिना रह नहीं सका और स्कूल ही में उनसे घनिष्ठता हो गई थी। उनके बड़े भाई श्री धनेन्द्र सहाय मुझसे

एक कक्षा आगे थे। मगर उनसे भी परिचय स्कूल ही में हो गया था। परन्तु उनसे घनिष्ठता तब बढ़ी जब वे अपने दादाजी की मृत्यु के कारण थर्ड इयर का इम्तहान न दे सकने के कारण बी० ए० में मेरे सहपाठी हो गए।

बी० एन० कॉलेज से इंटर पास कर सन् १९३१ में मैं पटना कॉलेज में दाखिल हुआ। जनार्दन भी बी० एन० कॉलेज का आइ० एस० सी० छोड़ कर उसी साल पटना कॉलेज में पहुँचे। नलिन उसी साल पटना कॉलेजियट से मैट्रिक करके पटना कॉलेज में इंटर में आए।

एक होनहार ने दूसरे होनहार को आकर्षित किया और जनार्दन एवं नलिन बहुत कम ही दिनों में एक दूसरे के अच्छे और घनिष्ठ मित्र बन गए।

आज यह कहना पड़ता है कि जनार्दन भी भरी जवानी में ही चल बसे। और वे भी कम दर्द देकर नहीं गए।

मेरा बचपन और पढ़ाई-लिखाई का वक्त एलाहाबाद बैंक के समीपस्थ अदालत गंज हाईकोर्ट क्वार्टर्स में बीता है। उन दिनों नलिन के पड़ोसी सच्चा भाई (पांडे कपिल-देव नारायण) के यहाँ भी जाना-आना होता था। अतएव नलिन से एक तरह का राम-सलाम तो अवश्य था, परन्तु मित्रता नहीं थी। न घनिष्ठता या आत्मीयता। वह तब हुई जब नलिन और जनार्दन एक दूसरे के घनिष्ठ हो गए, और जनार्दन के घनिष्ठ मित्र होने के कारण नलिन से मिलने-जुलने का अवसर अक्सर मिलने लगा। नलिन के घनिष्ठ होने का सूत्रपात यहीं से हुआ। नलिन जिसे भी किसी कारण पसन्द करते उसे शीघ्र ही अपने निकट कर लेते थे। उन दिनों मैं एक हिंदी साहित्यिक परिवार में जन्म लेने के बावजूद हिन्दी में लिखता-विखता कुछ भी नहीं था। ज्यादातर मेरा समय फुटबॉल और हॉकी में ही बीतता था। फिर भी नलिन ने न जाने मुझमें क्या देखा कि मुझे अपने आप में शीघ्र ही समेट लिया। मैं कुछ ही दिनों बाद उनके घरेलू नाम 'बबुआ' से उन्हें सम्बोधन करने लगा। और नलिन ने अपने आप से मेरे प्रति वैसा ही आचरण आजीवन रखा जैसा किसी का 'बबुआ' अपने गुरुजनों के साथ रखता है।

एक दर्द जनार्दन दे गए थे। नलिन के निधन के बाद मे जनार्दन फिर से अब बहुत याद आने लगे हैं। जी में यही बात उठती रहती है कि जिस साधन द्वारा नलिन मुझे मिले थे, उस साधन और प्रिय ने अपने से प्राप्त नलिन को तो उस वक्त अवश्य छोड़

दिया था, मगर मौका पाते ही उसने नलिन को बुला ही लिया। जिस वक्त जनार्दन ने अपनी महायात्रा की थी, उस वक्त अपनी जवानी थी, अपने आप को दुनिया में फँसा डालने का अवसर था। नलिन ने आगत-प्राय बुढ़ापे में दगा दिया है। यह चोट जरा भीषण है। यों तो हयात बेहया होती है। क्षत-विक्षत हृदय लेकर भी हम जियेंगे ही। मगर जीने का अब नलिनकालीन जैसा उत्साह नहीं। बाल-बच्चे हैं, परिवार है—अतएव न चाह कर भी जीना ही पड़ेगा। वरन् नलिन की ही आत्मा मेरी भर्त्सना करेगी।

अगर नलिन मेरी जिन्दगी में नहीं हुए होते तो मैं शायद जिन्दगी भर हिन्दी में कुछ लिखता ही नहीं। वे फुटबॉल के मैचों के शौकीन थे। खेलते तो नहीं थे (और यह भी अच्छा ही था, नहीं तो उनके भारी भरकम शरीर से टकराने की हिम्मत कम ही खिलाड़ियों की होती!)—मगर मैच देखते जरूर थे। इधर कुछ वर्षों से इस शौक पर उन्होंने काबू पा लिया था। शायद मेरे प्रति उनके स्नेह का यही प्रथम कारण रहा होगा उस वक्त।

मुझे (मैं जैसा भी कहानीकार हूँ) कैसे बनाया उन्होंने, इसका भी एक किस्सा है। विगत द्वितीय विश्व-युद्ध का समय था। कर्फ्यू वगैरह लागू था। मगर वे मिले बगैर रहते नहीं थे। उन्हें पेंगुइन-सीरीज के प्रकाशित संग्रहों में एक संग्रह की एक कहानी बहुत पसन्द आई। वे उसका एक हिन्दी रूपान्तर चाहते थे। पं० प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' उन दिनों 'आरती' नाम की एक मासिक पत्रिका निकालते थे। नलिन ने प्रस्ताव किया कि उक्त कहानी का रूपान्तर 'आरती' में निकले। मगर वे स्वयं उसका अनुवाद करना चाहते नहीं थे। कारण था, वे सोचते थे कि उसके हिन्दी रूपान्तर में उर्दूपन रहे। हमलोगों के बीच भाई धनेन्द्र सहाय ही उर्दू-दाँ हैं। अतएव यह काम उन्हें सौंपा गया। 'मुक्त'जी ने उस कहानी के लिए स्थान सुरक्षित रख छोड़ा था। मगर धनेन्द्र भाई जरा मुन्शियाना तबीयत के आदमी हैं। समय उनका इन्तजार कर सकता है, वे वक्त की वजह अपनी तबीयत नहीं बदल सकते। सम्बन्धित अंक निकलने का समय आ गया, मगर रूपान्तर का श्रीगणेश भी नहीं हुआ। 'मुक्त'जी 'मैटर' के लिए चिन्तित रहते हुए भी, नलिन की पसन्द को पसन्द कर रहे थे। भाई धनेन्द्र की रियासत अपनी चाल बदल नहीं रही थी। बहुत हिम्मत करके मैंने भी अपने-आपको बलि का बकरा बनाया और नलिन और 'मुक्त'जी से कहा—आपलोग मुझे यदि दो दिन का समय दें तो मैं कोशिश करूँ। मेरा अनुरोध मान लिया गया। मैंने रात में रूपा-

न्तर तैयार कर लिया। पहिले नलिन को सुनाया। वे बड़े प्रसन्न हुए। और आज भी मुझे इस बात का गर्व है कि 'मुक्त'जी जैसे उद्भट सम्पादक ने भी उस रूपान्तर में सिर्फ एक ही शब्द बदला था। उस कहानी का शीर्षक था 'झाँझ की कीमत'। और उस पहली रूपान्तरित कहानी के साथ ही नलिन ने मुझमें कहानिकारिता गढ़ दी। नलिन आगे चलकर कितने समर्थ सम्पादक होंगे, इसका आभास उनके विद्यार्थी-जीवन की इस छोटी-सी घटना से ही अंदाज किया जा सकता है। इसके बाद मैंने जो कुछ लिखा है उनकी वास्तविक प्रेरणा वे ही रहे हैं।

नलिन १९४२ में आरा जैन कॉलेज में प्राध्यापक होकर चले गए। मगर वे जब तक वहाँ रहे मुझे वहाँ के सारे साहित्यिक उत्सवों में अवश्य पकड़वाते रहे। जिन दिनों मैं उनके साथ-साथ कॉलेज में था, उर्दू मुशायरों की धूम-सी थी। मुशायरे जरा मजेदार लगते थे। दाद की वाह-वाहियाँ लोभित करती थीं कि मैं भी गजलें कहूँ और वैसी ही वाह-वाहियाँ पाऊँ। मगर उर्दू आज तक पढ़ी नहीं। हिन्दी में प्रकाशित उर्दू के बड़े-बड़े शायरों के कलाम अलबत्ता देखे थे। उन पढ़े, तथा मुशायरों में सुने कलामों की बिना पर मैंने उर्दू में कहना शुरू किया। मगर चोरी-चोरी। मुशायरों में जाने की हिम्मत नहीं थी। नलिन वगैरह को अवश्य सुनाया करता था। मेरी एक गजल उन्हें पसंद आई। वे कापी कर लेते गए और भेज दिया एलाहाबाद से प्रकाशित एक मासिक पत्र में। (इस वक्त उस पत्र या पत्रिका का नाम मैं भूल रहा हूँ—सम्पादक उसके थे श्री सहगल—'चाँद' की शुहरतवाले)। मुझे इसका पता भी नहीं था। अगले मास वह ग़ज़ल उस पत्रिका में निकली। उस अंक को पाने के दिन की शाम को वे उसे मुझे खुद देने आये।

जैन कॉलेज में भी एक मुशायरे का आयोजन हुआ। नलिन की ओर से हसब-मामूल सन्देशा आया, आप आ जाइए। एक और निर्देश था—ग़ज़लों का बण्डल भी लेते आइएगा, और 'मिसरा-तरह' जिसे भेज रहा हूँ, उस पर ग़ज़ल भी तैयार करके लेते आइएगा। उनकी बात तो मान ली मैंने, मगर बड़ा भयभीत था। सोचा था, नलिन की बात तो रह जायगी, मगर मैं मुशायरे में शामिल नहीं होऊँगा, इस पर नलिन को राजी कर लूँगा। मगर मुझे उस मुशायरे में शामिल होना पड़ा। मुशायरे में शामिल किसी शायर तक को पता न चला कि मैं उर्दू नहीं जानता। वह मुशायरा मुझे एक और कारण से याद रहता है। इसी मुशायरे की मार्फत नलिन ने मुझे एक और मित्र प्रदान किया—श्रीभुवनेश्वर द्विवेदी।

नलिन तैराक थे। गंगा के किनारे पहुँच नाव ठीक की जाती और हम दूसरे

किनारे पहुँचते। और तब घण्टों स्नान होता। डेढ़-दो बजे या इससे भी देर कर हम वापस आते और तब कभी चाट की दूकान पर चाट खाते या बनारस की कचौड़ी-गली की मशहूर उड़दभरी कचौड़ियाँ। मिठाइयाँ और दही तो खाने की चीजों में 'अवश्य-मेव' चीजें थीं। शाम को बिला-नागा, नौका-विहार एक निश्चित प्रोग्राम था। नौका-विहार उनको बड़ा प्रिय था। पटने में भी अवसर मिलने पर गंगा पार जाकर पिकनिक करना वे बहुत पसन्द किया करते थे। एक बार तो हम सभी रात में गंगा के पार से लौटते समय तूफान की चपेट में आ गये, और यदि अंटा घाट के पास के आइ० सी० एस० क्लब का 'लांच' हमलोगों का उद्धार नहीं करता तो हम सभी गए हुए थे।

प्रारब्ध ने मुझे और कोई धन तो नहीं दिया, मात्र मित्र-धन दिया था। परन्तु नलिन एक ऐसे लुटेरा निकले कि उसका भी बहुतांश लेते चले गए।

१९५१ में मैं प्लुरिसी से पीड़ित हुआ। चिकित्सा-सुश्रूषा तो किसी तरह निभ गयी, मगर बाद में मुझे अर्थाभाव हो गया। नलिन प्रायः रोज ही उन दिनों आते थे। न जाने कैसे वे मेरी परेशानी लख गए। एक हफ्ते के अन्दर उन्होंने पचास-पचास करके सौ रुपए मेरे पास भेज दिए। वह कर्ज उन्होंने कभी वापस नहीं लिया। जब भी मैं उसकी चर्चा करता वे पिनक पड़ते थे।

र-सपाटे का उन्हें बेहद शौक था। दशहरे की छुट्टियों में और कहीं नहीं तो काशी तो अवश्य जाते। मुझे और सच्चा (पांडे कपिलदेव नारायण) को जरूर पकड़ ले जाते। खाने के भी वे अपने पिता की ही तरह शौकीन थे। काशी में सुबह होते ही हाथ-मुँह धो लेने के बाद सेर-सवा सेर जिलेबियाँ आतीं और नाश्ता होता। फिर ९-१० बजे तक गप-सड़ाके।

न जाने कितनी हैं, खाने-पीने सम्बन्धी मजेदार घटनाएँ। और उसी नलिन ने हमलोगों के हजार अनुनय, विनय, डाँट, डपट के बावजूद वजन उतारने की झोंक में अपना वह डील-डौल वाला शरीर गला दिया। और वह भी भूखों रह-रह कर।

ऐसी ही यात्राओं में वे 'रिलैक्स' करते थे। आम तौर से उनको लोगों ने मुस्कराते भर देखा था। मगर वे कहकहे लगाना भी जानते थे, अट्टहास भी। चोटीले चुटकीले भी कहते थे और सुनकर उनकी तारीफ भी करना जानते थे।

रेलयात्रा में बैठे-बैठे, यात्रियों की कार्टूनें बनाया करते थे और कार्टून तैयार हो जाने पर धीरे से सहयात्री मित्रों को मुआयने के लिए बढ़ा देते थे।

पैसों का उन्हें एकदम मोह नहीं था। हमलोगों के बीच सच्चा बड़े किफायतसार आदमी माने जाते हैं। बनारस पहुँचने पर हम दो-चार रुपए रखकर अपना सारा पैसा उनके सुपुर्द कर देते थे। मगर सच्चा पर इसका कैसा भार पड़ता था यह सच्चा ही कह सकते हैं। खर्च का रफ्तार देखकर एक बार सच्चा ऐसा बिगड़े कि बोले—तुम लोगों का यह रवैया रहा, तो बिला टिकट वापस चलना पड़ेगा, और कहीं स्पेशल चेकिंग हुआ तो तुमलोगों के साथ मुझे भी जेल जाना पड़ेगा। उनके साथ की यात्रा में जब भी लौटकर पटने आया, मात्र घर पहुँचने के लिए सवारी का पैसा भर हम सभी के पास रह जाता था।

मेरा बड़ा पुत्र दिमाग का कुछ कमजोर है। उसके लिए वे बहुत चिंतित रहते थे। उसके लिए कौन-सा उपाय ढूँढ निकाला जाय इसकी चिंता उन्हें मुझसे भी ज्यादा थी। उसके लिए, अपनी आस्था और विश्वास के खिलाफ, उसकी कुंडली मुझसे माँग कर वे ज्योतिषी से फलाफल पूछने गए थे।

उन्हें जो भी प्रिय थे, उनके जीवन की छोटी-छोटी घटना पर वे सतर्क नजर रखते थे। बहुत दिन पहले मेरी एक कहानी छपी थी, तत्कालीन 'प्रकाश' में। शीर्षक था 'मुन्नू'। वे उस समय आरा जैन कॉलेज में थे। उन्होंने मेरी कहानी पढ़ी और प्रशंसा लिख भेजी।

अभी हाल ही की घटना है। भाई नरेश के जबर्दस्त दबाव पर मैंने 'योगी' के लिए एक कहानी लिखी जिसका शीर्षक था—'हम तो चांद सूरज की जोत'। कहानी निकली। नलिन ने उसे पढ़ा। फिर उसका सम्पादन कर एक टिप्पणी के साथ मेरे पास भेज दिया। उनकी प्रौढ़िप्राप्त सम्पादन-कला कितनी महत्त्वपूर्ण थी उसका यह एकमात्र उदाहरण मेरे पास है। राष्ट्रभाषा-परिषद्, सम्मेलन या उनके छात्रों के पास अनेक होंगे।

भाई उमानाथ और बाबू शिवपूजन सहाय के इशारों को भी वे आदेश मानते थे।

अपने योग्य शिष्यों को वे बहुत मानते थे। श्री रामेश्वर सिंह काश्यप, मुकुन्द बिहारी (मुकुन्दजी के सम्बन्ध में शायद मैं गलत नाम कह रहा हूँ—मगर नाम कुछ ऐसा ही था) आदि की चर्चा करते समय वे गद्गद् हो जाते थे। आरा जैन कॉलेज के तिवारीजी, श्री जगदीश पांडे, मुंशी राम प्रसाद (ये, जब मैं स्कूल में पढ़ता था, मेरे मास्टर भी थे) आदि के वे बड़े प्रशंसक थे।

राम प्रसाद बाबू का नाम आ जाने पर एक और बात याद आ गई। नलिन' साधारणतः रुपए-पैसे में कितने लापरवाह थे, इससे एक झलक और मिलेगी। आरा जैन कॉलेज से पटना कॉलेज आने पर कुछ दिनों बाद उनके 'प्राविडेंट' फंड का रुपया निकला। मास्टर साहब वह रुपया लेकर उन्हें अदा करने आए। इत्तिफाक की बात, मैं मौजूद था उस वक्त। रुपया नलिन ने ले लिया। उन्हें रसीद भी देनी थी यह वे नहीं जानते थे। मास्टर साहब ने जब रसीद निकाली तो उन्हें याद आया कि उसपर 'स्टैंप' भी लगाना था। नलिन ने असमर्थता बताई। मास्टर साहब ने तब एक 'स्टैंप' निकाल उस रसीद पर चिपकाते हुए कहा—मैं जानता था।

कौन-कौन सी बात कहूँ! काश एक-दो होती। चार दस नहीं होतीं। और जी भरा हुआ है। भारी है।

नलिन की विद्वत्ता को आँकना मेरे बूते की बात नहीं। आसमान में पेबन्द लगाना, मेरी धृष्टता होगी।

नलिन अपने खून से हिन्दी के वृक्ष को सींच रहे थे। अपने लिए या हमारे जैसे लोगों के लिए अगर वे जीना नहीं चाहते थे, तो अपनी हिन्दी के लिए, उन्हें कम-से-कम दस वर्ष और जीना उचित था। नलिन-जैसा अनूठा और अद्वितीय कहनेवाला अब कहाँ है!

"समकालीन साहित्य को प्राचीन आदर्शों से निर्णीत कर मूल्यहीन घोषित करना संकीर्णता का द्योतक; प्राचीन-साहित्य को समकालीन आदर्शों की दृष्टि से हास्यास्पद समझ लेना छिछले विवेक का काम।"

'दृष्टिकोण' —न० वि० शा०

✣

नलिनजी की हँसी

बदरीदत्त शास्त्री
अध्यक्ष, संस्कृत-हिन्दी-विभाग, संत कोलम्बा कॉलेज, हजारीबाग

[*"नलिनजी के लेखों की पूर्ण गवेषणा होगी, इसमें सन्देह नहीं। उनके ग्रन्थ तथा लेख साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति होंगे, इसमें भी सन्देह नहीं, किन्तु उनका रहस्यमय हास्य भी कम अन्वेषण की सामग्री प्रस्तुत न करेगा।"* विद्वान बदरीदत्तजी का यह विचार वास्तव में विचारणीय और विवादविहीन है। क्या इधर भी शोध-विशेषज्ञ । ध्यान जायगा ?]

नलिनजी केवल वाणी या लेखनी के ही धनी रहे हों, ऐसी बात नहीं थी। उनका हास्य भी भावाभिव्यञ्जन की ध्वनियों से पूर्ण रहता था। उनका हास्य एक परिपूर्ण तथा अविकलाङ्ग भाषा ही था। कितने व्यक्ति उनकी इस ध्वनिपूर्ण भाषा को समझते थे, इसे भविष्य ही बताएगा।

यह हास्य की भाषा इन्हें परम्परा से प्राप्त हुई थी। इनकी पैतृक सम्पत्ति थी। इनके पूज्य पिताजी के हास्य में जो भावगाम्भीर्य रहता था, वह उनके शब्दगाम्भीर्य से भी अधिक गूढ़, अधिक रहस्यमय, अधिक भावाभिव्यञ्जक होता था।

इस लेख को लिखने के समय चालीस वर्ष पूर्व का दृश्य मेरे सामने है। काशी में महामना मालवीय जी इनके पिताजी से घन्टों बातचीत किया करते थे। पण्डितजी का उत्तर प्रायः अनेक प्रकार के हास्यों में ही होता था। मन्द मुस्कान से लेकर उन्मुक्त हास्य तक उसके बीसों प्रकार थे। हँसने के समय उनके चेहरे की एक-एक रेखा सार्थक होती थी। उस अलौकिक वाणी का पूरा अर्थ श्री मालवीय जी ही समझते थे। बाकी हमलोग तो दर्शक मात्र ही थे। गुरुजनों की मण्डली में उनकी उस रहस्यमयी भाषा की चर्चा प्रायः होती रहती थी। कभी-कभी उनलोगों के लिए एक समस्या भी बन जाती थी। मेरे बालहृदय

पर उस हँसी की एक अमिट छाप पड़ी थी। कभी-कभी एकान्त में मैं उसका मनन करता। कभी हास्य के दर्पण में किसी मानव के अन्तः करण का प्रतिबिम्ब देखता।

तीस वर्ष बाद (आज से दस वर्ष पूर्व) पटना के साहित्य-सम्मेलन-भवन में अचानक मेरे कानों में एक हँसी गूँज उठी, जिसने क्षणमात्र में मेरी तीस वर्ष पुरानी स्मृति को सहसा जगा दिया। उसी रहस्यपूर्ण हास्य की ध्वनि थी। पुत्र के रूप में मानो पिता ही का साक्षात्कार था।

एकबार 'नकेनवाद' पर मैंने कुछ चर्चा छेड़ी और नलिनजी से उस पर कुछ प्रकाश डालने का आग्रह किया। नलिनजी हँस पड़े। इसी हँसी में उनका सारा उत्तर समाविष्ट था। उनकी उस हँसी के अर्थविश्लेषण का तो यह समुचित अवसर नहीं है, फिर कभी इस पर प्रकाश डाला जा सकता है।

इसके बाद तो न जाने कितनी बार उनसे मुलाकात हुई, न जाने किस-किस विषय पर बातें हुईं, पर सदा उनका हास्य ही वाणी का काम करता रहा। निरर्थक और बात टालनेवाला हास्य नहीं; बात को पूरी तरह समझा देनेवाला हास्य। शब्द-प्रयोग की कमी का पूरक हास्य।

नलिनजी के लेखों की पूर्ण गवेषणा होगी, इसमें सन्देह नहीं। उनके ग्रन्थ तथा लेख साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति होंगे, इसमें भी सन्देह नहीं, किन्तु उनका रहस्यपूर्ण हास्य भी कम अन्वेषण की सामग्री प्रस्तुत न करेगा। अनेक साहित्यिक उलझनों की कुंजी उसी में मिलेगी। मेरी समझ में तो उनका हास्यमय भावुक हृदय उनके हास्य-निकुंज में ही कहीं छिपा मिलेगा।

महाप्रयाण के शायद दो-चार ही दिन पहले राँची-विश्व-विद्यालय में उनसे आखिरी भेंट हुई थी। कुशल-मंगल पूछने पर उत्तर उसी हँसी में मिला। किन्तु इस हँसी में कुछ विलक्षण-सी ध्वनि थी। होठों पर कुछ नवीन रेखाएँ अंकित थीं, जो प्रायः जगत के प्रति उदासीनता झलका रही थीं। मालूम होता था मानो वे सुख-दुःख की सामान्य परिभाषा के बन्धन को तोड़कर ऊपर उठ रहे हैं। दार्शनिकों की मोह-शून्यता उन रेखाओं में अंकित हो रही थी। विधि के हाथों ने शायद अज्ञातरूप से उस भाव को अंकित किया था।

भाई नलिनजी का नश्वर शरीर आज हमलोगों के बीच न रहा, किन्तु उनकी कर्मठ आत्मा, उनकी अमर कृतियाँ, उनकी निर्मल कीर्ति संसार में अमर रहेगी।

'कीर्तिर्यस्य स जीवति।'

✤

बदरीनाथ वर्मा
भूतपूर्व शिक्षा-मंत्री, बिहार, मीठापुर, पटना—१

पैनी दृष्टि : नैसर्गिक प्रतिभा

[आचार्य वर्मा जी की वाणी का यह आचार्यत्व उनकी असीम अनुभूति की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति प्रकट करता है—*"पर सबसे बढ़कर वे मनुष्य थे—मानवता का सच्चा प्रतीक—जैसे मनुष्य की अपेक्षा लोक-कल्याण के लिए सदा संर... की रही है।"*]

☼ ☼ ☼

श्री नलिन विलोचन शर्मा से विशिष्ट रूप से व्यक्तिगत सम्पर्क का सुयोग मुझे बहुत अल्प बल्कि नहीं के बराबर मिला। जिस समय उनकी आयु प्रायः चार ही वर्षों की थी मैं एक दूसरे पथ का पथिक हो गया और यद्यपि साहित्यिक संस्थाओं से मेरा सम्बन्ध तो नहीं टूटा तथा साहित्यिकों से भी कुछ-न-कुछ सम्बन्ध बना ही रहा पर जो लोग बाद में

साहित्यिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुए उनके क्रमिक विकास को निकट से देखने या अध्ययन करने का मौका जाता रहा। नलिनजी तो उस समय शिशुमात्र थे, उनकी प्रारंभिक शिक्षा भी आरम्भ नहीं हुई थी और जबतक उनकी शिक्षा-दीक्षा चलती रही मुझे उन्हें देखने-जानने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। हाँ, बचपन में मैंने उन्हें अवश्य देखा था जब मैं उनके पूज्य पिताजी के पास कभी भी चला जाता था। पर वह अवसर भी, दुर्भाग्य से, हाथ से निकल गया जब उनके पिताजी ने अपनी पार्थिव लीला समाप्त कर हम लोगों को रोते-कलपते छोड़कर अकस्मात् अपने नश्वर शरीर को त्याग दिया। नलिनजी से कुछ निकट से मिलने का मौका मुझे पहली बार शायद १९४६ ई० में मिला जब वे श्री हर-प्रसाद दास जैन कॉलेज, आरा में अध्यापक थे। मैं आरा गया हुआ था और वहीं एक साहित्यिक गोष्ठी में मुझे सम्मिलित होने का निमंत्रण मिला। नलिनजी ही उस गोष्ठी के आयोजक थे। आज मुझे स्मरण तो नहीं है कि उस गोष्ठी में किस विषय पर चर्चा हुई, पर यह मुझे स्पष्ट याद है कि नलिनजी ने मेरी बातों को अनेक रूप में लोगों के सामने रखा और जो कुछ मैंने कहा था उसको उन्होंने अपने ढंग से प्रतिपादित किया। मैंने तत्काल ही अनुभव किया कि विषयों को प्रतिपादित करने की उनकी एक अपनी शैली है, एक अपना दृष्टिकोण है तथा उनके बोलने के ढंग में यथेष्ट गांभीर्य है और विषयों की तह में जाने की विलक्षण शक्ति है। मैंने अनुभव किया कि इनमें एक बड़ा विचारक, एक ऊँचे दर्जे का साहित्यकार बनने के आवश्यक गुण हैं, एक पैनी दृष्टि है, नैसर्गिक प्रतिभा है। नलिनजी से फिर मिलने का मौका मुझे कई सालों के बाद मिला जब वे राष्ट्रभाषा-परिषद् के सदस्य मनोनीत हुए और उसके कार्यों में भाग लेने लगे। तबसे उनसे मिलने का अवसर विशेष मिलने लगा तथा उनके कार्यों को देखने, उनकी बातों को सुनने और उनके लेखों को पढ़ने का भी प्रायः अवसर मिलता रहा। इन सबने उनके सम्बन्ध में मेरी पहली धारणा, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, उत्तरोत्तर पुष्ट होती गयी और मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि इनसे सचमुच हिन्दी-साहित्य की विशेष सेवा होगी और इसका मान बहुत ऊँचा उठेगा। दुःख है कि उनसे जो आशाएँ मुझे, बल्कि सारे हिन्दी-संसार को थीं वे नियति के एक थपेड़े में अपूर्ण ही समाप्त हो गयीं और आज हमें उनके अभाव के रूप में अपनी—कम-से-कम निकट भविष्य में—अपूरणीय क्षति पर आँसू बहाना पड़ रहा है। पर हम ईश्वर के विधान में कर ही क्या सकते हैं? दिल कड़ा कर किसी तरह इस अपार दुःख को सह लेना ही बस हमारी अधिक-से-अधिक शक्ति हो सकती है।

नलिनजी एक बड़े पिता के बड़े पुत्र थे। उन्होंने अनेक गुण अपने पिताजी से मानों

उत्तराधिकार में पाये थे। उनमें विलक्षण मौलिकता थी, पुरानी लीकों को छोड़ कर अपने लिए नयी लीक बनाने की विशेष क्षमता थी। उनके पूज्य पिता परम आदरणीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा जी एक विलक्षण विद्वान थे पर उनकी विद्वत्ता केवल सूचीपत्र-पंडिताई नहीं थी जो प्रायः साधारण कोटि के ऊँचे विद्वानों में देखी जाती है। आज विद्वत्ता प्रायः उन ज्ञानों का अपक्क अपरिमार्जित संग्रह है जिन्हें पूर्वाचार्य हमें दे गये हैं। उनका तत्त्व ग्रहण कर उनके आधार पर अथवा उनकी सहायता या छानबीन से नये ज्ञान की सृष्टि की प्रवृत्ति प्रायः लुप्त सी हो रही है। महामहोपाध्यायजी की विलक्षणता यही थी कि वे कुछ नया विचार संसार को देना चाहते थे और दे गये। उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध पुरातत्वविद् स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल कहा करते थे कि (उनेक अंग्रेजी के शब्द ये थेः—) "he belonged to the race of Kapil and Kanad–वे कपिल और कणाद की जाति के थे। दर्शनशास्त्र में जो मौलिकता, जो सूक्ष्मबुद्धिता महामहोपाध्याय जी में थी, वही मौलिकता, वही सूक्ष्म दृष्टि साहित्य के क्षेत्र में उनके पुत्र नलिनजी में थी। नलिनजी का देहावसान अल्पायु में ही हुआ। मृत्यु के समय वे केवल ४६ वर्ष के थे। इस विषय में नलिनजी अपने पिताजी से बाजी मार ले गये चूंकि उनकी मृत्यु प्रायः ५१-५२ वर्ष में हुई थी। पर इस स्वल्प काल में भी उनकी जो कृतियाँ हुईं वे उनकी सूक्ष्म बुद्धि, उनकी मौलिकता का यथेष्ट परिचय दे रही हैं। पर नलिनजी केवल विलक्षण साहित्यकार ही नहीं थे। उनमें कलात्मकता भी विशेष रूप से थी। पर सबसे बढ़कर वे एक मनुष्य थे—मानवता का सच्चा प्रतीक—जैसे मनुष्य की अपेक्षा लोक-कल्याण के लिये सदा संसार को रही है और आज तो विशेष रूप से है। इन्हें खोकर हमने एक रत्न खोया है—एक ऐसा रत्न जो अपनी चमक, अपनी उज्ज्वलता के कारण अत्यन्त दुर्लभ है। ईश्वर उनकी आत्मा को सद्गति दे! ओम् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

✣

काल की छाती पर एक अमिट रेखा !

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

संचालक,

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—६

[डॉक्टर माधव की मार्मिकता का उत्स नलिनजी का सौहार्दपूर्ण सामीप्य है। उनका निरीक्षण भी इसीलिए तथ्यपूर्ण और तात्विक उतरा है। —"*प्रीति करना और उसे निभाना—उनसे सीखने की चीज थी। जिसे स्वीकार कर लिया, उसे लाख दोष होने पर भी, अपनी ओर से छोड़ा नहीं।*"]

कुछ ही दिनों के अन्दर नवीनजी, नलिनजी और निरालाजी का निधन हिन्दी-साहित्य-संसार पर एक पर एक ऐसा वज्रपात है जिसे सहन करने की शक्ति और धैर्य का सारा कोष लुट गया है। ये तीनों ही अपने-अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व के कारण साहित्य-गगन में सदा चमकते रहेंगे परन्तु इनके चले जाने से जो भयंकर रिक्तता आ गई है वह अपूरणीय है। एक के जाने का घाव अभी हरा ही था कि दूसरा चला गया, दूसरे के जाने के आँसू अभी सूखे भी नहीं कि तीसरा चला गया।

नवीनजी और निरालाजी की लम्बी बीमारियों ने उन्हें जर्जर कर दिया था और एक प्रकार से हम उनके महाप्रयाण के लिए अपने हृदय को तैयार कर पा सके थे परन्तु नलिनजी की महायात्रा तो इतनी असामयिक और आकस्मिक हुई कि अभी तक विश्वास ही नहीं होता कि वे सचमुच सदा के लिए चले गये, चले ही गये। लगभग एक वर्ष से वे 'डायटिंग' द्वारा अपने शरीर को सुखा रहे थे, शरीर पर का प्रायः सारा-का-सारा मांस उन्होंने गला दिया था। पिछले कुछ दिनों से उनके शरीर की हालत देखकर दया आती थी परन्तु पूछने पर मुसकाते हुए कहते—सिद्धियों में 'गरिमा' का अनुभव ले चुका हूँ, अब 'अणिमा' और 'लघिमा' का अनुभव ले रहा हूँ! अन्न प्रायः छोड़ चुके थे। उबले हुए शाक और फलों पर अपना दिन निकाल रहे थे। शरीर छीजता जा रहा था परन्तु प्रसन्नता ज्यों-की-त्यों खिलती खिलखिलाती बनी रही। जीने की कला तो उनसे सीखने की वस्तु थी ही परन्तु मरने की कला भी वे सिखा गये। अन्तिम दिन अपने से शेव किया, चाय पी, अखबार पढ़ा, कॉलेज चलने को तैयार हुए, थोड़ा-सा सिर में चक्कर और कलेजे में दर्द महसूस किया, विश्राम करने लगे, परम विश्राम में चुपचाप सदा के लिए सो गये। असाधारण—सब बातों में असाधारण, जीवन में भी, मृत्यु में भी। उनका हँसना, बोलना, चलना, मिलना, सब कुछ तो असाधारण ही था। और वह शवयात्रा! पटने के इतिहास में एक ही। वही सहज गम्भीर-मुद्रा, उन्नत ललाट, जरा-सा खुले हुए अधर—'नलिन विलोचन'—कितना सार्थक था वह नाम इस व्यक्तित्व में! सहस्र-सहस्र साहित्य-साधकों ने उनकी महायात्रा में स्मशान तक उन्हें अपने कंधे पर पहुँचाया। गंगा-तट पर जब चिता धधकी तो बहुत देर तक उसकी ज्वाला में उनका विशाल मस्तक चमक-चमक जाता था—सारे शरीर को जलाकर ही कालाग्नि उनके मस्तक को छू सकी। महाकाल की वन्दना साहित्य-देवता के चरणों में—उस दिन हम सभी ने अपनी इन अभागिन परन्तु भाग्यशालिनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा। नलिनजी का वह मृत्युञ्जय रूप! और कौन इसे नहीं जानता कि नलिनजी मृत्युञ्जय थे! थे क्या, हैं। उनका यशःशरीर उनकी अमर कृतियों में अमर है—जबतक हिन्दी है तबतक नलिनजी हैं—काल की छाती पर एक अमिट रेख खींच कर वे चले गये, काल सदा उनका यश गाता रहेगा—एक 'रससिद्ध' साहित्यकार का अमर अमल यश। सन् ३०-३१ में पहलेपहल 'बच्चा' (डॉ० देवराज उपाध्याय) के विवाह में नलिनजी को देखा था। तब वे 'बबुआ' थे और बबुआ कहलाते भी थे। उन दिनों 'बच्चा' और मैं देश-भक्ति की आग में तिल-तिल जल रहे थे, शादी-विवाह कुछ भी सुहा नहीं रहा था, फिर भी वह 'विवाह' कर्त्तव्य के रूप में निभा लेने की मुद्रा में सम्पन्न हो

गया। बारात में हमलोग १५-२० व्यक्ति थे, 'बबुआ' इत्र-पान बाँटने में व्यस्त थे। सारा का सारा वातावरण आभिजात्यवर्गीय, चेहरे पर शहरी चिकनाई, गुलथुल शरीर, आँखों में शील की श्री। कुल मिला कर 'बबुआ' के उस रूप में 'प्रभविष्णुता' का अभाव-सा ही था—बहुत बड़े, अप्रतिम विद्वान के जेष्ठ पुत्र होने का प्रभाव तो मन पर था परन्तु स्वयं अपने में भी ये 'अप्रतिम' होंगे उस समय ऐसा सोचा नहीं जा सकता था।

परन्तु योग्य पिता के परम सुयोग्य पुत्र के रूप में नलिनजी की प्रतिभा निखरती और चमकती गई और अन्त तक उस निखार और चमक में कभी म्लानता या क्षीणता का आभास नहीं हुआ। और, इसे दैवयोग ही कहना चाहिए कि हम दोनों '४२-'४३ में एक साल आगे-पीछे एक ही कॉलेज में सहाध्यापक हो गये—वे संस्कृत-विभाग में, मैं हिन्दी-विभाग में। आरा जैन कॉलेज के वे हरियाले दिन भुलाये नहीं भूलते जहाँ बिहार के एक-से-एक मूर्धन्य विद्वानों के दिव्य दर्शन सुलभ हो गये—आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, डॉ० परमेश्वर दयाल, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, डॉ० रामशरण शर्मा, डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, डॉ० देवराज। उस समय देवराज के अतिरिक्त ये सभी अडॉक्टर ही थे। हम सभी एक ही 'स्टॉफ रूम' में बैठते थे। नलिनजी का स्थान और उनकी कुर्सी सुरक्षित थी—पश्चिमवाली पंक्ति के मध्य में वे बराबर बैठते थे। बैठते क्या, हाथ में चॉक लेकर मेज पर कुछ-न-कुछ रेखा-चित्र बनाया करते या कुछ लिखते-मिटाते। धूम्रपान अखण्ड चलता रहता। आरम्भ में वे बड़े शर्मीले लगते, आँखों से आँखें मिला कर, सामने देखकर कभी बात नहीं करते। आवाज में सिगरेट की खसखसाहट, कुछ धीरे-धीरे बोलते, यहाँ तक कि अन्तिम बेंच के छात्रों को ठीक-ठीक सुनने में कठिनाई होती। परन्तु संस्कृत की कक्षाएँ प्रायः छोटी हुआ करतीं और छात्र कम ही होते।

आरा में ही उनके विस्तृत स्वाध्याय की शोहरत फैलने लगी थी। रात को प्रायः दो-दो बजे तक वे पढ़ते रहते। उनके स्वाध्याय का विषय सामान्यतः पाश्चात्य साहित्य और उसमें भी विशेषतः उपन्यास-साहित्य होता। मूलतः अंगरेजी में या विभिन्न भाषाओं से अंगरेजी में अनूदित साहित्य का जितना विशाल व्यापक अध्ययन शर्माजी का था उतना हिन्दी-साहित्य-संसार में शायद ही किसी का हो—ऐसा निःसंकोच कहा जा सकता है। उन्होंने अंगरेजी के कुछ मोटे-मोटे सुप्रसिद्ध उपन्यास मुझे भी पढ़ने को दिये परन्तु मेरा सदा से यह दुर्भाग्य रहा है कि लम्बे उपन्यास पढ़ने का मेरे पास धैर्य नहीं है इसलिए वे प्रायः मुझसे निराश रहा करते और कहा करते कि 'आप साहित्य के रस

से वंचित ही रह गये।' इस अर्थ में तो निश्चय ही मैं अभागा सिद्ध हुआ। हमारे उनके बीच की रेखा भी काफी चौड़ी थी—मैं हर बात में पुरातन पंथी, रूढ़िवादी परम्परा का अनुयायी—जिसे आज की भाषा में 'खूसट' भी कह सकते हैं; वे हर बात में नूतनता के प्रचंड प्रवर्तक, समर्थक जिसे 'क्रांतिकारी' कहना चाहिए। कबीर, दादू, रैदास, सूर, तुलसी, जायसी, मीरा मेरे प्रिय और आदर्श कवि—जिन्हें वे हँसते-हँसते 'फॉसिल्स' ('fossils') कहा करते और यों मेरे पुरातनवाद का मजाक उड़ाया करते। उनके परम प्रिय और आदर्श कवि थे 'निराला', और निरालाजी को कई बार बहुत निकट से नलिनजी के ही आरा वाले निवास-स्थान पर देखने का सौभाग्य मिला। नवीन, नलिन, निराला—एक ही राशि के कारण नहीं अनेकानेक दैवविधान से राष्ट्रभारती के 'बृहत्त्रयी' के रूप में स्मरण किये जाते रहेंगे—'यहाँ' भी, 'वहाँ' भी।

मेरी माँ के श्राद्ध में नलिनजी आरा कॉलेज के अन्य अध्यापकों के साथ मेरे गाँव पधारे थे। घोर देहात में इतनी दूर पैदल चलने तथा देहाती वातावरण में पूरा एक दिन और एक रात बिताने का उनका वह अनुभव सम्भवतः प्रथम और अन्तिम रहा होगा। बड़ी असुविधाएँ उन्हें झेलनी पड़ीं पर सदा वे मुसकाते ही रहे—एकबार भी ऐसा बोध नहीं होने दिया कि कहाँ इस बज्र देहात में आ गया! आरा से वे राँची होकर पटना आये और मैं चला गया औरंगाबाद। तब हम दोनों का प्रायः सहपरीक्षक के रूप में मिलन हुआ करता, कभी वे मुख्य परीक्षक होते मैं सहायक, कभी मैं मुख्य परीक्षक होता वे सहायक। विचारों में काफी अन्तर रहते हुए भी हमारी उनकी प्रीति में कभी भेद नहीं हुआ। हम दोनों को अपनी-अपनी सीमाओं का परिज्ञान था, इसलिए एक दूसरे के क्षेत्र में दखल देने के लोभ से हम परस्पर बचते रहे परन्तु प्रीति प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होती गई।

नियति जब पटना में समाज-शिक्षा के उपनिदेशक के रूप मे मुझे घसीट लाई तब नलिनजी का सुखद संसर्ग अधिकाधिक मिलने लगा। मिलने का स्थल प्रायः साहित्य-सम्मेलन-भवन होता जहाँ भी उनके बैठने का स्थान सुनिश्चित एवं सुरक्षित था। कई बार साहित्य-यात्राएँ भी साथ-साथ करने का संयोग आता रहा। विशेषतः तुलसी और भारतेन्दु जयन्तियों पर। उन यात्राओं में उनका एकान्त मिलन अमृतोपम रहता, विशेषतः उनका हास्य और व्यंग्य। सुख-दुःख में हम दोनों परस्पर अधिकाधिक निकट आते गये और यह सान्निध्य अतिशय घनीभूत हुआ जब मेरी नियुक्ति राष्ट्रभाषा-परिषद् में हुई। वह दिन स्मरण है जब मैं परिषद् का 'चार्ज' लेने जा रहा था। उनके व्रज-

किशोर पथ वाले निवास-स्थान पर गया, उन्हें नमस्कार किया, साथ लिया और उन्हीं के सान्निध्य में परिषद् का संचालन-भार ग्रहण किया।

परिषद् में वे अनुसंधान-विभाग के निर्देशक तो थे ही, सामान्य समिति के संचालक-मंडल के सम्मान्य सदस्य भी थे, परिषद्-पत्रिका के सम्पादक-मंडल में भी अन्यतम थे। परिषद् के कई अनमोल ग्रन्थों के सम्पादन का दायित्व अपने ऊपर लेकर हमारा बहुत सारा भार हलका करते रहे। परिषद् के प्रत्येक कार्य में वे रुचि लेते रहे और उसकी गति-विधि पर एक पैनी परन्तु सर्जनात्मक दृष्टि रखते और पदे-पदे संचालन-कार्य में मेरी अथक सहायता और पथ-निर्देश करते। पिछले कुछ महीनों से, कभी-कभी, किसी-किसी बात पर अड़ जाने की उनकी आदत हो गई थी, ऐसे प्रायः सभी अवसरों पर परिषद् का वातावरण बड़ा ही दिलचस्प हो जाया करता और हम सभी उसका पूरा-पूरा आनन्द लेते। कुल मिलाकर उनका योगदान सदा ही परिषद् के लिए 'पवित्रं, मङ्गलं, परम्' सिद्ध होता। उनके अभाव में परिषद् की बैठकें अब नीरस एवं श्रीहीन प्रतीत होती हैं—क्या कहा जाय, कैसे कहा जाय कि उनके निर्वाण से कितनी भयङ्कर क्षति का शिकार परिषद् को होना पड़ गया है!

सर्वथा विलक्षण था उनका व्यक्तित्व, परन्तु उससे भी महाविलक्षण और मधुर था उनका स्वभाव। किसी का दोष देखना वे जानते ही नहीं थे। क्रोधावेश में उन्हें कभी किसीने नहीं देखा। ईर्ष्या, द्वेष से वे सर्वथा मुक्त थे। 'अयं निजः परो वेति' के चक्कर में वे पड़े ही नहीं, सभी उनके 'निज' ही थे। प्रीति करना और उसे निभाना—उनसे सीखने की चीज थी। जिसे एक बार स्वीकार कर लिया, उसे लाख दोष होने पर भी अपनी ओर से छोड़ा नहीं—इस विषय में वे स्वर्गीय 'बाबू साहब' (डॉ० अनुग्रह नारायण सिंह) के समकक्ष थे। अतिथि-सत्कार में, सौहार्द और उदात्तता में स्वर्गीय 'सिन्हा साहब' (डॉ० सच्चिदानन्द सिंह) की और वेषभूषा में अतिशय सुरुचि-सम्पन्नता की दृष्टि से श्री बाबू की याद दिलाते थे।

साहित्य में जितना उन्होंने सृजन किया उससे कहीं अधिक सृजन करने की शक्ति और प्रेरणा अपने सहाध्यापकों और छात्रों में भरते रहे और अपने प्यार-दुलार से शत-शत 'छुटभैयों' को साहित्य पढ़ने और साहित्य लिखने को प्रेरित-प्रोत्साहित किया। सैकड़ों लेखक और आलोचक तैयार किये। कविता की नई धारा में एक नूतनतम धारा के प्रवर्तक हुए और तात्त्विक शोध (Fundamental Research) के अभिनव आविष्कारक।

इन सारी बातों में सृजनात्मक प्रतिभाओं के संघटन धान एवं प्रवर्तन में वे आचार्य श्यामसुन्दर दास की याद दिलाते थे। बहुत कुछ वैसे ही थे।

नलिनजी ने कभी गांधी टोपी नहीं पहनी, खादी भी नहीं; इनमें से उन्हें राजनीति की दुर्गन्ध आती थी। कपड़े-लत्ते में वे बड़े शौकीन थे—खूब बेशकीमती कपड़े पहनते। गर्मी और बरसात में धोती कुर्त्ता, जाड़े में लम्बा कोट या शेरवानी, पैरों में बराबर अफगानी चप्पल। चाय और सिगरेट उनके व्यसनों में थे परन्तु सबसे बड़ा और जीवन्त व्यसन था विद्या का। उन्नत ललाट, आर्य आकृति, प्रसन्न, गम्भीर मुद्रा। सामने के बाल बहुत दूर तक साफ हो चले थे, पीछे की ओर कुछ-कुछ जुल्फीनुमा केश; क्लीन शेव्ड। कॉलेज जाते समय हाथों में पुस्तकों से भरा पृथुल बैग—लगता है परिषद्-कक्ष में वे अभी रिक्शे से पधार रहे हैं और मैं उनके स्वागत के लिए बरसाती की सीढ़ियों पर हाथ जोड़े खड़ा हूँ।

"कलाकार के कण्ठ का हलाहल विश्व के लिए कल्याणकर हो सकता है; साधारण मनुष्य के लिए जो अभिशाप होता है, उसे वह वरदान की तरह सर-आँखों पर ले लेने की क्षमता रखता है।"

'दृष्टिकोण' —न० वि० श०

✤

ऐसे थे हमारे नलिन जी !

भुवनेश्वर द्विवेदी

[उपनिदेशक, जन-सम्पर्क-विभाग, सचिवालय, पटना—१]

[नलिनजी की अनेक असाधारणताओं में एक असाधारणता यह भी थी कि वे— *"अपने विषय में शायद ही कभी बातें करते थे। घनिष्ठ मित्रों के सामने भी वे अपने विषय में बात बहुत कम करते थे। अपने विषय में बात नहीं करने की उनकी आदत बड़ी जबर्दस्त थी।"*]

उन्हीं नलिनजी के बारे में लिख रहा हूँ जो मेरे जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि थे। आज उनके नहीं रहने पर मेरे जीवन का कौन कोना, या यों कहिए कि अनेक कोने रिक्त हो गये हैं, यह मैं ही जानता हूँ। नलिनजी के घनिष्ठ मित्रों में मैं था। उनके-जैसा मित्र मिला भी खूब था। एक विचित्र बात हुई थी जो होती बहुत कम है। उनके मित्र होते ही मैं उन सभी लोगों के घनिष्ठ संपर्क में आ गया, जो नलिन जी के घनिष्ठ थे।

× × ×

बात आज से उन्नीस साल पहले की है, मगर लगता है, जैसे कल ही घटी हो। १६४२ ई० में आरा का हरप्रसाद दास जैन कॉलेज नया-नया खुला था। मैं उसमें पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त हुआ था। नलिनजी वहाँ संस्कृत के प्रोफेसर के पद पर आये थे। नलिनजी से मेरा पहले का परिचय नहीं था। उनका व्यक्तित्व ऐसा कि किसी की

नजर से चूके क्यों ! एक तो प्रोफेसर, और दूसरे इतना विराट् व्यक्तित्व—ये बातें ऐसी थीं कि उनके निकट सम्पर्क में आने की बात कभी मेरे मन में जनमी ही नहीं। संयोग की बात कि नलिनजी पुस्तकालय के प्रभारी अधिकारी (लाइब्रेरी इनचार्ज) बनाये गये। इस प्रकार, मुझे उनके अधीन काम करना था। उनकी विशालहृदयता और उदारता ने मुझ- जैसे संकोची जीव को भी थोड़ा खुलने की हिम्मत दी। उन्होंने मुझे न केवल कभी यह महसूस नहीं होने दिया कि मैं उनका अधीनस्थ हूँ, बल्कि मुझे अपने निकट, और निकट, आने का बढ़ावा भी दिया। आगे चल कर तो मैं नलिनजी के घनिष्ठ मित्रों में से हो गया।

× × ×

नलिनजी के साथ मेरा परिचय पनपकर घनिष्ठता की ओर बढ़ ही रहा था कि उनके चार-पाँच घनिष्ठ मित्रों से मेरा परिचय हुआ और इन मित्रों के आते ही वह घनिष्ठता और भी तेज गति से दृढ़ हो चली। वे अन्य मित्र हैं श्री धनेन्द्र सहाय, पांडेय कपिलदेव नारायण, श्री बटुकदेव मिश्र और श्री उमानाथ। बाद में, नलिनजी के ही कारण मैं प्रो० केसरी कुमार सिंह, श्री नरेशजी और श्री शिवचंद्र शर्मा के निकट सम्पर्क में आया। आज ये ही कुछ अमूल्य मित्र मेरे लिए नलिनजी की धरोहर-जैसे हैं।

नलिनजी के सम्पर्क में मैं आया विलम्ब से। उनका बचपन मैंने नजदीक से नहीं देखा। उनके बारे में लोगों से सुना भर था। लेकिन इतने से ही मुझे यकीन हो गया था कि होनहार बिरवा के चिकने पात शुरू में ही दीख गये थे।

नलिनजी को जिन लोगों ने भी नजदीक से देखा होगा, उनकी निगाह से एक बात नहीं चूकी होगी, यानी उनकी संकोचशीलता। यह संकोचशीलता उनके व्यक्तित्व में सहज भाव से व्याप्त थी। वह ऊपर से आरोपित नहीं थी। मुझे तो ऐसा लगता है कि उनकी संकोचशीलता मानवता के प्रति उनकी अतिशय श्रद्धा का ही परिणाम थी। मानो, मानवता ऐसी कोमल भाव-लतिका हो जो जरा तेज निगाह पड़ी नहीं कि सकुचायी, मुरझायी। खैर, संकोच के वे शिकार बचपन से ही थे। इसके बारे में एक घटना उन्होंने सुनायी थी। अपने पूज्य पिता महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्माजी के साथ वे कलकत्ता गये हुए थे। तब उनकी उम्र ग्यारह-बारह की रही होगी। कलकत्ते की इस यात्रा में परिवार के और लोग थे या नहीं, यह मालूम नहीं। उनके पिता जी फिटन पर कलकत्ते की सैर करने निकले। चौरंगी आया। जिन दिनों की यह बात है, उन दिनों चौरंगी पर "व्हाइटवे लैडला" नामक एक प्रसिद्ध अंग्रेजी दूकान थी जहाँ जीवन की सारी आवश्यक चीजें, आधुनिक ढंग की, मिलती थीं। तो उसी "व्हाइटवे लैडला" के सामने

आते ही, उनके पिताजी ने फिटन रुकवा दी, और उनसे कहा कि दूकान में जाकर अमुक चीज खरीद लाओ। उस समय नलिनजी का सिर घुटा हुआ था और उसपर गोल टोपी थी। उस दूकान में केवल अंगरेज लड़के-लड़कियाँ ही सेल्सगर्ल्स थीं। नलिनजी कुछ सकुचाये। उनके पिताजी यह बात ताड़ गये, और जरा जोर से कहा—जाओ, खरीद लाओ। वे बिचारे गये। वहाँ जो चीज खरीदनी थी, उसे खूब छान-बीन कर, खरीद लाये।

नलिनजी को सैर-सपाटे का बड़ा शौक था। यह शौक उन्हें अपने पिताजी से विरासत में मिला था। उनके पिताजी जिन दिनों काशी में सेंट्रल हिन्दू कॉलेज में थे, नित्य दस-पाँच मील का चक्कर लगाया करते थे। उन्हें काशी में भिन्न-भिन्न स्थानों के कुओं का जल पीते फिरने का बड़ा शौक था। उनके पिताजी और उनमें फर्क इतना ही था कि वे पैदल पर्यटन बहुत पसन्द नहीं करते थे। नलिनजी जीवन की हलचलों से दूर हट कर कुछ समय जी लेने के लिए सैर-सपाटे किया करते थे। जब भी मौका मिलता, कभी राजगीर, कभी काशी की सैर हो ही जाया करती थी। इस सैर में जीवन के हस्ब-मामूल झंझटों से जितना भी बच निकला जा सकता था वे बच निकलने की कोशिश करते थे। किसी जगह जाने पर वहाँ अपने रिश्तेदारों से भी मिलना-जुलना उन्हें पसन्द नहीं था, इसलिए कि जिस अपने को भूलने के लिए इतनी दूर आये उसको दूसरों से मिलकर जनाते-जगाते फिरने में क्या तुक है!

इतना जरूर है कि उनके सैर-सपाटे की असली अभिलाषा कभी पूरी नहीं हुई। नलिनजी कभी-कभी कहते थे—भई, यात्रा तो कार कंपनी के छोटे जहाज पर हो तो अच्छा। जहाज पर जरुरियात की सारी चीजें रहें। जहाज चलता रहे, बस चलता रहे। बीस-पचीस दिन उसी पर बीतें। दुनिया से वह जीवन इतना दूर रहे कि आदमी दिन और तारीख भूल जाय, और यह भी भूल जाय कि नदी के उस किनारे दीखनेवाली दुनिया से हमारा कोई संबंध भी है।

किन्तु दुनिया से हट कर कुछ समय बिता लेने में, नलिनजी का उद्देश्य दुनिया से भागना नहीं था। दुनिया में तो वे आकण्ठ निमग्न होकर जीना चाहते थे, और ऐसा जीना वे जानते भी थे। उनका उद्देश्य, जहाँ तक मैं समझ पाया, यह था कि जीवनक्षेत्र से कुछ दूर हट कर, तटस्थ भाव से, उस जीवनक्षेत्र की हर अच्छी-बुरी बात को एक नये परिवेश में सोच-समझ सकें। और, उनके जैसे संवेदनशील व्यक्ति के लिए यदा-कदा की यह तटस्थता अपेक्षित भी थी। बड़ी छोटी-सी घटना है, किन्तु इनकी संवेदनशीलता की तीव्रता को वह उभार कर रख देती है। एक दिन नलिनजी पटना विश्वविद्यालय से

छुट्टी होने पर निकले। अपनी कार हो जाने के पहले, रिक्शा के वे रोज के सवारी थे। उन्हें विद्यालय-भवन से बाहर निकलते देख, युनिवर्सिटी के मुख्य द्वार पर खड़े रिक्शेवाले अपना-अपना रिक्शा लेकर उनकी ओर लपके। फाटक पर सबसे आगे एक बूढ़े का रिक्शा था। वह अपना रिक्शा लेकर बढ़ा। किन्तु अभी वह नलिनजी के पास पहुँच भी नहीं पाया था कि पीछे से एक नौजवान, अपनी जवानी में मस्त, रिक्शा तेज भगाता हुआ पहले ही नलिनजी के पास पहुँच गया। उसके पीछे-पीछे वह बूढ़ा रिक्शावाला पहुँचा। नौजवान रिक्शावाले ने अपना रिक्शा नलिनजी के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया था। पीछे उस बूढ़े का रिक्शा था। क्षण भर के लिए नलिनजी बड़े असमंजस में पड़े। किन्तु दूसरे ही क्षण वे उस बूढ़े के रिक्शे पर जा बैठे। उस घटना की चर्चा करते हुए नलिनजी ने कहा था—"यह तो संयोग की बात है कि वह बूढ़ा मेरा पिता न होकर मेरे ही-जैसे किसी अन्य व्यक्ति का पिता है। इस तथ्य की मैं उपेक्षा ही कैसे करता! नौजवान की प्रतियोगिता में न टिकने के कारण यदि यह बूढ़ा आदमी सवारी से वंचित होता रहे तो आखिर इसका पेट कैसे भरेगा!" ऐसे थे हमारे नलिनजी!

× × ×

विद्वानों के कई लक्षणों में एक 'श्वान-निद्रा' की बात मैंने सुनी भर है। ऐसे लक्षण से युक्त मैंने अभी किसी को देखा नहीं। नलिनजी की भी नींद 'श्वान-निद्रा' ही थी। इसकी एक घटना उन्होंने स्वयं सुनायी थी। उनके सबसे बड़े बहनोई पंडित कृष्णदेव तिवारी, जिन्होंने हाल ही लखनऊ विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार के पद से अवकाश ग्रहण किया है, उन दिनों प्रयाग विश्वविद्यालय के डिप्टी रजिस्ट्रार थे। एक दिन वे रात में किसी ट्रेन से उतरे और डेढ़-दो बजे के लगभग उनके ब्रजकिशोरपथ वाले मकान पर पहुँचे। नलिनजी सपरिवार ऊपर की मंजिल पर सोये हुए थे। तिवारीजी ने नीचे से आवाज दी। पहली ही आवाज में नलिनजी की नींद खुल गयी थी। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—'भाई साहब आये हैं, नीचे का फाटक खोल दो।' जब तक तिवारीजी दूसरी आवाज दें तबतक नलिनजी की पत्नी सीढ़ी से उतर रही थीं।

एक दिन मैं बीती रात पहुँचा था। वे भी ऊपर ही सोये हुए थे। उन्होंने भी मेरी पहली ही आवाज को न केवल सुन लिया था, बल्कि पहचान भी लिया और माँजी (नलिनजी की माताजी) से कहा था—'नीचे बड़का बबुआजी पुकार रहे हैं, फाटक खोल दो।'

'श्वान-निद्रा' में ध्वनित बुद्धि की सतर्कता से सम्पन्न नलिनजी घोर सांसारिक विषयों में, प्रकृत्या, उतने ही असतर्क थे, यों कहें कि लापरवाह थे। यह जानकर कुछ

आश्चर्य होगा कि उन्हें इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं रहता था कि तनख्वाह में कितने रुपये मिलते हैं। एक बार की बात है। किन्हीं सज्जन ने बातों-बात में नलिनजी की तनख्वाह पूछी। बिचारे नलिनजी अपनी स्मृति पर बड़े झुँझलाये। बस इतना ही कहा कि इतने रुपये के आसपास मिलते होंगे। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। हम साधारण जन और बात चाहे भले ही भूल जायें, किन्तु तनख्वाह की रकम नहीं भूलती। खैर, उन सज्जन के चले जाने पर मैंने पूछा—'महाराज, आपको कितनी तनख्वाह मिलती है, यह भी नहीं मालूम ?'

उत्तर मिला—'सचमुच याद नहीं है, बात यह है कि अपने पे-बिल पर दस्तखत कर उसे मैं सीधे बैंक भेज देता हूँ।'

× × ×

रूढ़ियाँ नलिनजी को अपने में बाँध नहीं पायीं। बात यह नहीं कि रूढ़ियों में या परम्परा में नलिनजी की आस्था नहीं थी। किन्तु वे परम्पराओं को प्रश्रय उसी हद तक देते थे जिस हद तक वे मनुष्य की स्वतन्त्र चिन्तन-धारा को बाधित नहीं कर पाती थीं। किन्तु, चूँकि परम्पराएँ स्वतन्त्र चिन्तन में बाधक होती ही हैं, इसलिए नलिनजी उनको बदल कर चलने में ही विश्वास रखते थे। इन्होंने अपना, अपने छोटे भाइयों का, अपने लड़के का, किसी का भी उपनयन-संस्कार नहीं किया। बात यह नहीं कि उपनयन-संस्कार की उपयोगिता या वांछनीयता में इनका विश्वास न हो। किन्तु उपनयन-संस्कार के समय का ब्रह्मचर्यपालन; काशी में शिक्षा, आदि का जो नाटक होता था और जो वास्तविक जीवन में कहीं भी पयय नहीं बन पाता था, उससे आजकल के उपनयन-संस्कार में इनकी कभी भी, हम कुछ मित्रों के बड़े तर्क के बावजूद आस्था नहीं जगी। किन्तु, जैसा कि बता चुका हूँ, संस्कारों में उनकी आस्था थी। बटुकजी (श्री बटुकदेव मिश्र) के बड़े पुत्र चिरंजीव लल्लू के उपनयन-संस्कार के समय नलिनजी सपत्नीक गये थे और वहाँ ठहरकर सारी बातों में दिलचस्पी लेते रहे थे।

एक बार उनकी एकमात्र संतान चि० राजीव शर्मा के उपनयन-संस्कार की इच्छा हुई। नलिनजी ने इस बात की कुछ मित्रों से चर्चा की। संयोगवश राजीव भी वहाँ उपस्थित था। उसने थोड़ी जिद पकड़ी कि उपनयन-संस्कार होना चाहिये। बल्कि उसने यह भी कहा कि—'बाबूजी खर्च से घबड़ाते हैं, क्योंकि शायद डेढ़-दो हजार रुपये खर्च हो जायेंगे।' नलिनजी ने कहा—'नहीं। खर्च की बात नहीं है। तुम्हारी ऐसी इच्छा ही है तो मैं डेढ़-दो हजार रुपये किसी शिक्षा-संस्था को, या असहाय छात्रों

को दे दूँगा, किन्तु मुझसे कभी यह न होगा कि मैं तुम्हें उपनयन-संस्कार के नाटक का शिकार होने दूँ।' खैर, चि० राजीव भी तो नलिनजी की संतान ठहरा। उसका भी उपनयन-संस्कार में अब विश्वास नहीं रह गया। बाद में, हमलोगों के जोर देने पर भी, वह उपनयन-संस्कार की बात बराबर टालता ही रहा है।

× × ×

नलिनजी अपने विषय में शायद ही कभी बातें करते थे। घनिष्ठ मित्रों के सामने भी वे अपने विषय में बात बहुत कम करते थे। अपने विषय में बात नहीं करने की उनकी आदत बड़ी जबर्दस्त थी। हाल की बात है। मृत्यु के ठीक नौ दिन पहले, ३ सितम्बर, १९६१ को नलिनजी काशी गये थे। वहाँ ये प्रसिद्ध वैद्य पंडित सत्यनारायण शास्त्री से अपने स्वास्थ्य के विषय में परामर्श लेने पहुँचे। नलिनजी का सहज आकर्षक और प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व देखकर शास्त्रीजी ने इनका नाम, पता, व्यवसाय, पिता का नाम, आदि सारी चीजें जानने की उत्सुकता प्रकट की। किन्तु नलिनजी सब कुछ टाल गये। नलिनजी ने इस प्रसंग की चर्चा करते हुए कहा था—'शास्त्रीजी केवल इतना ही जान या समझ पाये कि मैं ब्राह्मण हूँ और कहीं अध्यापन करता हूँ।'

× × ×

कुछ ही दिनों की बात है। मेरा सबसे छोटा लड़का लगभग चार साल का है। एक दिन उसके साथ मैं व्रजकिशोरपथ से होकर आ रहा था। नलिनजी की गली उसकी जानी-पहचानी है। गली के सामने आते ही उसकी आँखें उस ओर घूम गयीं। कुछ देर के बाद उसने सहसा पूछा—

"बाबूजी, शर्मा चाचाजी मर गइलन ?"

मैंने कहा—"हाँ।"

उसने फिर पूछा—"शर्मा चाचाजी काहे मरलन हँ ?"

मैं बड़े पेशोपेश में पड़ा। कुछ तो उत्तर देना ही था। और उत्तर भी ऐसा होना चाहिये जो छोटे-से बालक की बुद्धि में जँचे; उसमें अँटे।

मैंने उत्तर दिया—"इहाँ उनका नीक ना लागत रहल ह।"

कुछ देर के बाद उसने कहा—"हुँ! अच्छा, इहाँ बढ़ियाँ लागित त ऊ ना मरतन ?"

मेरे पास कोई उत्तर न था।

✠

चन्दन-गंधी स्तूप

मधुकर गंगाधर

१/१४ राजेन्द्रनगर, पटना

[—*"हर सीप में मोती नहीं होता, हर हाथी में गजमुक्ता नहीं और मैं नहीं जानता, नलिनजी के उस मोती को किस रूप में परिभाषित करूँ, जिसके आब में राजा-रंक सभी आ जाते थे !"*—ऐसे आबदार मोती के हाथ से निकल जाने पर आज अनेक सीप शोक-सन्तप्त हैं और अपने सीप-नयनों से मोतियों की लड़ी पिरोकर उस नलिन विलोचन की स्मृति का सही सिंगार कर रहे हैं ।]

❋ ❋ ❋

आहिस्ते-आहिस्ते कमरे में चन्दन का सुफेद धुआँ भरा जा रहा है । आपकी साँसें सुगंध पीकर भारी होने लगती हैं । धुआँ बढ़ता जा रहा है । और, और । आपकी आँखें ढँक जाती हैं । आप चन्दन-गंधी धुआँ से भीतर-बाहर घिर जाते हैं और आत्म-लीन हो जाते हैं और सुगंध की डोर पकड़े भावों और विचारों के अनन्त आकाश में खो जाते हैं ।

देवपुरुष नलिन विलोचन शर्मा का व्यक्तित्व यही था। आप उनके सामने बैठते और चन्दन-गंधी धुआँ से घिरने लगते और खो जाते।

इस तरह के व्यक्ति विरल होते हैं। पुरुषोत्तम। क्योंकि जब हम किसी के सामने उपस्थित होते हैं, तो उस व्यक्ति की आकृति, प्रवृत्ति या पद हमें आकर्षित-विकर्षित करता है। नलिनजी के साथ वैसी बात नहीं थी। आकृति पर दर्शन और कविता, ज्ञान और चुहल इस रूप में थे कि हमारे मन पर कोई भी भाव स्थायी नहीं जगते। प्रवृत्ति में भी कुछ वैसी ही बातें थीं। विराट मौन। सागर-अथाह गंभीरता। और रोम-रोम गुदगुदाने वाला व्यंग्य और सरलतम लहजा। पद की बात नलिनजी के साथ कभी लागू नहीं हुई। वे बिना पद के कभी नहीं रहे। पैदा हुए तो पिता के दिए हुए अखिल भारतीय यश-सिंहासन पर बैठे। मृत्यु के पहले उन्होंने ख्याति का राजमहल बनाया। बीच का जीवन हमेशा स्तुत्य स्तर का रहा। किन्तु कोई नहीं कह सकता कि उन्होंने कभी पद को पद समझा हो, लोगों को समझने दिया हो। यह सब कुछ नहीं था। फिर भी सामने बैठने पर लोग अभिभूत हो जाते थे। अपनी बात नहीं करता। मैंने डॉ० द्विवेदी, जैनेन्द्रजी, अज्ञेयजी को उनके आगे उसी रूप में अभिभूत देखा, जिस रूप में कोई भी होता था। सोचता हूँ, वह क्या था! ज्ञान, गंभीरता, आकृति! ये सारी चीजें बहुतों के पास थीं, हैं, किन्तु वैसा कहाँ होता है? हर सीप में मोती नहीं होता, हर हाथी में गज-मुक्ता नहीं और मैं नहीं जानता, नलिनजी के उस मोती को किस रूप में परिभाषित करूँ, जिसके आब में राजा-रंक सभी आ जाते थे!

× × ×

पटना विश्वविद्यालय का सौभाग्य। जब उसका इतिहास लिखा जायेगा, नलिनजी का नाम शिक्षक के रूप में लिखा जायेगा। अमुक विभाग में वे शिक्षक थे। अमुक विभाग के अध्यक्ष थे। उस विभाग में और भी शिक्षक थे। उस विभाग के और भी अध्यक्ष हुए थे। किन्तु इतिहास के उस अध्याय का कोई भी ईमानदार छात्र यही कहेगा कि पटना विश्वविद्यालय में कभी नलिन विलोचन शर्मा जैसे एक ऐसे पंडित ने अपनी चरण-धूल दी थी, जिससे हिन्दी की पीढ़ियों का निर्माण हुआ था।

वे पढ़ाने खड़े हुए और पूरे वर्ग पर अथाह जल दौड़ गया। छात्र खो गये। गुरुदेव

छत की ओर आँखें किये, जैसे गंगावतरण के लिये प्रस्तुत हुए और भगीरथों का पूरा कुल गंगा की कल-कल धारा में खो गया, सनाथ हो गया। ऐसा पानी और कहाँ ? यह शिव की जटा धार का प्लावन है। अभूतपूर्व, मौलिक, उपादेय, जीवनमय। एक-एक बूँद को पिये जाओ—अवसर चूके, चूक गये।

सन् '५५ से '५७ तक, एम० ए० की पढ़ाई में ऐसा ही जाना था मैंने।

× × ×

कुछ दिन पहले, भारत में कई जगह, सवर्ण जातियों में तिलक-दहेज के भय से लड़कियों को जन्म के साथ मार दिया जाता था या मिट्टी के टुकड़े की तरह जीने के लिये फेंक दिया जाता था। आज से कुछ वर्ष पहले समाज में जन्मते साहित्यकारों के साथ यही दुर्व्यवहार होता था। जब तक कोई प्रौढ़ न हो जाय, अच्छा-सा पद या पैसे की गठरी पर न बैठ जाय, और-तो-और, बूढ़े-पुराने साहित्यकार भी, कृति के बल पर किसी को मान्यता एवं प्रोत्साहन नहीं देते थे। इस अभाव के बीच स्वयम्भू की तरह अपने कुछ तरुण मित्रों के साथ वे साहित्य में उतरे और तब से जीवन के आखिरी क्षण तक वे 'नयों' के लिए उदार पिता बने रहे। कविताओं, कहानियों की बातें छोड़िये, नया-से-नया लेखक उपन्यास का पोथा लिख लाये, वे आदि से अन्त तक पढ़ते थे और राय देते थे। इस बीच जो प्रतिभावान नजर आये, उन्हें उचित प्रोत्साहन और प्रश्रय दिया गया। हमारे बीच के कई भुवनमोही कोहनूरों को उस आचार्य ने ही चमकाया है।

× × ×

हमारे प्रांत में विद्वानों, पूज्यों, गुरुजनों का अभाव नहीं है। हम उनकी ही वसीयत हैं। मगर एक चीज आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने अपनी इकाई के माध्यम से दी है। वह है माडर्निटी। उन्होंने जब से लिखना प्रारंभ किया, उसके ठीक एक वर्ष पीछे लिखी जाने वाली चीजों को देखने से मेरी बात की सत्यता का बोध हो सकता है। उन दिनों हिन्दी में रचना का जो आधुनिकतम प्रयास हो रहा था, उससे हम कितने पीछे थे और सिर्फ एक नाम नलिन विलोचन शर्मा के आगमन से हम कहाँ आ गये ! कविता पर यह विशेष रूप से लागू है। वैसे यह आलोचना का भी सत्य है। और जब नलिनजी अपनी सम्पूर्णता के साथ हमारे सामने उपस्थित हुए तो हिन्दी साहित्य ने कविता में एक नया 'वाद' पाया। नकेनवाद, जैसा उन्होंने खुद कहा था, जागरण का एक संदेश मात्र था,

जिसकी Pure Poetry (विशुद्ध कविता) की धारणाओं पर, सम्प्रदाय बनाये बगैर आगतों के प्रयास इच्छुक थे। आलोचना में वे पश्चिम की महंथी अस्वीकार करते थे। इस सिलसिले में उन्होंने कहा था कि हमें पश्चिम के ताजा-टटका साहित्य पर अपनी भाषा (हिन्दी) में फर्स्ट-हैण्ड आलोचना लिखनी चाहिये। शायद वे लिखते। क्योंकि यह उन्हीं से संभव था।

कहानियाँ अब भी लिखता हूँ। कवितायें और अन्य चीजें भी। तरह-तरह के मसले उठ खड़े होते हैं। माडर्न मैन के मसले। मगर अब शाम, सबेरे, भरी दोपहरी, जब मन आये, जाकर कुण्डी खटखटाई और मन की शंकाओं के सुलझे निदान ले आये, यह संभव नहीं। अपनी पीढ़ी के साथ मैं हूँ, मसले हैं। जिन्हें हम जीत नहीं पाते, वे हमें खाते हैं, तोड़ते हैं, अल्पायु करते हैं। रक्षक अब नहीं रहा।

× × ×

एक चन्दन-गंधी स्तूप था, हम जिसकी छाया में पल रहे थे। वह ढह गया। ढह गया, क्योंकि काल का आदेश था, जिसपर हमारा कोई वश नहीं था।

जहाँ गोल टेबुल रक्खी रहती थी, जिसपर एश-ट्रे और कोई किताब या फूल-दान होता था, वहाँ आचार्य खुद सोये थे। चिर-निद्रा। जिसने, जहाँ सुना, दौड़ा आया। पूज्य शिवपूजन सहाय और कॉलेज का नवागन्तुक छात्र—उनकी अर्थी में एक साथ लगे थे। तीन पीढ़ियों का संयोजक उठ गया था। दुनियादार रोते थे और ज्ञानी अवाक् थे; इस वीरान, तप्त-भूमि में एक चन्दन-गंधी स्तूप था, वह उठ गया। अब छाया कहाँ है, गरिमा कहाँ है, अपनी ऊँचाई मापने का साधन कहाँ है ?

उन्हें मैं नहीं लिख सकता। क्योंकि कहानी या कविता या नाटक या आलोचना, जो भी लिखता हूँ, उन्हें ही लिखता हूँ। व्यास की मृत्यु पर गीता का कौन-सा श्लोक सुनाऊँ ? मैं नहीं जानता !

✣

मानवता के सभी गुणों से परिपूर्ण

मनोरंजन
उपकुलपति, हिन्दी विद्यापीठ,
देवघर, वैद्यनाथधाम

[पितृतुल्य, प्रि० मनोरंजन बाबू का वात्सल्य तटस्थ होकर भी स्पष्ट रूप में यह घोषित कर देने के लिए विवश है कि — "*उनकी विद्वत्ता के विषय में विद्वान लोग लिखें। मेरा तो उनके मानव से ही परिचय था और मैंने उसे मानवता के सभी गुणों से परिपूर्ण पाया !*"]

(१)

मैं उन्हें बराबर 'बबुआ' ही कहा करता था। पत्र भी लिखता था तो 'बबुआ' कह कर ही। सार्वजनिक सभाओं में भी अवसर मिलने पर उनका परिचय उसी प्रकार दिया करता था। विधि की विडम्बना ! आज 'बबुआ' नहीं रहे और मैं बैठकर उनका संस्मरण लिख रहा हूँ। ज़ख्म अब भी ताजा है और समझ में नहीं आता है कि क्या लिखूँ !

(२)

उन्हें पहलेपहल देखा था बनारस में ही। यह शायद १६२५ की बात है। तब 'बबुआ' बहुत छोटे थे किंतु, तब भी शरीर काफी हृष्ट-पुष्ट, भरा हुआ था। उनके साथ उनके पिताजी भी थे और उन्हें भी पहलेपहल देखने का सौभाग्य मुझे बनारस में ही हुआ। पिता-पुत्र दोनों को एक ही साथ। तब दर्शन दूर से ही हुआ था और मुझे बतलाया गया था कि ये ही हैं मेरे मित्र पं० कृष्णदेव तिवारी के ससुर—सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० रामावतार शर्मा तथा उनके साथ जो हृष्ट-पुष्ट बालक है वही है उनका ज्येष्ठ पुत्र। मैंने अलग से ही उन दोनों को देखा किंतु, अपने संकोची स्वभाव के कारण आगे बढ़कर उनसे परिचय नहीं किया हालाँकि कृष्णदेवजी के अभिभावक तथा ज्येष्ठ भ्राता स्वर्गीय पं० इन्द्रदेव तिवारी के यहाँ मेरा आना-जाना बराबर हुआ करता था क्योंकि वहाँ हिंदू विश्वविद्यालय में वे ही मेरे अभिभावक भी थे। मैं था फर्स्ट होस्टल बिड़ला छात्रावास के 'ए ब्लाक' का एक बोर्डर और वे थे उस ब्लाक के असिस्टेंट वार्डन। वे रहते थे तीसरी मंजिल पर और मेरी सीट नीचे थी।

मेरे परम मित्र श्री योगीन्द्र लाल (अब स्वर्गीय) तिवारीजी की आफिस में रहते थे और वह कमरा वार्डन के यहाँ जाने वाली सीढ़ी के बिल्कुल पास था। योगीन्द्र लाल पर तिवारीजी का बहुत स्नेह था और पं० कृष्णदेव तिवारी के साथ मेरे मित्र की बड़ी घनिष्ठता थी। इसी कारण मेरा भी प्रवेश उस परिवार में हो गया था और धीरे-धीरे मैं उस परिवार का सदस्य-सा ही हो गया। अस्तु, मैं यदि चाहता तो उसी समय आगे बढ़-कर पूज्य पं० रामावतार शर्मा के चरण छू सकता था और परिचय बढ़ा सकता था किंतु, मेरा स्वभाव शुरू से ही अत्यधिक संकोची रहा है और इसी से मैं उस अवसर का लाभ न उठा सका। हालाँकि मन में लालसा अवश्य थी कि कुछ पास पहुँचकर उनके आशीर्वाद लेता।

(३)

अपने विद्यार्थी-जीवन में ही मैं शर्माजी की प्रशंसा सुना करता था। उनके एक प्रमुख शिष्य पं० नंदकिशोर तिवारी, जिन्हें मजाक में वे 'मुद्गरानंद' कहा करते थे, हाजीपुर स्कूल में मेरे अध्यापक थे और उन्हीं दिनों पटने से निकलनेवाले साप्ताहिक 'पाटलीपुत्र' में शर्माजी की कुछ रचनायें भी प्रकाशित हुई थी जिन्हें मैं चाव से पढ़ा करता था।

'काना बर्करीयम्' की कुछ पंक्तियाँ मुझे आज भी याद हैं। उसके दो सर्ग छपे थे। पहले सर्ग की कुछ पंक्तियाँ यों थीं—

"मैं काना ब्रह्मचारी हूँ राम राम हरे हरे।
कौन हो आप स्वामीजी, घास खाते हरे हरे॥'

यह उक्ति थी काना ब्रह्मचारी की और इस पर बर्करानन्दजी ने उत्तर दिया—

"बर्करानन्द हूँ भैया, नमस्ते भगवन्सदा।
सफेद बर्करी मेरी पोटा सुभग वंशदा॥"

पोटा शर्माजी किसे कहते थे यह मैंने सुन रखा था किंतु उसका जिक्र नहीं करना चाहता।

प्रथम सर्ग के कुछ और भी पद मुझे याद हैं किंतु, उन्हें लिखना आवश्यक नहीं समझता। हाँ, दूसरे सर्ग की कुछ पंक्तियों को यहाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण मैं नहीं कर सकता।

"भंग के साथ गुलकंद पीकर जरा
बर्करानन्दजी सिद्धजी से मिले,
सिद्ध काना महात्मा उन्हें देखकर
त्रिद्ध-सा हो गया चित्त में हर्ष से,
आप कैसे उड़ेंगे अजी सिद्धजी,
गिद्धजी के नहीं पंख हैं आपके
बाप के तुल्य बेटा सदा दीखता
हस्ति हिंसा नहीं कूकुरा सीखता॥"

(४)

नलिनजी को जब उनके पिताजी के साथ पहलेपहल देखा तो 'बाप के तुल्य बेटा सदा दीखता' की याद आ गई। बाद में तो नलिनजी का आकार और भव्य तथा दिव्य हुआ। इसे तो वे ही जानते हैं जिन्हें उन्हें देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अपने विशाल शरीर का वे आप ही कभी-कभी बखान किया करते थे। और उससे सम्बद्ध कुछ विनोद भरी कहानियाँ सुनाया करते थे।

अभी हाल ही उनके छोटे चाचा के लड़के श्री हृषीकेश शर्मा (जिन्हें प्यार से मैं उनके घर के ही नाम से बचकुन कहकर पुकार करता हूँ) मुझे एक कहानी सुना रहे थे—उनकी ही कही हुई।

बेला के हिन्दी-प्रेमियों ने एक सभा का आयोजन किया था जिसका सभापतित्व करने के लिए नलिनजी को आमंत्रित किया था। नलिनजी वहाँ गये किन्तु, वहाँ स्टेशन पर स्वागतार्थ कोई नहीं पहुँचा। लोग जिसे हिन्दुस्तानी ढंग कहते हैं उसी के अनुसार आयोजकों को वहाँ पहुँचने में देर हो गई। नलिनजी प्लैटफार्म पर ही एक ओर खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे कि उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति उन्हें आपादमस्तक निहार रहा है। उन्होंने पूछा, "आप किसे खोज रहे हैं?" उसी शख्स ने कहा, "कुछ नहीं। अपना भाग्य सराह रहा था। आज हमें बजरंगबली के साक्षात् दर्शन हुए हैं।" इतना कह कर उसने उन्हें साष्टांग दण्डवत् किया।

(५)

नलिनजी ने अपने पिता का शरीर ही पाया हो ऐसा नहीं था। उनकी विद्वत्ता, उनका पांडित्य, उनकी सूझ, उनकी सहृदयता, उनका विनोद इत्यादि भी उन्होंने पाया था।

उनकी विद्वत्ता के विषय में विद्वान लोग लिखें। मेरा तो उस मानव से ही परिचय था और मैंने उसे मानवता के सभी गुणों से परिपूर्ण पाया। उसका सौजन्य, उसकी शिष्टता, उसकी शालीनता अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती थी। अतिथि-सत्कार, प्रियजनों से स्नेह, गुरुजनों का आदर। अपने विषय में मैं यही कहूँगा कि वे मेरा काफी लिहाज करते थे और बराबर बड़े ही स्नेह तथा आदर के साथ मिला करते थे।

यों मेरा व्यक्तिगत सम्पर्क उनके साथ बहुत अधिक नहीं था फिर भी वह घनिष्ठ काफ़ी था और इसका प्रधान कारण था कृष्णदेवजी के परिवार के साथ मेरे परिवार का घनिष्ठ सम्बन्ध। उनकी सबसे बड़ी बहन श्रीमती इन्दुमती तिवारी के साथ मेरी स्त्री का सदैव बड़ा ही मधुर सम्बन्ध रहा है और श्रीमती इन्दुमती तिवारी ने बराबर हमारी स्त्री को छोटी बहन के समान माना है। इसी से वे हमारी वेणु दीदी हुईं और नलिनजी हमारे 'बबुआ' हुए।

(६)

बनारस से छपरा आ जाने के बाद से ही नलिनजी के साथ मेरा व्यक्तिगत सम्पर्क हुआ। पटना मेरा जाना अक्सर हुआ करता था और वहाँ कभी सम्मेलन-भवन में और कभी उनके आवास-स्थान पर उनसे भेंट हो जाया करती थी। यों ट्रेन में भी साथ-साथ सफ़र करने के अवसर मिले और तब यात्रा बड़ी ही आनन्दमयी हुई। जब वे आरा में थे तब भी उनसे मिला था। एक बार उन्होंने राजेन्द्र कॉलेज, छपरा की हिंदी-साहित्य-परिषद् के वार्षिकोत्सव के अवसर पर सभापतित्व भी किया था।

मुझे याद है कि मैंने उस सभा में भी उनका परिचय 'बबुआ' कह कर ही दिया था। तब विद्यार्थियों को हमारे निकट सम्बंध का पता चला और उसका लाभ उठाने के लिए वे यदाकदा नलिनजी के नाम मुझसे परिचय-पत्र ले जाया करते थे।

अंतिम पत्र मैंने उनके यहाँ अपने प्रिय छात्र पौहारी शरण के लिए लिखा था। वह इस समय पटना विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में एम० ए० (फ़ाइनल) का विद्यार्थी है। उनके देहावसान के बाद उस शोकाकुल छात्र ने मेरे यहाँ जो पत्र लिखा उसकी प्रतिलिपि नीचे दे रहा हूँ। नलिनजी अपने विद्यार्थियों पर कितना स्नेह रखते थे और मेरे प्रति उनकी कितनी आत्मीयता थी वह इस पत्र द्वारा स्पष्ट हो जायगी।

(७)

१६-६-६१ को पौहारी ने मेरे नाम पत्र लिखा—

"परमपूज्य गुरुवर,

सादर चरणस्पर्श।

चार दिनों से तो यहाँ का सारा वातावरण ही विषादपूर्ण हो गया है। नलिनजी के देहावसान से सारा विश्वविद्यालय एवं हिन्दी साहित्य-जगत ही शोकमग्न है। ऐसी स्थिति में मेरी दूसरे प्रकार की कुशलता नगण्य ही है।

आपके द्वारा दिए गए एक परिचय-पत्र के ही कारण मैं नलिनजी के बहुत नजदीक हो गया था। वे सर्वदा बड़े ही प्रेमपूर्वक मिलते एवं अपने स्नेह और निर्देशन द्वारा सदा प्रोत्साहित एवं अनुप्राणित किया करते। उनसे मिलने पर कभी भी ऐसा मौका नहीं आया जब उन्होंने मुझसे आपके स्वास्थ्य एवं कुशलता के विषय में नहीं पूछा हो। सदा आपकी चर्चा किया करते।

देहावसान के ठीक २४ घंटे पूर्व ११ ता० को २ बजे दिन में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र बनारस से आये थे। वे पाठालोचन के विद्वान् हैं और मेरा विशेष पत्र 'ग्रंथ-संपादन एवं पाठालोचन' ही है, अतः नलिनजी मुझे अपनी गाड़ी पर बिठा कर उनके साथ उनके डेरा तक गये एवं मुझे १॥ घंटे का समय दिलाया। मैंने अनेक प्रश्न पूछे। रास्ते में ही उन्होंने आपके विषय में पूछा था।

उनके देहावसान से हमलोगों की महान् क्षति हुई है। किंतु, नियति की विडम्बना। आप ही तो कहा कहते हैं—"हारिए न हिम्मत बिसारिए न राम नाम, जाही विधि राखे राम वाही विधि रहिए।"

× × ×

इसके सिवाय हम और कर ही क्या सकते हैं?

✠

बबुआ !

महेन्द्र शास्त्री

रतनपुरा, महाराजगंज, सारन

[स्नेह और वात्सल्य की पुरातन पृष्ठभूमि लेकर आचार्य महेन्द्र शास्त्री आज किस कारुणिक सम्बोधन से अपनी पुकार उसतक पहुँचा रहे हैं—"···*तो क्या सचमुच अब चित्रों में ही आपके दर्शन होंगे बबुआ ?*"]

बबुआ ! जब मैं आपके पिता श्री रामावतार शर्मा के चरणों में पढ़ रहा था, आप इतने छोटे थे कि आपसे मेरा कोई सम्पर्क नहीं हो सका। आपकी कोई सेवा भी मुझ-से कभी नहीं बन पड़ी। तो भी मुझे आप इतना क्यों मानते रहे ? एक बार तो आप पर मैं बेतरह बरस भी पड़ा था। क्योंकि मेरे सम्मान में आपके खड़ा हो जाने से प्रान्त के सभी मूर्धन्य विद्वानों को खड़ा हो जाना पड़ा था। उस बैठक के बहुत दिनों बाद

श्री मथुरा प्रसाद दीक्षित मुँह को गोल बनाकर बोले थे—"बाप रे बाप! आचार्य नलिनजी आपकी इतनी इज्जत करते हैं!" मेरा जब भी कोई काम हुआ, आपने सहर्ष कर दिया। दूसरों का ही नहीं, मेरा व्यक्तिगत भी। अपनी 'सूक्तिसरिता' मैंने आपको भेंट करते लिखा—"परमार्थ-दर्शन-कार श्री रामावतार शर्मानुरूपपुत्र समालोचनशील, श्री नलिन विलोचन शर्मणे।" मेरे कविता-संग्रह 'प्रदीप' की तथा मेरे अनुज प्रो० रामजी पाण्डेय के 'ब्रजरत्न' की भूमिका आपने ही लिखी। मेरे कहने पर एकमा में सारन जिला हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व आपने ही किया था।

पूरा याद है बीस वर्षों के बीच एक बार भी ऐसा नहीं हुआ कि घर पर जाते ही आप मुस्कुराते या सिर झुकाते, हाथ जोड़े न मिले हों। लौटते समय सदा मेरे मन में यही आता रहा कि आपसे बढ़कर श्रद्धाशील और मधुर कौन होगा?

दो साल पहले बसंतपुर में सारन जिला भोजपुरी साहित्य-सम्मेलन का ६ वाँ अधिवेशन हुआ। उसका सभापतित्व आपने सिर्फ मेरे लेहाज से सकारने को तो सकार लिया किन्तु धर्मसंकट में पड़ गये। क्योंकि सारी शक्ति राष्ट्र-भाषा हिन्दी पर ही केन्द्रित करने के पक्ष में आप थे। मैंने क्रोध के बदले आप पर श्रद्धा की और आपको छोड़ दिया।

सेठ गोविन्द दास के सभापतित्व में राष्ट्र-भाषा-परिषद् का वार्षिकोत्सव चल रहा था। अन्त में डॉ० विश्वनाथ को समय मिला और उन्होंने भोजपुरी की भरपूर प्रशंसा कर दी। इतनी कि बहुतों की आँखें मुझपर पड़ने लगी थीं। मैंने देखा—आप गंभीर थे। जब सेठ जी विस्तार से बोलने लगे कि "डाक्टर साहब की ही अपनी बोली प्रिय नहीं, मेरी भी अलग है और यों बीसों बोलियाँ अगर सर उठावें तो हिन्दी किसकी रहेगी?" यह सब सुन सुनकर आप इतने चंचल हो गये थे कि आपकी सरलता मेरे मन में रस-बस गई। आपके मुखपर बार-बार हँसी उमड़ पड़ती रही और मुझे इशारे करते रहे।

गत महीने की ही तो बात है। एक रोज के लिए कलकत्ते जाकर लौटा था। दम लेने की भी फुर्सत नहीं। किन्तु पटने आकर आपको देखे बिना लौटना मेरे वश की बात न थी। गया तो अचरज में डूब गया। पचासो नन्हें-नन्हें बच्चों को सामने के हॉल में आपकी प्यारी पत्नी और पुत्र पढ़ा रहे थे। आपसे पता लगा कि यह तो बहुत पहले से है। जिद्द है कि सरकारी सहायता नहीं लूँगी। अतः अधिक तो नहीं एक शिक्षक मैंने रख दिया है कि पुत्र की पढ़ाई पर चढ़ाई न होने पाए। आपकी पत्नी भी आपसे

कम विनयशील नहीं। मुझे प्रणाम तो आज तक नहीं किया किन्तु ख्याल इतना कि मुझे कभी तिल भर भी असुविधा नहीं होने दी। एक बार तो खाते से उठ आई थीं। हाथ-मुँह में भात-दाल लगा था।

ऐसे अनेक मौके आये कि दूसरों के विरुद्ध आपको बोलना चाहिये था। किन्तु हिमालय सी स्थिरता! तभी तो आप अजातशत्रु थे। जानता हूँ, कुछ वर्ष पहले आपको नाहक आतंकित किया गया कि इतने बड़े विद्वान का लाभ पटने से बाहरी कॉलेजों को भी मिलना चाहिए। किन्तु कुछ वैसी बात न थी। गत मुलाकात में आपको दुर्बल देखकर मैं चौंका किन्तु आपने कहा था कि मैं दुबला होना चाहता हूँ। ४६ की उम्र भी कोई उम्र है? अभी तो वे दिन आ रहे थे कि आपके अपार अध्ययन का लाभ विविध रूपों में साहित्य को मिलता। किन्तु यह क्या हो गया मेरे बबुआ! आपने कभी निठुराई नहीं की। तो क्या, सूद-दर-सूद जोड़कर इतनी निठुराई दिखादी? आपको पता है कि कितनों का सर्वनाश हो गया? कितने लोग निरवलम्ब हो गए? उस दिन महाराजगंज कॉलेज में १४ सितम्बर को सूचित हिन्दी-दिवस न मनाकर आपकी मृत्यु पर शोक-सभा होने जा रही थी। प्रिंसिपल वर्मा ने तय कर लिया था। लेकिन मैं तो आपकी इच्छा जानता था। सिहौता बंगरा हाई स्कूल के हेडमास्टर श्री योगीन्द्र शर्मा ने भी मेरा समर्थन किया। सभा मेरे सभापतित्व में शुरू हुई। बड़ी दृढ़ता से बोलने मैं खड़ा हुआ। किन्तु बोल न सका, फफककर रो पड़ा!

८ अक्टूबर का साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' मैं देख रहा हूँ। उसके ऊपर एक बगल आपका 'अन्तिम दर्शन' चित्र भी छपा है। दाईं ओर आपकी एकमात्र संतान राजीव है, बाईं ओर दो और बच्चे हैं। दोनों ही हथेली पर ठुड्डी रखे हुए। बीच में आपकी जीवन-संगिनी कुमुद शर्मा, चिरनिद्रा में पड़े आपको देख रही हैं। निष्प्राण होने पर भी कितना भव्य लगता है आपका दिव्य मुखमण्डल! तो, क्या सचमुच अब चित्रों में ही आपके दर्शन होंगे बबुआ? पटना विश्वविद्यालय, सम्मेलन-भवन, राष्ट्रभाषा-परिषद्, सम्मेलनों में, यात्राओं में यहाँ तक कि घर पर जाने पर भी आप नहीं मिलेंगे क्या? नहीं मिलेंगे मेरे बबुआ आप अब? उफ्!!!

✣

साहित्य-साधना
की
याद

महेश प्रसाद सिंह
अध्यक्ष, बिहार राज्य खादी ग्रामोद्योगबोर्ड, पटना

[महेशबाबू के चिन्ता व्यक्त करने पर नलिनजी ने मुस्कुराते हुए कहा—"*मैं काया के कारण महान नहीं दीखना चाहता। इसीलिए इस काया को वश में करना चाहता हूँ।*"

तो क्या यह सम्भव हुआ ???]

※ ※ ※

मैं श्री नलिन विलोचन शर्माजी को अति निकट से जानता था। उनके पिता महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्म्मा का मैं पटना कॉलेज में शिष्य था। आज भी मुझे उनकी भव्य मुखाकृति याद आती है। उन दिनों पटना कॉलेज के अध्यापक और विद्यार्थी सभी बन-ठन कर आते थे तो पं० रामावतार शर्म्माजी की वेश-भूषा निराली

होती थी। वह कुर्ते पर टोप पहन कर आते थे। मुझ पर उनका विशेष अनुग्रह रहा करता था। उन्हीं के कारण मैं नलिनजी तथा उनके परिवार से भी परिचित था।

मुझे यह देखकर बड़ी प्रसनन्ता होती थी कि उन्होंने कम उम्र में ही अध्ययन, मनन, चिन्तन, अध्यापन और साहित्य-सृजन के क्षेत्र में यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर ली थी। योग्य पिता के पुत्र से यह आशा की ही जानी चाहिये थी।

नलिनजी अपने पिता के समान ही अल्पजीवी हुए। यह बड़े दुःख की बात है। पता नहीं कि इसमें भी प्रकृति का कोई रहस्य छिपा हुआ है। अक्सर ऐसा देखा जाता है कि प्रतिभावान व्यक्ति अल्पायु होते हैं।

नलिनजी को इधर 'ब्लड-प्रेशर' की शिकायत रहने लगी थी। उस पर विजय पाने के लिये आपने भोजन-पान पर अनुपम नियंत्रण कर रखा था; जिसके फलस्वरूप वह अत्यन्त कृशकाय हो गये थे। पिछली बार मैंने उन्हें देखा तो मैं उन्हें पहचान भी नहीं पाया था। मैंने उनसे कहा भी कि अपने संयम को इस पराकाष्ठा पर न ले जायँ; इस पर उन्होंने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया था कि "यह काया मुझे अकारण प्रतिष्ठा दिलाती है। मैं काया के कारण महान नहीं दीखना चाहता। इसीलिये इस काया को वश में करना चाहता हूँ।"

और इसी काया को वश में करते-करते नलिनजी ने इस दुनिया से नाता तोड़ दिया। अब मात्र उनकी याद रह गयी है……और यह याद है शालीनता, सज्जनता सुरुचि, विद्या-प्रेम, और साहित्य-साधना की याद, जो सदा अमर रहेगी।

✠

माखनलाल चतुर्वेदी
'कर्मवीर' कार्यालय, खण्डवा (म० प्र०)

ममता-भरे शब्द !

[साहित्य-तपस्वी श्रद्धेय माखनलालजी ने रोग-शय्या पर पड़े हुए भी आज यह अनुभव किया है कि—*"उनको खोकर अकेला बिहार ही नहीं, समस्त हिन्दी-संसार गरीब हो गया है।"*]

यह जानकर अत्यन्त दुख हुआ कि पटना के सुप्रसिद्ध साहित्यकार और पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष श्री नलिन विलोचनजी शर्मा अब इस मायावी संसार में नहीं हैं। उनको खोकर अकेला बिहार ही नहीं, समस्त हिन्दी-संसार गरीब हो गया है। यदि मेरा वश चलता तो मैं बिहार सरकार से निवेदन करता कि वह नलिन विलोचनजी के परिवार की सुध ले। आज से ४४ वर्ष पहले उनके पिता श्री पंडित रामावतारजी शर्मा जबलपुर में होनेवाले हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष हुए थे। वे भी पटना विश्वविद्यालय के प्राध्यापक थे और नलिन विलोचनजी भी पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे। इस दृष्टि से पटना विश्वविद्यालय का भी कुछ कर्त्तव्य है जो उसे निभाना चाहिए।

नलिन विलोचनजी की वाणी में रस था, उनकी वृत्ति अध्ययनशील थी। वे अक्सर भोजपुरी बोलते थे और इस बोली को बड़े-बड़े स्थानों पर बोलते हुए जरा भी नहीं हिचकते थे। यहाँ तक कि पटना विश्वविद्यालय के जो विद्यार्थी भोजपुरी भुला बैठे थे वे भी भोजपुरी इसीलिए सीखते थे क्योंकि उन्हें नलिन विलोचनजी के सान्निध्य की आवश्यकता रहती थी।

आचार्य शिवपूजन सहाय व स्वर्गीय पंडित अमरनाथ झा आदि की तरह ही नलिन विलोचनजी में भी साँसों की सादगी और रचना का चातुर्य्य साथ-साथ विद्यमान रहता था। मैंने उन्हें जब-जब देखा, पुस्तकों में अत्यन्त व्यस्त पाया। मानो शब्दों की कोमलता स्वभाव की प्रखरता का रूप धारण कर चुकी थी।

अपने मित्र के सुपुत्र के नाते और हिन्दी-संसार के सेवक के नाते मैं अत्यन्त ममता-भरे शब्दों में श्री नलिन विलोचनजी का स्मरण करता हूँ।

✠

एक
महान
व्यक्तित्व

मोहनलाल बिश्नोई

मोहन प्रेस, पटना-३

[नलिनजी के साहित्यिक स्वरूप को साहित्यकारों के शब्दों में सुनने के साथ-साथ अब हम उनके एक प्रकाशक मित्र के शब्दों में भी कुछ सुनें—*"उनके सरल स्वभाव की सहज स्निग्धता, उनके विशाल हृदय की भावुकता, उनकी निष्कपट वाणी की सरसता, मेरे जैसे व्यक्तियों के प्रति भी उनका वह निश्छल स्नेह!"*]

पंडित-प्रवर स्वर्गीय श्री नलिन विलोचन शर्मा के साहित्य संबंधी मौलिक विचारों से मैं प्रारंभ से प्रभावित तो था ही लेकिन उनके निकट संपर्क में आकर उनकी भावुकता, सहृदयता तथा उदात्त विचारों से परिचित होने का स्वर्णावसर मुझे तब मिला जब कि उनकी सत्प्रेरणा तथा सत्परामर्श से उनके ही सफल सम्पादकत्व में, 'पाटल' नामक

मासिक पत्र को प्रकाशित करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ। लगातार दो वर्षों तक 'पाटल' के प्रकाशन-क्रम में नलिनजी तथा उनकी अंतर्गत गोष्ठी की परिधि में रहने के कारण क्रम-क्रम से मैं उनके घनिष्ठ स्नेह-सूत्र में इस प्रकार आबद्ध रहा कि वे मुझे परम आत्मीय जैसा समझने लगे थे। मोहन प्रेस के ही पार्श्व में प्रतिष्ठित 'पाटल' के सम्पादकीय-विभाग में आये दिन नलिनजी के नेतृत्व में श्री शिवचन्द्र शर्मा, श्री नरेश, श्री केसरी तथा अन्य साहित्यिकों की गोष्ठी जमती रहती थी, जिसमें नलिनजी के पांडित्यपूर्ण विचारों के साथ-साथ उनके भावुक हृदय की महानता को भी अत्यंत निकट से देख-देखकर मैं प्रायः चकित हुआ करता था।

'पाटल' के प्रकाशन के साथ-साथ स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा की ही सत्प्रेरणा तथा उनके और उनके साहित्यिक मित्रों के सत्परामर्श तथा पारस्परिक सहयोग के सहारे मैंने हिन्दी-साहित्य के प्रचार तथा प्रसार के निमित्त 'कुसुम-प्रकाशन, नामक प्रकाशन-प्रतिष्ठान की भी प्रतिष्ठा की, जिसमें नलिनजी का सक्रिय सहयोग मुझे बराबर मिलता रहा। इस प्रकाशन को उनकी तीन-चार कृतियों को भी प्रकाशित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

स्वर्गीय श्री नलिन विलोचन शर्मा के सम्पादकत्व में 'पाटल' ने शीघ्र ही हिन्दी-जगत् में अपनी धाक जमा ली और उसकी यह धाक तबतक बरकरार रही, जबतक नलिनजी उसका सम्पादन करते रहे। यह देखकर मुझे हिन्दी-जगत् के शिशुओं के निमित्त 'मुन्ना-मुन्नी' नामक एक बाल-मासिक-पत्रिका प्रकाशित करने का भी प्रोत्साहन मिला तथा मेरे इस प्रोत्साहन में नलिनजी ने चार चाँद लगा दिए। इतना ही नहीं, 'मुन्ना-मुन्नी' के प्रकाशन के दो-ही-तीन महीने के पश्चात् उनकी ही प्रेरणा से विषय, चित्र आदि के द्वारा इसे और भी अधिक चमका देने की कामना से इसके सम्पादन का भार उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कुमुद शर्मा को सौंप दिया गया, जो इसके संपादन के साथ-साथ इसके चित्र भी स्वयं बना दिया करती थीं। जबतक 'मुन्ना-मुन्नी' को आदरणीय नलिनजी का सहयोग मिलता रहा, तबतक वह शिशु-विषयक मासिक पत्रिका हिन्दी-भाषा-भाषी शिशुओं के हृदय-हार के रूप में शान के साथ मैदान में डटी रही।

'कुसुम प्रकाशन' को एक प्रगतिशील साहित्यिक-संस्थान का स्वरूप प्रदान करने की दिशा में नलिनजी ने जो सक्रिय सहयोग प्रदान किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता।

प्रारंभ में इस प्रतिष्ठान की ओर से नई साहित्यिक पुस्तकें उन्हीं के सुझाव से तथा उन्हीं की देख-रेख में प्रकाशित की गईं। इतना ही नहीं, इस प्रकाशन-संस्थान को उनको तीन-चार कृतियों को भी प्रकाशित करने का गौरव प्राप्त हुआ। उनमें से प्रमुख कृतियाँ हैं—'भारत के महापुरुष', 'महापुरुषों की आत्मकथाएँ' तथा 'सरल कहानियाँ'।

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में निष्पक्ष तथा सुसंयत आलोचना की परम्परा की प्रतिष्ठा के लिए 'दृष्टिकोण' नामक समालोचना-पत्र को स्वयं प्रस्तुत कर उसे प्रकाशित किया था। मुझे गर्व के साथ कहना पड़ता है कि 'दृष्टिकोण' के मुद्रण का श्रेय मेरे प्रेस को ही प्राप्त हुआ। उनके द्वारा सुसंपादित 'हिन्दी के प्रतिनिधि कथाकार' नामक ग्रंथ के मुद्रण का गौरव भी मेरे ही प्रेस को प्राप्त है। ये दोनों ग्रंथ नलिनजी के प्रकांड पांडित्य के द्योतक हैं।

नलिनजी विशाल हृदय के थे। उनके हृदय के एक कोने में मैंने जो स्थान प्राप्त किया था, उसमें कभी आँच नहीं आने पाई। उनके सरल स्वभाव की सहज स्निग्धता, उनके विशाल हृदय की भावुकता, उनकी निष्कपट वाणी की सरसता, मेरे जैसे व्यक्तियों के भी प्रति उनका वह निश्छल स्नेह!

उनके आकस्मिक अवसान से भले ही हिन्दी-जगत् ने एक आलोचक, एक कथाकार तथा एक सुयोगवादी विद्वान खो दिया हो मगर मैं तो एक महान व्यक्तित्व के गौरवमय आत्मीय स्नेह से ही सदा के लिए वंचित हो गया।

✠

बच्चों की-सी
सरल मुस्कान !
बुजुर्गों-जैसी
गम्भीरता !!

मोहनलाल महतो 'वियोगी'
एम० एल० सी०, आर० ब्लॉक, पटना-१

[दार्शनिक-जैसी निसंगता बरतते हुए भी महाकवि 'वियोगी' का कवि-हृदय कचोट खा जाता है—*"हम एक दूसरे की बात का विरोध करते थे और जब तर्क-वितर्क से थक जाते थे तो दोनों एक दूसरे की बात मानकर बहस से पिण्ड छुड़ा लेते थे। आह! अब वह आनन्द कहाँ!*
बच्चों की-सी सरल मुस्कान और बुजुर्गों जैसी गम्भीरता...!"]

☼ ☼ ☼

यह जीवन क्या है—आशाओं की तस्वीर, मलालों का आईना और विचारों का प्रलय। और भी जो चाहे जितनी परिभाषायें दीजिये किन्तु जीवन की विचित्रताएँ अपना रूप-विस्तार करती ही जायँगी। युग-युग से विचारक जीवन, इस क्षणस्थायी जीवन के सम्बन्ध में बोलते आ रहे हैं, लिखते आ रहे हैं किन्तु यह पता नहीं चला कि

जीवन क्या है, कैसा है और क्या-क्या इसके रंग हैं। जन्म और मरण के दो कगारों के बीच से निरंतर बहनेवाली जीवन-गंगा में कितनी लहरियाँ उठा करती हैं, कितने बुलबुले सिर उठाते हैं और फिर सदा के लिये गायब हो जाते हैं, इस बात का लेखा-जोखा विधाता के पास भले ही होगा किन्तु हमारे विचारक, दार्शनिक और वेदान्ती "नेति,नेति" कह कर ही अपना पिण्ड छुड़ा लेने में ही अपनी चरम सिद्धि का अनुभव करते हैं।

जो हो, यह जीवन शाश्वत है, चिरंतन है, कभी भी समाप्त होनेवाला नहीं है, यह था, है और रहेगा किन्तु है क्षणभंगुर—यह विचित्र तमाशा है। आखिर क्षणभंगुरता की परिभाषा क्या है? इस सवाल का हल नहीं हो सका और होना भी नहीं चाहिये। यदि सभी तरह के प्रश्नों का उत्तर मिल जाय तो फिर धरती पर रहना ही दूभर हो जायगा, मन ऊब उठेगा और जीना जवाल बन जायगा। यदि अज्ञान कष्टदायक होता है तो ज्ञान भी कम दुःखदायक नहीं होता। ज्ञान और अज्ञान के बीच में कोई एक ऐसी जगह जरूर है जहाँ दो घड़ी एक साथ बैठकर अज्ञानी और ज्ञानी दोनों अपनी थकावट मिटाते हैं—अज्ञानी अपने अज्ञान के उत्पातों से विकल हो जाता है तो ज्ञानी भी अपने ज्ञान के आघातों-प्रतिघातों से त्राहि-त्राहि करने लगता है।

हम उसी रेखा पर खड़ा होकर सोचते हैं कि जीवन क्या है, मिलन और बिछुड़न क्या है, आनन्द और विषाद क्या है।

दर्शनशास्त्र भले ही इन सारी बातों को अज्ञान की देन मानता हो किन्तु हृदय कहता है कि—मुझे ज्ञान और अज्ञान से दूर हट कर विश्राम करने दो। मैं बहुत ही कोमल हूँ, धोबी का गधा नहीं हूँ जो मुहल्ले भर के गन्दे कपड़ों का गट्ठर लादे घर से घाट और घाट से घर जाता-आता रहूँ।

हृदय का ऐसा कहना भी सही है और हम उसे जब मुक्त छोड़ देते हैं तो एक-से-एक चित्र हमारे सामने उभरने और मिटने लगते हैं। हम उनका न तो उभरना रोक सकते हैं और न मिटना—हम निरीह दर्शक मात्र हैं।

एक ऐसे ही क्षण में मेरे मानस-पटल पर नलिनजी की शान्त, सौम्य, मूर्त्ति उभर आई।

स्मृति ने कहा—वे अब नहीं रहे।

मन ने पूछा—कहाँ गये?

बुद्धि ने जवाब दिया—"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं।"

फिर सन्नाटा छा गया किन्तु नलिनजी की ज्योतिर्मयी मूर्त्ति पर्दे पर झिलमिलाती रही, मैं उसे देखता रहा और अभी भी देख रहा हूँ।

ज्ञान ने, दर्शन और वेदान्त ने जिसे भूल जाने के लिये बार-बार आग्रह किया, जिसे "अन्तवन्त" और "पुद्गल" कहा, नाशवान और क्षणभंगुर कहा उसे हृदय ने प्यार किया, उसका आदर किया और उसकी स्मृति की आरती उतारी।

जब मैंने यह अनुभव किया कि दिमाग और हृदय में स्थायी झगड़ा है तो मेरे मन ने कहा कि हृदय का साथ दो। बिना जी खोलकर हँसे, बिना जी भरकर रोये भला, मनुष्य मनुष्य रह कैसे सकता है!

आज मेरा मन भी नलिनजी के लिये रो रहा है, हृदय उनकी याद में कुछ सूना-सूना सा लगता है। यही तो जीवन है—जो न हँस सके और न रो सके उसमें और किसी लाश में अन्तर ही क्या रहा!

"बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्" के संचालक-मण्डल की बैठकों में या 'सम्मेलन-भवन" के उस कमरे में जिसमें हमारा दरबार लगा करता था मैं बार-बार जाऊँगा किन्तु ईंट-पत्थरों का नाम दुनिया नहीं है—दुनिया है ईंट-पत्थरों में जान डालनेवाला महाप्राण मानव। मानव को बाद दे देने से यह दुनिया शायद शून्यवादियों की दुनिया भले ही रह जाय किन्तु हमारे जैसे लोगों के लिये तो नरक जैसी हो जायगी।

यही बात हुई है नलिनजी के "अत्यन्ताभाव" के कारण सन्मेलन-भवन की और दूसरी उन बैठकों की जिनमें मैं नलिनजी के साथ शरीक होता था। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के संचालक-मण्डल की बैठकों में नलिनजी से मेरी कुश्ती बदी रहती थी। हम खूब झगड़ते थे, ठीक उसी तरह जैसे एक ही मन दो बातों के चक्कर में पड़ कर अपने आप से झगड़ता है। बैठक की उदासी मिटाने का भार हम पर था। हम एक दूसरे की बात का विरोध करते थे और जब तर्क-वितर्क से थक जाते थे तो दोनों एक दूसरे की बात मान कर बहस से पिण्ड छुड़ा लेते थे—आह, वह आनन्द अब कहाँ!

बच्चों की-सी सरल मुस्कान और बुजुर्गों जैसी गम्भीरता, सबके लिये हृदय में स्थान और सबके हित की चिन्ता।

जिस तरह आग में तपा कर सोने की परीक्षा की जाती है उसी तरह श्रेष्ठत्व की भी परीक्षा होती है—इसी खरे श्रेष्ठत्व को गुणरूप में धारण करके कोई भी आदरणीय बन सकता है।

नलिनजी ऐसे ही व्यक्ति थे जिन्होंने उन्हीं गुणों को धारण किया था जिन गुणों की अग्नि-परीक्षा युगों से होती रही और वे खरे उतरे। कच्चे गुणों का धारण करनेवाला अपने को उस पाँत में पहुँचाने की बेअदबी नहीं कर सकता जिस पाँत में नलिनजी थे—यह भी अचरज की बात है।

इन सारी बातों के साथ-साथ होनहार के महत्व को भी स्वीकार करना पड़ता है।

भागवत महापुराण में भीष्म का एक हृदयस्पर्शी उद्‌गार इस प्रकार है—

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत्॥

सचमुच यह बहुत ही अनहोनी बात है—साक्षात् धर्मराज राजा, गदाधरी भीष्म और गांडीव धन्वा लिये अर्जुन रक्षक, यज्ञकन्या कृष्णा जैसी पत्नी और विश्वनियन्ता कृष्ण सुहृद् फिर भी बेचारे पांडव जीवन भर विपदा ही भोगते रहे—यह है दैव का कुचक्र।

इन सारी बातों पर ध्यान देने से ऐसा लगता है कि यदि हम पर विपत्ति आती है तो उसके लिये क्यों विलाप करें किन्तु नलिनजी जैसे बन्धु का आत्यन्तिक-बिछोह ऐसा नहीं है जो एक-दो श्लोक पढ़कर हम भूल जायँ। अन्तिम बार जब मैंने उन्हें देखा था वह घटना शताधिक दर्शन-वेदान्त पढ़ने से भी भूलना असंभव है।

राष्ट्र-भाषा-परिषद् के संचालक-मण्डल की बैठक थी। अध्यक्षासन पर माननीय न्यायमूर्त्ति श्री सतीशचन्द्रजी मिश्र थे। श्री माधव जी, सुधांशु जी आदि महानुभाव भी थे। रात हो चुकी थी। दरवाजे का पर्दा हिला और नलिन जी अन्दर आये, हम उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

मैंने देखा—लिखते नहीं बनता कि क्या देखा। शरीर पर हाड़ और चमड़ी के अतिरिक्त और कुछ न था, सूखकर काँटा हो गये थे। मैं तो सन्नाटे में आ गया—हैरानी हुई कि यह क्या हो गया। पूछने पर कहने लगे—'वजन बहुत बढ़ गया था।

डॉक्टरों के परामर्शानुसार खाना बन्द कर दिया है। कद्दू, टमाटर, सेम, बैगन, मूली, यही आहार है। घी, तेल, दूध, मक्खन सब बन्द कर देना पड़ा।'

इतना बोलकर उन्होंने बहुत ही संतोष के साथ कहा—'करीब सौ पाउण्ड वजन कम गया है।'

मैं तो इतना घबरा गया कि मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। नलिनजी एक सुन्दर, सुपुष्ट और शानदार व्यक्ति थे—शरीर की बनावट ऐसी थी कि देखने की बार-बार इच्छा होती थी। चौड़ी छाती और उभरे हुए सुन्दर कन्धे! किन्तु वजन घटाने की यह सनक कैसी!

मैंने कहा—'भाई, अब तो रहम कीजिये। आखिर वजन घटाने की कोई हद भी है या अणु, परमाणु तक उतरते चले जाइयेगा?'

नलिनजी खिलखिला कर हँसे और उनकी वह हँसी आज भी उनकी अमर निशानी के रूप में मेरी स्मृति के पूरे विस्तार को घेर कर उसी तरह झिलमिला रही है जैसे अस्तंगत दिनमणि की कोमल किरणें शान्त गंगा की उभरनेवाली हल्की-हल्की लहरियों पर झिलमिलाया करती हैं।

एक-एक दिन करके महीना समाप्त हुआ और वर्ष भी समाप्त हो जायगा किन्तु शाश्वत जीवन-प्रवाह क्षणभंगुर कैसे है, इस प्रश्न का उत्तर किसी ओर से भी नहीं मिलेगा, अज्ञान की ओर से भी नहीं और ज्ञान की ओर से भी नहीं। "अत्यन्ताभाव" में संसर्ग का अभाव ही प्रमुख है। आज नलिनजी नहीं हैं अतः वे कहीं नहीं हैं यह मन नहीं स्वीकार करता। हाँ, संसर्ग का अभाव अवश्य हो गया। अभाव को भी भाव की तरह हम वस्तु-धर्म मानते हैं।

"जाकी यहाँ चाहना है ताकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहाँ चाह ना है ताकी वहाँ चाह ना।"

✠

मधुर और सुसंस्कृत व्यक्तित्व

'रमण'
द्वारा / जिला शिक्षा पदाधिकारी
पटना

[उनसे यदाकदा मतभेद रखते हुए और उनके रुख का हमेशा पक्षपाती न होकर भी कविवर रमण की यह स्वीकृति कितनी मूल्यवान है—"*नलिनजी का सबसे सुन्दर रूप मित्र का था। अपने व्यवहार और वाणी में उतना मधुर और उतना सुसंस्कृत व्यक्ति मैंने बहुत कम देखा है।*"]

☼ ☼ ☼

आदमी जबतक इस दुनिया में रहता है, अपने जीने और रहने के लिए निरन्तर संघर्ष करता रहता है। इस संघर्ष में, उसे कुछ को खुश और कुछ बन्धुओं को नाराज करना पड़ ही जाता है। वह न भी करना चाहे तो भी शायद इससे अपने आपको बचा नहीं पावे। किन्तु उसकी मृत्यु के साथ ही, उसकी सारी खामियाँ जैसे दफ़न हो जाती हैं। कहने का गर्ज, आदमी भीतर से उतना छोटा शायद नहीं होता कि वह उन बातों को याद रखे और तब किसी के बारे में कुछ कहे या बोले। मुझे कम-से-कम आदमी की यह परम्परा अच्छी लगती है।

नलिनजी, जबतक रहे कई रूपों में रहे, और ऐसा रहे कि अपना अस्तित्व महसूस कराते रहे। विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के रूप में रहे, क्लास में पढ़ानेवाले प्राध्यापक के रूप में रहे। कवि रूप में रहे। कहानीकार रूप में रहे। आलोचक रूप में रहे। और मित्र रूप में रहे। इन रूपों में सफलतापूर्वक रहने के लिये उन्होंने कुछ को नाराज भी किया होगा, कुछ को प्रसन्न और संतुष्ट भी करते रहे। किन्तु, आज, जब वे नहीं रहे—उनसे किसी को शिकायत नहीं रही। आदमी को चाहे जितना भी छोटा कोई क्यों न कहे, उसके भीतर की विशालता का भी जवाब नहीं है।

नलिनजी को सब रूपों में परखने की क्षमता मुझमें नहीं थी। इसीलिये प्रोफेसर और प्राध्यापक के रूप में मैंने उन्हें कम जाना। उनका कवि और कहानीकार रूप मेरे सामने, जब-जब आया, मैंने इतना हर बार अनुभव किया कि वे नवीनता की खोज में हैं और बराबर यह चाह रहे हैं कि जो बात कही जाय, अपनी अलग हस्ती रखे और अलग ढंग से कही जाय। साहित्य-स्रष्टा की महज इतनी प्रेरणा भी 'शिव' है, ऐसा मैं मानता हूँ।

नलिनजी का सबसे सुन्दर रूप मित्र का था। अपने व्यवहार और वाणी में, उतना मधुर और उतना सुसंस्कृत व्यक्तित्व मैंने बहुत कम देखा है। बातों में कभी कटुता आ ही नहीं सकती थी। जैसे उन क्षणों में वे प्रतिक्रिया से परे होते। यह साधारण बात नहीं है। मनुष्य यहीं पर उठ नहीं पाता और अपने ओछेपन का इजहार बार-बार कर बैठता है। किन्तु नलिनजी ऊँचे थे और असाधारण तौर पर ऊँचे थे।

पाप में पूर्णता पाना पुण्य में पूर्णता से कठिन है, इसलिए कोई कठिनतर आदर्श को ही अपनाए।

'विष के दाँत' —न० वि० श०

हमीं जानते हैं जो हम जानते हैं!

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह
बोरिंग रोड, पटना-१

["*कभी किसी का बुरा न चाहा। कभी किसी का बुरा नहीं किया। ऐसा उदार और विशाल अन्तर! किसी ने उनपर कीचड़ भी उछाली तो हँसकर उसे माफ कर दिया। ऐसे अजातशत्रु और हरदिलअज़ीज़!*"—शब्द-शैली के शानदार सम्राट राजासाहब ने नलिनजी को किस सहज ढंग से समझ लिया है! समझा भी दिया है!]

☀ ☀ ☀

लीजिए, वह रौशन सितारा टूटकर रात की तारीकियों में खो गया······नहीं, नहीं, खो नहीं गया, सदा के लिए सो गया।

हिन्दी के साहित्यक्षेत्र पर ऐसा वज्रपात !

कभी जो ऐसी चोट आई हो दिल पर ! छलनी हो रही है छाती जैसे—

"मेरा दर्द-दिल कोई क्या जानता है,
जो गुजरा है दिल पर खुदा जानता है।"

नहीं, नहीं····'हमीं जानते हैं जो हम जानते हैं !'

और आज भी आँखों में आँसू उमड़े आते हैं अक्सर—

···'ढल-ढल कर कहते हैं आँसू, कितना नश्वर है संसार !'

हाँ, उनकी याद हरी की हरी है—हरी की हरी रहेगी निरन्तर। इसी बिहार प्रान्त में कितने साहित्यिक, कितने चिन्तक और आलोचक, एक-से-एक आये और गये, आ रहे हैं और जा रहे हैं, यह क्रम न टूटा है और न टूटेगा। मगर इन्हीं आने-जानेवालों में एक-आध ही ऐसे रहे, जिनके आने पर एक नई प्रेरणा, एक नई चेतना आई—एक नया सबेरा, और जिनके जाते-जाते एक अंधेरा-सा छा गया जैसे !

"हजारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पर रोती है,
बड़ी मुद्दत पर होता है चमन में दीदवर पैदा।"

लीजिए, वह दीदवर····कला की कोंपलों का वह शतदल अपना परिमल लिए भरपूर खुल-खिल भी नहीं पाया था कि तकदीर की डाल से गिरकर मुरझा गया ! श्री नलिनजी के इस आकस्मिक निधन से अपना वह मधुवन ही सूना हो गया जैसे। है कोई बिहार में जो उनका आसन ले पाए ?

वह एक दिग्गज साहित्यिक ही नहीं, चिन्तक भी थे—उदात्त आलोचक और कविता की एक नई धारा के प्रवर्त्तक भी। उनकी प्रतिभा और कला के क्या कहने, क्या गद्य और क्या पद्य। एक एक का जवाब है दोनों हैं लाजवाब।

उनकी वह देन····वह अमर निधियाँ तो हमारे सर पर बनी की बनी रहेंगी—चाहे जो दिन आए जैसा···!

रहा मैं—मैं तो उनके कृतित्व से कहीं अधिक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित रहा। वह समदर्शी इंसान पहले थे, पारदर्शी विद्वान पीछे। मानवता तो कूट-कूट कर भरी थी उनकी पोर-पोर में।

याद आ रहा है मुझे महात्माजी का वह प्रवचन—"जानते हो देवता या महात्मा कौन है—मनुष्य कौन और पशु कौन ? हाँ, नहीं जानते ? तो लो—जान लो, पहचान लो। पशु वह है जो ईंट का जवाब पत्थर से देता है। तुम जरा-सा उसका कान उमेठो तो वह पलट कर तुम्हें छठी का दूध याद करा दे। मनुष्य वह है जो भला करनेवाले का भला तो करता ही है, पर बुरा करनेवाले का भी बुरा नहीं करता। अपने अंदर क्षमा ही रखता है, बदला नहीं। और देवता या महात्मा वह है जो बुराई का जवाब भलाई से ही देता है—'जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल····!' और आते-आते वह दिन भी आता है कि हर शूल भी फूल बन जाता है।"

तो लीजिए, हमारे नलिनजी मनुष्य तो हर मानी में थे, देवोपम गुण भी उनमें भरपूर थे।—कभी किसी का बुरा न चाहा, कभी किसी का बुरा नहीं किया। ऐसा उदार और विशाल अन्तर! किसी ने उनपर कीचड़ भी उछाली तो हँसकर उसे माफ़ कर दिया। ऐसे अजातशत्रु और हरदिलअज़ीज़!

बस, आँखों में करुणा की धार रहती, होठों पर एक मीठी-सी मुस्कान भी।

हाँ, रंजोग़म से उनकी आँखें तो कभी नम न हुईं—

"दिल दे तो इस कमाल का परवरदिगार दे,
जो रंज की घड़ी भी खुशी से गुजार दे।"

✠

श्रद्धा का एक फूल और

श्री राधाकृष्ण प्रसाद
आकाशवाणी, पटना—१

[सुप्रसिद्ध कथाकार श्री राधाकृष्ण प्रसाद ने नलिनजी के पास जाकर यह महसूस किया कि—*"जिस तरह नलिन जी का व्यक्तित्व विशाल था, मन उससे भी अधिक उदात्त था। उनके पास बैठकर यह महसूस होता था कि किसी ऊँचाई के पास हैं, जहाँ से सहज, पवित्र स्नेह की धारा बह रही है।"*]

बात आज से पचीस-छब्बीस साल पहले की है।

उन दिनों मैं आरा मॉडेल इंस्टीच्यूट के नौवें या दसवें क्लास में पढ़ता था। शाम को घन्टों आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा में बैठकर पुस्तकें या पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ा करता था। पत्र-पत्रिकाओं में मेरी कहानियाँ छपने लगी थीं और कथा-साहित्य के प्रति सम्मान बढ़ रहा था।

एक दिन मासिक 'विश्वमित्र' में एक कहानी पढ़ने को मिली—'नारी की त्रिविधा'। लेखक का नाम था—नलिन विलोचन शर्मा। उसमें लेखक की तस्वीर भी छपी थी। अद्भुत थी वह कहानी—भाव, भाषा, टेकनीक सभी दृष्टि से वह विशुद्ध मौलिक थी। मेरे प्रिय लेखकों की सूची में वह आ गया और मैं इस लेखक की अन्य रचनाएँ ढूँढ़ने लगा। इस काम में मुझे सफलता नहीं मिली, क्योंकि तब कहीं और उसकी कोई रचना पढ़ने को नहीं मिली।

नलिनजी मेरे तब से परिचित थे।

× × ×

बारह या तेरह साल पहले की एक घटना।

"राधाकृष्णजी, सिगरेट पीजिये।" कहकर गोल्ड फ्लैक का पैकेट नलिनजी ने मेरी ओर बढ़ा दिया।

मैं उन्हें गुरुवत् मानता था, इसलिये संकोचवश झूठ बोल गया—"मैं सिगरेट नहीं पीता।"

नलिनजी ने बढ़ा हुआ हाथ खींच लिया।

मैं सिगरेट पीने का आदी तो नहीं हूँ, लेकिन दिनभर में दो-तीन सिगरेट तो पी ही लेता हूँ।

एक दिन नलिनजी रेडियो में ब्राडकास्ट के लिए आये और मेरी टेबुल के पास आकर बैठ गये। मैं उस समय किसी साथी की दी हुई सिगरेट फूँक रहा था। नलिनजी ने सहज भाव से मुझे देखा और कुर्सी पर बैठ गये। ब्राडकास्ट की स्क्रिप्ट उन्होंने ठीक की और इधर-उधर की बातें करते रहे। ब्राडकास्ट में अभी भी कुछ देर थी। उन्होंने गोल्ड-फ्लैक का पैकेट निकाला और एक सिगरेट सुलगा ली। पैकेट मलमल वाले कुर्ते की जेब में रखते हुये उन्होंने मुस्कुरा कर कहा—"आप तो सिगरेट नहीं पीते!"

मैं शर्मिन्दा हो गया कि मेरी झूठ किस बुरी तरह पकड़ी गई। नलिन जी ने पैकेट बढ़ाते हुए कहा—"शायद आज से पीने लगे हैं, लीजिये।"

झेंप मिटाने के लिए मैंने सिगरेट ले ली। वे मुस्कुराते रहे।

मृत्यु के प्रायः एक सप्ताह पहले मैं उनके मकान पर गया था। काम किसी दूसरे व्यक्ति का था और नलिनजी से सलाह लेने हम पहुँचे थे। नलिनजी ने न केवल उचित

सलाह दी, वरन् आगे का रास्ता भी बतलाया। सदा की भाँति स्नेह-भरे मन से उन्होंने बातें कीं और सिगरेट पीने को दी।

तब नियति के व्यंग्य को मैं कहाँ जान पाया था कि एक सप्ताह बाद वहाँ उनके शव को प्रणाम करने मुझे जाना पड़ेगा ?

× × ×

कुछ लोगों का व्यक्तित्व ऐसा होता है कि देखने मात्र से मन पर रोब छा जाता है। नलिनजी इसी कोटि के थे। महाप्राण निराला को सन् ४० में पहली बार देखा था तो ऐसी ही अनुभूति हुई थी।

जिस तरह नलिनजी का व्यक्तित्व विशाल था, मन उससे भी अधिक उदात्त था। उनके पास बैठकर यह महसूस होता था कि किसी ऊँचाई के पास हैं जहाँ से सहज, पवित्र स्नेह की धारा बह रही है। मृत्यु सुखद और अभिनन्दनीय है जब वह समय पर आये। वह कुरूप और भयावह है जब असमय आ जाती है। उनके पास मृत्यु उस समय आई जब वह जीवन की देन चुका रहे थे।

महापंडित होकर भी वे विनयी थे; महान् स्रष्टा होने पर भी वे निरभिमान थे। संकोची इतने कि लोग उनका बहुमूल्य समय नष्ट करते पर वे चुपचाप बर्दाश्त कर लेते।

मृत्यु के कुछ दिन पहले वे एक रात तेज रफ्तार में मोटर चलाते हुए श्रीकृष्णनगर कोलोनी में आये थे। मुझे देखकर मोटर रोक दी और मेरे घर आये। कुछ देर बातें करने के बाद हमलोग 'मुक्तजी' के डेरे पर गये। वहाँ बहुत देर तक साहित्यिक चर्चाएँ होती रहीं। मोहन राकेश के नये उपन्यास 'अन्धेरे बन्द कमरे' से लेकर रवीन्द्र-भवन में अभिनीत 'लाल कनेर' तक की विवेचना।

और फिर उसके कुछ दिनों बाद अपने एक सुहृद् के अनुज के व्याह में सम्मिलित होने, स्वास्थ्य ठीक न होते हुए भी, वे कार से आरा गये थे। मैं भी इस दल में था। मैंने देखा था कि गिरे हुए स्वास्थ्य के बीच भी वे प्रसन्न रहते थे और उनमें जीवन का तीव्र प्रकाश था।

नलिनजी के निधन से हमने न केवल एक महान् विद्वान और श्रेष्ठ साहित्यकार खोया, वरन् एक बहुत 'अच्छा' और 'ईमानदार' आदमी भी खो दिया।

अच्छे और ईमानदार आदमी आज देश में कितने हैं ?

✣

आचार्यत्व-परम्परा के प्रकाश-स्तम्भ

रामनिरंजन 'परिमल'
रंगबहादुर रोड, गया

[प्राध्यापक परिमलजी का यह कथन सत्य से सीधा सम्पर्क रखते हुए नहीं जाननेवालों को बताता है कि—"*बिहार में श्री नलिन विलोचन शर्मा का आर्चायत्व यथेष्ट आलोकित हुआ था। यह देखा गया था कि अपनी नई या प्रकाशित होने वाली या प्रकाशित हो रही पुस्तकों पर उनका आशीर्वाद पाने के लिए लोग लालायित रहते थे।*"]

नलिन विलोचन शर्मा—इस नाम और व्यक्तित्व के सम्पूर्णत्व में एक युग का निर्माणात्मक स्वरूप था। काया उठ गई किन्तु काया के स्वरूप में निवास करनेवाली प्रबुद्ध आत्मा और उज्ज्वल मानस के सुकार्य ने एक विशिष्ट पथ का निर्माण किया। काया उठ गई, कीर्त्ति का कायिक आधार नहीं रहा किन्तु कीर्त्ति का पवित्र स्थायित्व सदा सुरक्षित रहेगा। जीवन के साधन नष्ट होते हैं, प्रबुद्ध जीवन का साध्य नष्ट नहीं होता।

श्री नलिन विलोचन शर्मा का देहावसान साहित्य के इतिहास की एक असामयिक घटना है। दुखद घटना है। साहित्य के पाठकों ने श्री नलिन विलोचन शर्मा के निधन को मार्मिक वेदना के साथ अनुभव किया है।

स्व० श्री नलिन विलोचन शर्मा आर्चायत्व-परम्परा के प्रकाश-स्तम्भ थे। उनका साहित्य-शोध-व्यक्तित्व प्रेरणा का स्वस्थ स्रोत था।

बहुचर्चित नकेनवाद के अग्रदूत के रूप में काव्य के इतिहास में श्री नलिन विलोचन शर्मा सदा ससम्मान स्मरण किए जायँगे। नकेनवाद का एक अपना माहात्म्य है। वह

शोध का भी विषय हो सकता है। उसमें रुचि रखनेवाले पाठक इसका निष्पक्षतापूर्वक अध्ययन-अध्यापन और चिन्तन-मनन एवं अनुशीलन भी कर सकते हैं। क्योंकि, नकेनवाद के प्रथम 'न' अक्षर के नलिन विलोचन शर्मा – जब तक जीवित रहे, उनके समसामयिक मित्र साहित्यकारों ने सहानुभूतिपूर्वक या निष्पक्षतापूर्वक नकेनवाद पर विचार-विमर्श नहीं किया, उनके अधिकांश सहकर्मी वयोवृद्ध या वयस की दृष्टि से परिपक्व साहित्यकारों को नकेनवाद पर आस्था नहीं थी, विश्वास का सौन्दर्य नहीं था।

बिहार में श्री नलिन विलोचन शर्मा का आचार्यत्व यथेष्ट आलोकित हुआ था। यह देखा गया था कि अपनी नई या प्रकाशित होनेवाली या प्रकाशित हो रही पुस्तकों पर उनका आशीर्वाद पाने के लिए लोग लालायित रहते थे, पैरवी करते थे, बड़ी दौड़धूप करते थे। मैं एक उदाहरण दूँ? मेरी प्रथम काव्य-पुस्तक प्रकाशित हो रही थी। नए ढंग की नई कविताएँ थीं। स्वयं श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह जी ने मुझे राय दी कि मैं इस पर श्री नलिन विलोचन शर्मा की सम्मति प्राप्त करूँ। इस सम्बन्ध में एक पत्र श्री राजा साहबजी ने श्री नलिनजी को लिखा।

सन् १९५७ की बात है। श्री राजा राधिकारमण-अभिनन्दन-ग्रंथ के सम्पादन-प्रकाशन की योजना बनी। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डा० सुनीति कुमार चटर्जी (पश्चिम बंगाल लेजिस्लेटिव कौंसिल के अध्यक्ष), सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री सेठ गोविन्द दास, श्री बनारसी दास चतुर्वेदी जी, आचार्य चतुरसेन, आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, कविवर श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', कविवर श्री रामधारी सिंह दिनकर आदि परम श्रेष्ठ साहित्यकारों की सलाहकार-समिति का निर्माण हुआ। मैं इस पवित्र आयोजन का मुख्य संयोजक था। आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा जी ने ग्रंथ के लिए विशिष्ट लेखों की सूची बनाई, उक्त लेखों के लेखकों के नाम दिए, 'ग्रंथ' के प्रारम्भ में श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह जी का अत्यन्त प्रामाणिक जीवनचरित देने आदि विषयों पर उपयोगी सुझाव दिए। हम सभी उपकृत हुए। योजना भी उपकृत हुई।

सन् १९५५ के किसी माह में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा से मेरा परिचय साहित्य-सम्मेलन-भवन के बरामदे में महान शैलीकार श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह जी ने कराया था। श्री राजा साहब जी ने उन्हें मेरा परिचय देते हुए कहा था—"आप हिन्दी के स्कॉलर हैं··· ···········" आचार्य नलिनजी मुस्कराए, प्रसन्न हुए। अपने विषय में महान साहित्यकार श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह जी की इस उक्ति के कारण मैं झेंप गया। उसी वक्त कविवर दिनकर वहाँ पर आ गए। वयोवृद्ध साहित्यकार आचार्य श्री शिवपूजन सहाय जी कविवर दिनकर के साथ थे। राजा साहब जी ने मेरे बारे में

कहा—'आप ही इनका परिचय इनसे (कविवर दिनकर से) करा दीजिए, शिवपूजन जी !' और श्री राजा साहब जी दूसरी ओर मुड़ गए। दिनकर जी से मेरा परिचय ऋषिकल्प श्री शिवपूजन सहाय ने कराया। उस दिन 'प्यारे' कवि के चित्र का अनावरण सम्मेलन-भवन में बिहार-सरकार के तत्कालीन अर्थमंत्री डॉ० अनुग्रह नारायण सिंह ने किया था। खेद है कि उस दिन आचार्य नलिन विलोचन शर्मा से मेरी विशेष बातचीत नहीं हो सकी। वह दिन विशेष आयोजन का था। मैं बाद में कविवर दिनकर के साथ सम्मेलन-भवन के मुख्य द्वार के समीप बातें करने लगा।

आर्यकुमार रोड, पटना-स्थित श्री दिनकर जी के नवनिर्मित भव्य निवास-स्थान पर एक बार मैं अपनी काव्य-पुस्तक की पांडुलिपि लेकर गया। दिनकर जी ने मुझे कहा—"आप अपनी कविताओं पर नलिनजी की राय लीजिए। वे नई कविता के मर्मज्ञ हैं।"

एक बार मैं आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा के पटना-स्थित ब्रजकिशोर पथ के निवास-स्थान पर गया। 'सर्पगंधा' की प्रेस-कॉपी उनके पास रखी थी। मैं उसे लेने गया था। 'स्लिप' भिजवायी। उनके पुत्र ने ड्राइंग रूम का द्वार खोल दिया। ड्राइंग रूम के कोच पर बैठा-बैठा मैं आचार्य की प्रतीक्षा कर रहा था। काफी देर के बाद आचार्य जी बाहर आए। सच्ची बात यह है कि मुझे उनकी यह देर तब बहुत बुरी लगी थी। उनके हाथ में 'सर्पगन्धा' की प्रेस-कॉपी थी। धुली धोती और मलमल के धुले कुर्ते में उनका विशाल व्यक्तित्व चमक रहा था। वह ज्यादातर मलमल का ही कुर्ता पहनते थे। मैंने प्रणाम किया। बोले—"चलिए......"

मुख्य सड़क पर एक रिक्शावाला उन्हें देखकर स्वयं हमारे पास आ गया। आचार्य नलिनजी मुझसे बोले—'बैठिए।' मैंने आग्रह किया तो वह पहले बैठे। रिक्शा चल रहा था और वे मेरी कविताओं पर अपनी राय जाहिर कर रहे थे। उन्होंने कहा—"शिष्टाचारवश कुछ मित्र लोग यह कह देते हैं कि आपकी रचना अच्छी लगी। किन्तु वाक़ई उस रचना की गहराई में वह नहीं जाते। यह आज आलोचना की एक पद्धति हो गई है ...."

रिक्शा सम्मेलन-भवन के अहाते में रुका। आचार्य जी सम्मेलन-भवन के एक कक्ष में चले गए। मैंने रिक्शावाले को चार आने पैसे दे दिए। कुछ देर के बाद, जब उन्हें स्मरण हुआ, एक रुपये का एक नोट अपनी जेब से निकालते हुए एक व्यक्ति से कहा—'रिक्शावाले को पैसे दे दीजिए।'

मैं उनके पास ही बैठा था। मैंने कहा—'पैसे मैंने दे दिए।' और, उन्होंने तब मुझे इस तरह देखा गोया मैंने कोई अपराध कर दिया हो। एक भोजपुरी भाषा-भाषी व्यक्ति

से वहाँ वह भोजपुरी में ही बातें कर रहे थे। बड़ी अच्छी भोजपुरी थी उनकी। प्रसंग कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ (आगरा विश्वविद्यालय, आगरा) के संचालक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद जी का था। भोजपुरी के माध्यम से की गई बातचीत में उनका सरस व्यक्तित्व उभर उठा था। साहित्यिक चर्चा के प्रसंग में उन्होंने कहा—"कुछ कथाकार यह लिख देते हैं कि अमुक पात्र मलत्याग के लिए गया। किन्तु इससे चरित्र के अध्ययन में कौन-सी सहायता मिल गई ? इससे तो बात बनती नहीं। इस तरह के प्रयोगों से बचना चाहिए।"

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के जो कभी छात्र नहीं रहे, वे भी उनका छात्र होने की अभिलाषा रखते थे, उनका छात्र होने में गौरव मानते थे। मैंने अंग्रेजी में एम० ए० किया। कभी उनका छात्र नहीं रहा, कभी उनका क्लास 'अटेंड' नहीं किया। आज सोचता हूँ, काश, मैं भी आचार्य श्री का छात्र रहता ! किन्तु, जो छात्रगण उनके छात्र नहीं रहे—वे भी उनके प्रति यथेष्ट श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे। इसका उदाहरण पटना विश्वविद्यालय का सम्पूर्ण जीवन है।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा केवल व्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व की प्रबुद्ध उपलब्धि थे। व्यक्ति से ज्यादा वह संस्था थे। उन्होंने साहित्य-शोध के प्रति अभिरुचि-निर्माण में योगदान दिया था। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व साहित्य के एक युग का व्यक्तित्व था—यह साधारण गौरव का विषय नहीं है। यह गौरव प्रत्येक साहित्य-सेवी को नहीं मिलता।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की रचनाएँ बिखरी हैं, कुछ अप्रकाशित भी होंगी। इन सबका पुस्तकाकार प्रकाशन होना चाहिए। निबन्ध, आलोचना, कहानी, कविता—विभिन्न खंड हों। आचार्य श्री ने विभिन्न पुस्तकों की भूमिका लिखी है—उन भूमिकाओं का पुस्तकाकार प्रकाशन भी होना चाहिए। तभी उनकी चिन्तन-प्रणाली तथा उनकी चिन्तन-प्रणाली के आलोक में अर्वाचीन या पुरातन साहित्य की समीक्षा हमें एक स्थल पर प्राप्त हो सकेगी। उनके द्वारा लिखे हुए पत्रों का संकलन भी होना चाहिए। इस तरह उनके व्यक्तित्व-विकास का परिचय मिलेगा। 'साहित्य' की फाइलों में भी उनकी रचनाएँ फैली हुई हैं। उनका भी पुस्तकाकार प्रकाशन होना चाहिए। बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् यह कार्य कर सकती है।

बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् या बिहार राज्य हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की ओर से आधुनिक हिन्दी काव्य और आधुनिक समालोचना-साहित्य पर 'नलिन-व्याख्यान-माला' का आयोजन किया जाय जिसमें बाहर के विद्वान व्याख्यान के हेतु आमंत्रित किए जायँ। इस व्याख्यान-माला के विभिन्न पुष्पों का मालाकार प्रकाशन हो, ग्रंथाकार प्रकाशन हो। आशा है, मेरी इस योजना पर सुकार्य सम्पन्न हो सकेगा।

✣

जैसा उन्हें देखा !

रामरीझन रसूलपुरी

उत्तर-बिहार-सम्पादक, बुद्धमार्ग, पटना—१

[औरों की तरह पत्रकार रसूलपुरीजी ने भी उनसे कई बार भेंट की और पाया कि—
"विद्या, विनय और विवेक की जो त्रिवेणी आचार्य नलिनजी के रूप में मूर्त्तिमान थी, वह अपनी उपमा आप ही थी।"]

१२ सितम्बर १९६१ की धुँधली साँझ। प्रेस से लौटकर डेरा पहुँचा ही था कि किसी ने दरवाजा खटखटाया। नीचे उतरकर किवाड़ खोलने पर श्री देवीदयाल अग्रवाल मिले। मैंने उन्हें भीतर बुला लिया। प्रवेश करते ही उन्होंने कहा—"आचार्य नलिनजी की मृत्यु हो गयी, हृदय के दौरे से। वर्मा जी (श्री ब्रजशंकर शंकर वर्मा, 'योगी'-संपादक) उनकी अंत्येष्टि में गये हैं। मैं उन्हीं के यहाँ से आ रहा हूँ।" इस अप्रत्याशित-दारुण संवाद को अचानक सुनकर सहसा ऐसा लगा मानो मेरी ही संज्ञा लुप्त हो रही हो। किसी भाँति अपने को सँभाल कर उन्हें ऊपर ले गया और दो-चार मिनटों में ही छुट्टी दे दी। बिजली के करंट-सा जो मर्म-भेदी आघात हृदय और मस्तिष्क पर एक साथ ही

लगा, उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप शरीर इस योग्य नहीं रह गया कि उस महान् साधक का अंतिम दर्शन करने में भी समर्थ हो सकूँ। और, दुर्भाग्य का मारा मैं, हरिनाम का स्मरण मात्र करता रह गया। प्रायः रातभर मानव-जीवन की नश्वरता तथा विधि-विधान की क्षणभंगुरता के अनेक चित्र मानस-पटल पर उभरते और मिटते रहे।

आचार्य नलिनजी से मेरा संपर्क यद्यपि बहुत ही कम रहा, किन्तु जब कभी भी उन्हें निकट से देखने का अवसर मिला, श्रद्धा और आदर से उनके सम्मुख सहसा सिर विनत-प्रणत हुए बिना नहीं रहा। १९४७ ई० के १५ अगस्त को भारतीय स्वाधीनता के दिन पटने से पिछड़ा वर्ग का पत्र 'राष्ट्रदूत' साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ। उसके संपादकीय विभाग में मैं मुजफ्फरपुर से बुलाया गया। मेरे आने के बाद श्री अनिरुद्ध लालजी "कर्मशील" ने 'राष्ट्रदूत' से कुछ मतभेद के कारण अपना संबन्ध विच्छेद कर लिया। उसके बाद पत्र के संपादन-विभाग में मैं अकेला ही रह गया। किन्तु 'राष्ट्रदूत' के कहानी संपादन संबन्धी परामर्श-दाता आचार्य नलिनजी तथा कविता परामर्शदाता महाकवि श्री प्रभात जी थे। उन दिनों आचार्य नलिनजी की कुछ कहानियाँ 'राष्ट्रदूत' में छापने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। किन्तु उन सारे मैटरों का प्रबन्ध 'राष्ट्रदूत' के प्रबन्ध संपादक श्री यमुना दास कनौजिया ही किया करते थे, इस कारण, आचार्य नलिनजी के सीधा संपर्क में जाने का मुझे अवसर नहीं प्राप्त होता था। हाँ, उन्हें पहचान अवश्य लिया था तथा उनकी विद्वत्ता एवं साहित्यिक प्रतिभा से परिचित भी हो चुका था, साथ ही उनके प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व के प्रति हृदय में श्रद्धा का उद्रेक भी हो चला था। किन्तु तीन-चार महीने के भीतर ही 'राष्ट्रदूत' का प्रकाशन स्थगित हो जाने के कारण मुझे पटना छोड़कर अन्यत्र चला जाना पड़ा।

लगभग १० वर्षों के बाद १ जनवरी १९५७ ई० को मैंने "उत्तर-बिहार" का संपादन-प्रभार ग्रहण किया। उसको प्रगतिशीलता की दिशा में उन्मुख करने का प्रयास प्रारंभ किया। साहित्यकारों की साध्यसेवा मेरे जीवन का विशेष व्रत रहा है। मैंने राज्य तथा हिन्दी-संसार के अनेक साहित्यकारों के पते पर 'उत्तर बिहार' भेजवाना प्रारंभ कर दिया।

इस अवधि में आचार्य नलिनजी से प्रयोजनवश जब कभी भी मिलने गया, वे मुक्तकंठ से 'उत्तर बिहार' की प्रशंसा कर मुझे प्रोत्साहित करते रहे। उन भेंटों में मैंने स्पष्ट देखा कि विद्या, विनय और विवेक की जो त्रिवेणी आचार्य नलिनजी के रूप में मूर्त्तिमान थी, वह अपनी उपमा आप ही थी। प्रायः विगत चार वर्षों में दिवाली विशेषांक के लिए प्रत्येक वर्ष मैं उनके यहाँ रचना के लिए आग्रह करने गया और जब-

जब गया तो बड़ी विनम्रता से उन्होंने मेरा आग्रह स्वीकार किया और जो स्नेह-भाव दर्शाया वह अन्यत्र दुर्लभ रहा। बिहार-केसरी श्रीबाबू की मृत्यु के बाद उनके श्रद्धांजलि-अंक के निमित्त मैंने आचार्य नलिनजी से कुछ लिखने का अनुरोध किया। उत्तर में उन्होंने कहा—"रसूलपुरी जी, मेरा तो व्यक्तिगत संपर्क श्रीबाबू से बिल्कुल नहीं रहा, किन्तु उनके बड़प्पन के कुछ मधुर संस्मरण हैं और उन्हें मैं अवश्य लिखूँगा।" अनेक व्यस्तताओं के रहते हुए भी उन्होंने ठीक समय पर लेख भेजवा दिया। 'उत्तर बिहार' के विगत चार वर्षों में दीपावली के तीन विशेषांक आचार्य नलिनजी की रचनाओं से गौरवान्वित हैं। विगत वर्ष बाहर चले जाने के कारण, उनकी रचना प्राप्त नहीं हो सकी, जिसके लिए जब उन्होंने नम्रतापूर्वक खेद प्रकट किया तब उनकी सहृदयता और स्नेह को प्राप्त कर बरबस मेरी आँखों में आँसू आ गये। यदा-कदा सम्मेलन-भवन में आचार्य नलिनजी की सौम्य-भव्य मूर्ति के दर्शनों को जाता रहा और जब कभी भी देखा, नलिनजी को छोटे-बड़े अनेक साहित्य-सेवियों के हुजूम से घिरा पाया। आचार्य नलिनजी अनेक व्यस्तताओं के बावजूद 'उत्तर बिहार' को नियमित पढ़ा करते तथा अपने लोगों की गोष्ठी में इसकी प्रशंसात्मक चर्चा भी किया करते थे। एक बार उन्होंने बतलाया था कि वे 'उत्तर बिहार' में प्रकाशित साहित्यिक टिप्पणियों की तथा 'कुछ ऐसे कुछ वैसे' स्तंभ की भी कटिंग रख लिया करते हैं। उनके इन प्रोत्साहनों से मुझे समय-समय पर बल और संबल की प्राप्ति होती रही और मार्ग-निर्देश भी होता रहा है।

मुझे 'विद्या ददाति विनयं' को संपूर्ण रूप से मूर्त्तिमान होते आचार्य नलिनजी के वेश में ही देखने का अवसर मिला। बड़े-बड़े विद्वानों तथा आचार्यों को निकट-दूर से जानने-परखने का अवसर मिल चुका है, किन्तु छोटे-बड़े सबों के प्रति सम्मान और विनम्रता की जो भावना आचार्य नलिनजी में देखने को मिली, वह शायद उनके साथ ही आयी थी और उनके साथ ही चली गयी।

✠

विमल व्यक्तित्व

रामवरण सिंह 'सारथी'

[सरथा, हरनौत, पटना]

[स्वर्गीय नलिनजी क्या थे, क्या नहीं थे, के अनुसंधान की एक उपलब्धि यह भी है कि—*"यहाँ तो सभी को अपनी-अपनी पड़ी है। स्पर्धा है, स्पृहा है, होड़ है। एक दूसरे को तुच्छ समझकर अपने को एकमात्र साहित्य-सम्राट कहलाने की तीव्र उत्कण्ठा और प्रखर लालसा है। स्वर्गीय नलिनजी इस प्रकार की ओछी प्रवृत्ति और सड़े-गले विचारों के प्रतिकूल थे।"*]

※ ※ ※

घटना उस समय की है कि जब आरती-मन्दिर, पटना सिटी से 'आरती' नामक साहित्यिक पत्रिका प्रकाशित हो रही थी। श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' अपने परिवार के साथ उस समय पटना सिटी के सिमली नामक मुहल्ला में रहते थे। मुक्तजी का घर ही 'आरती-मन्दिर' था।

एक दिन दोपहर को जेठ मास की चिलचिलाती लू में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्रीजी के साथी पं० नलिन विलोचन शर्माजी कचौड़ी गली होकर आरती प्रेस में आये और आकर मेरा नाम लेते हुए मुक्तजी की खोज करने लगे। मैंने उस समय उनके साथ सहृदयता का परिचय नहीं दिया। मैंने स्पष्ट देखा कि जानकीवल्लभजी और नलिनजी पसीने से तर-ब-तर हैं। उस समय उनके बैठने के लिए प्रेस में एक भी कुर्सी नहीं थी। सिर्फ दो-तीन बेंचें थीं। गर्मी और दहकती हुई 'लू' की दाहकता को शीतलता में ढालने के लिए कोई एक अथवा दो आने का बाजार में बिकनेवाला पंखा तक नहीं था। मैं तो मनुष्यता और सहृदयता को खोकर एकाएक शास्त्रीजी तथा नलिनजी के चरणों को छूकर खड़ा हो गया। उस समय अपनी निर्धनता, लाचारी, असमर्थता एवं घोर दरिद्रता को देखते हुए ऐसा ही प्रतीत हुआ जैसे शबरी की कुटिया में राम या सुदामा की झोपड़ियों में श्रीकृष्ण पधार गए हैं। उस समय मेरी ऐसी विवशता थी कि एक आने-दो आने का कौन कहे बल्कि एक पैसा भी मेरे पास नहीं था। शहरी सभ्यता और संस्कृति के अनुसार उन्हें मैं दो पैसे का पान भी नहीं खिला सका। किन्तु, धन्य थे नलिनजी—जिनने मुझे उठाकर छाती से लगाया और कहा कि 'आप हम दोनों के लिए अधिक परेशान नहीं हों। हमलोग स्वयं अभी सिमली चले जाते हैं।" और कहना न होगा कि वे दोनों आरती-मन्दिर-प्रेस में दो-तीन मिनट खड़े रहने के बाद शीघ्र सिमली चले गये।

तबसे अनेकों बार नलिनजी से मिलने-जुलने का सुखद सौभाग्य प्राप्त हुआ। अनेकों बार उनके घर पर प्रसाद ग्रहण करने का भी मौका मिला। यहाँ तो सभी को अपनी-अपनी पड़ी है। स्पर्धा है, स्पृहा है, होड़ है। एक दूसरे को तुच्छ समझकर अपने को एकमात्र साहित्य-सम्राट कहलाने की तीव्र उत्कंठा और प्रखर लालसा है। स्वर्गीय नलिनजी इस प्रकार की ओछी प्रवृत्ति और सड़े-गले विचारों के प्रतिकूल थे।

एक बार की घटना है कि पटना सिटी की सदर गली स्थित एक वकील के यहाँ कुछ साहित्यिक तरुणों की बैठक हुई। इस बैठक द्वारा पटना सिटी से एक कहानी-प्रधान मासिक पत्रिका प्रकाशित करने की बात तय हुई। पत्रिका का नाम 'ज्योत्सना' रखा गया। 'माधुरी' सम्पादक रूपनारायण पांडेयजी के भतीजे वीरेन्द्र कुमार पांडेय उसके सम्पादक बने।

वीरेन्द्र कुमार पांडेयजी लखनऊ से पटना आये थे और पटना सिटी स्थित सदर गली में वकील साहब के ही डेरे में रहते थे। 'ज्योत्सना' पत्रिका का एक अंक प्रकाशित होने के बाद पत्रिका को सर्वांग सुन्दर बनाने के लिए पटना के कुछ प्रमुख साहित्यकारों को परामर्श-दाता बनाया गया। स्वर्गीय श्री भवानी दयाल संन्यासी एवं धर्मेन्द्र ब्रह्मचारीजी परामर्शदाता बन चुके थे और साथ ही साथ स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्माजी भी। नलिन विलोचन शर्माजी से 'ज्योत्सना' पत्रिका के संबंध में जब कभी भी विचार-विमर्श करने के निमित्त उनके डेरे पर हम सब गये वे बराबर हम सबों को निःसंकोच भाव से यही उपदेश देते रहे कि आपलोग 'ज्योत्सना' को मुक्तजी की 'आरती' की तरह उच्च स्तर की पत्रिका बनाने की चेष्टा करें। हम सब छोटे-छोटे कलम पकड़नेवाले युवकों को वे अप्रमेय प्रेम से ओत-प्रोत होकर नित्य उच्च स्तर की पत्रिका के प्रकाशन पर बल देते रहे।

वास्तव में स्वर्गीय नलिनजी बड़े-बड़े साहित्यकारों के जिस प्रकार समयोचित पथ-प्रदर्शक थे उसी प्रकार वे छोटे-छोटे साहित्यिकों के लिए भी ममता रखते थे। वे अपनी प्रतिभा और सूझ के अंशों को बड़े और छोटे दोनों में समान रूप से वितरण किया करते थे। दोनों के बीच अपरम्पार स्नेह-सुधा की वर्षा करते थे।

काल और नियति के क्रूर हाथों ने नलिनजी को हमसे लूट लिया, हमसबों को रुलाते हुए झपट कर छीन लिया और सर्वदा के लिए नलिनजी को हमारी आँखों से दूर कर दिया। किन्तु निर्मम नियति को क्या पता है कि स्वर्गीय नलिनजी का विमल व्यक्तित्व आज हमारे चित्त में, हृदय में, मस्तिष्क और मन में, रोम-रोम और नस-नस में विहँस रहा है। हम सब आज उनकी स्मृति में अपनी आत्मिक श्रद्धा की पुष्पांजलि चढ़ा रहे हैं।

✠

आरा में नलिनजी

रामेश्वरनाथ तिवारी
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग,
जैन कॉलेज, आरा

[नलिनजी को 'शर्माजी' के रूप में अपनी शिष्यत्वपूर्ण श्रद्धा समर्पित करते हुए प्रोफेसर तिवारी अपने इस कथन पर गौरवान्वित हैं कि—"......*मेरे गुरुदेव शर्माजी ने सस्ती लोकप्रियता के लिए अपने को उस ऊँचे धरातल से कहीं भी नीचे नहीं आने दिया। न आरा में, न राँची में और न पटना में।*"]

हरप्रसाद दास जैन कॉलेज, आरा में विद्याध्ययन करने के पहले **मैं** पटने के सायन्स कॉलेज का छात्र था; लेकिन जब यहाँ आने का **मैंने** संकल्प किया, तब, स्वभावतः, दो-

तीन वर्ष ही पहले खुले हुए इस नये कॉलेज के विषय में—विशेषतः, हर विभाग के प्राध्यापकों के विषय में, मैंने अपने उस परिचित मित्र से पूछा, जो पटने से आकर इसी कॉलेज में पढ़ा करते थे। हर प्राध्यापक के विषय में अनुकूल-प्रतिकूल कुछ कह लेने के बाद, मुझे याद है, उन्होंने कहा था—हमारे कॉलेज में बुद्धि और शरीर की दृष्टि से दो 'जैंट' थे—एक, प्राचार्य श्री वेणीमाधव अग्रवाल और दो, शर्माजी—महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा के सुपुत्र प्रो० नलिन विलोचन शर्मा। लेकिन अब श्री अग्रवाल नहीं रहे।

आरा में पूज्य नलिनजी, शर्माजी के ही नाम से विख्यात हुए और थे। मेरे घर में जब उनकी चर्चा चलती थी और है, तब प्रायः इसी नाम से। लेकिन नलिनजी के नाम से वे पटने में विख्यात हुए—उसी समय के आसपास जब हमलोग पटना कॉलेज के छात्र बने। बात यह हुई कि उस समय पटना कॉलेज के हिन्दी-विभाग में तीन शर्माजी थे—एक प्रो० जगन्नाथ राय शर्मा दूसरे, प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा और तीसरे प्रो० नलिन विलोचन शर्मा। प्रो० जगन्नाथ राय शर्मा वरीय प्राध्यापक होने के कारण पहले से ही शर्माजी के नाम से विख्यात थे, अतः, स्वभावतः, अब विभाग के किसी दूसरे सदस्य को इसी नाम से पुकारने में थोड़ी उलझन हो सकती थी, फलस्वरूप, आगे के दोनों शर्माजी क्रमशः देवेन्द्रजी और नलिनजी के नाम से पुकारे जाने लगे। और उनकी उपाधियाँ एक तरह से संकेत ग्रहण के लिए, कम-से-कम कॉलेज में अनुपपन्न-सी हो गयीं।

पूज्य नलिनजी से मेरा परिचय पुराना था। वे मेरे बड़े बहनोई पं० विंध्येश्वरी प्रसाद मिश्र के अभिन्न सखा थे (जिनके साथ वे आई० सी० एस० परीक्षा में बैठे थे); तो उनके श्रद्धास्पद श्वसुर मेरे पिताजी के घनिष्ठ मित्र थे। उनके समीपवर्त्ती छोटे सगे भाई श्री विजय सुन्दर, पटना कॉलिजियट में मेरे कक्षा-सखा रह चुके थे। ये सब सूत्र थे, जिनके चलते पटने से ही मैं उनका स्नेहभाजन अनुज-सा बन गया था। अतः, जब मेरे मित्र ने उनके बारे में चर्चा करते हुए, उनके लिए 'जैंट' शब्द का प्रयोग किया, तब बरबस मेरे ओठों पर मुसकराहट की रेखा दौड़ गयी।

मित्र ने कहना जारी रखा—प्रो० शर्मा मितभाषी हैं, बहुत कम बोलते हैं। उनकी गंभीरता से डर लगता है। पर वे कितने शालीन हैं।

मुझे यह जानकर निस्संदेह बड़ी प्रसन्नता हुई कि जिस अपरिचित स्थान में मैं जा रहा हूँ, वहाँ मेरे जो एक मात्र पूर्व-परिचित प्राध्यापक, मेरे सुहृद्, अभिभावक और दार्शनिक हैं, उनके व्यक्तित्व के बारे में लोकधारणा इतनी ऊँची है, और इस मेरे मित्र की जो उनसे तनिक भी व्यक्तिगत परिचय नहीं रखते—उनके प्रति जो श्रद्धा है, वह उसकी सूचना है।

मित्र ने कहा—जैन कॉलेज का स्टाफ बहुत अच्छा है। अब डॉ० बी० बी० मजुमदार प्राचार्य हैं, बी० एन० कॉलेज से गये हैं; 'माधव' जी का नाम सुना है न, 'कल्याण', 'कल्याण-कल्पतरु', 'सनातनधर्म' आदि के भूतपूर्व संपादक? वे हिन्दी विभागाध्यक्ष हैं; संत और दार्शनिक, संत-साहित्य के मर्मज्ञ अध्येता, हिन्दी और अँगरेजी के सुवक्ता। फिर प्रो० शिवबालक राय हैं, हिन्दी के प्राध्यापक, सीधे और ग्रामीण, कॉलेज से अभी निकले हुए, पर अध्ययनशील और भाषण करने में पटु, हँसाने में बेजोड़ और पढ़ाने में भी; दर्शन-विभाग में डॉ० देवराज; अँगरेजी विभागाध्यक्ष हैं प्रो० जगदीशचंद्र दास और तब हैं अँगरेजी विभाग के प्रखर विद्वान् प्रो० जगदीश पांडेय। धाराप्रवाह तथा गंभीर, हिन्दी-अँगरेजी दोनों में भाषण करने में अद्वितीय; पर एक बात जानते हो?

मैं क्या जानता था, सो मैंने अज्ञान की सूचना देने की मुद्रा में अपना सर हिलाया और आँखों में भरपूर जिज्ञासा भरकर उसकी ओर देखने लगा।

मित्र ने स्वर को धीमा करते हुए फुसफुसाहट की सीमा तक पहुँचाते हुए, मानो वह मेरे सामने कोई बहुत गूढ़ रहस्य उद्घाटित कर रहा हो, कहा—लेकिन एक बात जानते हो, छुरे की धार जैसी प्रखर प्रतिभा वाले प्रो० जगदीश पांडेय भी शर्माजी को बहुत-बहुत श्रद्धा देते हैं; इतनी, जितनी कल्पना नहीं की जा सकती। यही नहीं, छात्र तो यह भी कहते हैं कि स्वाभिमानी पांडेयजी के उग्र ज्ञान का सिंह भी अगर कहीं पालतू बनता है तो प्रो० शर्माजी ही के पास। यही नहीं, सभी प्राध्यापक शर्माजी की बहुत इज्जत करते हैं।

मैं प्रो० पांडेय को नहीं जानता था। उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा से तो मैं प्रभावित हुआ ही, यह सोचकर शर्माजी के प्रति आदरभाव और बढ़ गया कि जिन्हें मैं घर का आदमी समझता था वे भी बाहर पांडेयजी जैसे विद्वान् द्वारा, इस मेरे मित्र के शब्दों में, इस प्रकार पूजित और समादृत हैं।

जब जैन कॉलेज में छात्र बनकर आ गया, तब शर्माजी से भेंट हुई। चश्मे की कोर में आँखों को ले जाते हुए, वे ओठों में बहुत हलके मुसकराये, वैसे ही जैसे किसी चिर-

परिचित को देखकर उनमें मुसकराहट उभड़ आती है, फिर बोले—आप आ गये। अच्छा हुआ। छोड़िए विज्ञान को।

वे संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष थे, अतः मैं यह सोचकर थोड़ा मायूस हुआ कि उनसे पढ़ने का सुयोग तो मुझे मिलेगा नहीं; पर जब हिन्दी विभागाध्यक्ष ने, उनके हिन्दी में भी एम० ए० कर लेने पर, यह प्रबंध किया कि वे बी० ए० (आनर्स) में रचना का एक क्लास लें और 'द्वन्द्वगीत' पढ़ाएँ, तब और छात्रों को तो प्रसन्नता हुई ही, मुझे विशेष हुई।

रचना-कक्षाएँ प्रायः, बहुत हलके ढंग से ली जाती हैं। उन्हें मनोरंजन का एक साधन माना जाता है; पर शर्माजी ने 'द्वन्द्वगीत' का अध्यापन बहुत गंभीर धरातल से करना शुरू किया। एक-एक रुबाई को लेकर वे उसमें निहित तत्त्वचिंतन की व्यापक समीक्षा करते थे। प्राध्यापक नलिनजी का विकास इन्हीं सरणियों में हुआ। उन्होंने कभी अपनी कक्षाओं को हलके ढंग से नहीं लिया और जिस किसी भी विषय का अध्यापन करना हुआ, उसका उन्होंने उच्च बुद्धिवादी धरातल पर उपस्थापन किया, भले ही हलकी वृत्ति के छात्रों का उससे मनोरंजन होता हो या न होता हो। मैं सोचता हूँ कि आरा में वे उस अध्यापन-कला के बीज बो रहे थे, जिसकी फसल उन्होंने पटने जाकर एम० ए० की कक्षाओं में काटी। आरा में ही उन्होंने उस बुद्धिवादी अध्यापन का मार्ग संकेतित किया, जिधर कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापन को आज भी आगे बढ़ना है—हलकी गलदश्रु भावुकता तथा प्रशस्तिमूलक सुपरलेटिव उक्तियों और उच्छ्वासों से भिन्न गंभीर बौद्धिकता, गहन विश्लेषण और तर्कयुक्त मौलिक स्थापनाओं का मार्ग।

मुझे यह स्वीकार करते हुए गर्व का अनुभव हो रहा है कि मेरे गुरुदेव शर्माजी ने सस्ती लोकप्रियता के लिए अपने को उस ऊँचे धरातल से कहीं भी नीचे नहीं आने दिया। न आरा में, न राँची में और न पटना में।

पटने जाकर, नलिनजी ने फ्रेंच और संभवतः जर्मन भाषा भी सीखी। आरा में भी इन भाषाओं का वे अध्ययन कर रहे थे या नहीं, इसका मुझे पता नहीं था और न है। मैं केवल यही जानता था कि अँगरेजी भाषा और साहित्य के भी वे सजग विद्यार्थी ही नहीं, निष्णात विद्वान् थे। मैं समझता हूँ कि प्रो० जगदीश पाण्डेय जो उनके प्रति इतनी गहरी श्रद्धा रखते थे, इसके मूल में और कई कारणों के साथ, यह भी एक प्रबल कारण था कि नलिनजी अँगरेजी साहित्य के इतने मर्मज्ञ विद्वान् थे। एक बार मुझे स्मरण है कि गुरुवर

प्रो० जगदीश पांडेय ने 'आक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोयट्री' के एक निबंध 'दि सबलाइम' की चर्चा करते हुए कहा था; 'दि सबलाइम' जिसके लिए शर्माजी ने 'भव्य या उदात्त' शब्द कहा है, एक अच्छा निबंध है, इसे आपलोग अवश्य पढ़ें। (बाद में 'सबलाइम' के लिए 'उदात्त' शब्द ही रूढ़ हो गया; वैसे कहीं-कहीं 'भव्य' का भी ढीले अर्थ में प्रयोग कर दिया जाता है।) पांडेयजी के इस छोटे-से उल्लेख से इस बात की सूचना तो मिल ही गयी कि शर्माजी के प्रति वे गहरा आदर भाव रखते हैं; कि उनसे साहित्य-चर्चाएँ भी करते हैं। हमलोगों ने देखा कि पांडेयजी ने सदा नलिनजी को वही आदर दिया, जो एक अग्रज का, और यह भी कहा जा सकता है, एक पिता का या एक गुरु का प्राप्य होता है। अपने ग्रंथ 'शीलनिरूपण : सिद्धान्त और विनियोग' को उन्होंने नलिनजी को ही इन शब्दों में समर्पित किया है – 'जिनके स्नेह-दीपक की लौ के अतिरिक्त इस पुस्तक में अपना कुछ भी नहीं, उन, अपने परम श्रद्धेय, प्रो० नलिन विलोचन शर्मा जी के वात्सल्य को मेरी बाल-भेंट।'

नलिनजी अँगरेजी के अच्छे ज्ञाता ही नहीं थे, सुवक्ता भी थे। अपने हिन्दी-भाषण में तो वे बहुत ठहर-ठहर कर बोलते थे, एक-एक शब्द को जैसे सोचकर, किन्तु अँगरेजी में दिये गये उनके भाषणों में, आश्चर्य है, बहुत अधिक ऊर्जस्वी धारा रहती थी। मेरे एक ऐसे मित्र ने, जो एम० ए० की कक्षाओं में उनके इधर शिष्य रहे हैं, जो कहा है कि नलिनजी के प्रवचनों को सुनकर यही लगता है कि वे मूलतः सोच रहे हैं अँगरेजी में और बोल रहे हैं हिन्दी में, उससे उनमें हिन्दी-अँगरेजी भाषण के धारा-भेद को कुछ समझा जा सकता है। जो हो, मुझे याद है कि एक बार यहाँ जैन कॉलेज में अँगरेजी की एक वाद-विवाद-प्रतियोगिता के एक आयोजन का, जिसमें मैंने भी एक विनम्र छात्र-प्रतियोगी के रूप में भाग लिया था, उन्होंने सभापतित्व किया था। विवाद का विषय युद्ध और शांति से सम्बन्धित था। उस समय उन्होंने अँगरेजी में जो भाषण किया था, उससे उपस्थित सभी छात्र चमत्कृत रह गये थे। साधारणतः, हिन्दी-संस्कृत के प्राध्यापक अँगरेजी में अच्छा नहीं बोल पाते, इसलिए नलिनजी के अधिकारपूर्ण और परिनिष्ठित धाराप्रवाह अँगरेजी भाषण को सुनकर छात्रों का आश्चर्य-चकित रह जाना स्वाभाविक ही था।

नलिनजी, जहाँ छात्रों के प्रेमभाजन और श्रद्धाभाजन थे वहाँ अपने सहकर्मियों के भी। बदले में वे भी छात्रों और सहयोगियों को भरपूर स्नेह और श्रद्धा देते थे। जब कॉलेज के प्रथम प्राचार्य श्री वेणी माधव अग्रवाल बीमार पड़े (उनकी यह बीमारी उनके

जीवन की अंतिम बीमारी थी) उनकी तीमारदारी के लिए अंतरंग प्राध्यापकों को ड्यूटी-सी बाँट दी गयी थी। उस दिन वर्त्तमान प्राचार्य परमहंस रायजी, जो उस समय वाणिज्य-विभागाध्यक्ष थे, कह रहे थे कि जब और प्राध्यापकों को काम बाँटा गया और नलिनजी को नहीं,—यह सोचकर कि उन्हें अपनी विपुल काया के चलते सेवा-सुश्रूषा करने में कष्ट होगा—तब उन्होंने आग्रहपूर्वक जबर्दस्ती काम लिया और कहा कि यह सोचकर कि मैं तनिक भारीभरकम और आरामपसंद हूँ, मुझे ड्यूटी देने से नहीं चूकें। मुझे भी काम दें ही।

प्राचार्य अग्रवाल के निधन के बाद दूसरे प्राचार्य आये। नलिनजी में विनयशीलता के साथ-साथ कितना स्वाभिमान था, इसका परिचय एक दिन इनके प्रशासन-काल में चल रही, स्टाफ-परिषद् की सभा में मिला। सभा में नये प्राचार्य ने तरुण प्राध्यापकों को तनिक धमका कर उनपर रोब गालिब करने के खयाल से कहा—बाबा, आजकल चार ओर अनुशासन भंग हो रहा है। आप लोग अनुशासन नहीं तोड़े। मसलन, स्टाफ-काउन्सिल की मीटिंग में 'स्मोक' न करें।

इतना सुनते ही, यह सोचकर कि प्राध्यापकगण प्राचार्य के द्वारा छात्रों के समान 'ट्रिट' किये जा रहे हैं, नलिनजी की वे आँखें जिनमें मुश्किल से कभी आक्रोश उमड़ पाता था; अरुणाभ हो गयीं। उनके हाथ जेब में गये और दियासलाई के साथ सिगरेट का डब्बा बाहर निकल आया। फिर, अपने कठोरता से सटाये गये ओठों के बीच, एक सिगरेट को निर्ममतापूर्वक दबाकर उन्होंने दियासलाई की एक जलती काठी उसमें लगा दी। प्राचार्य को हतप्रभ और विमूढ़ होकर, सभा को, दूसरे बहाने से स्थगित कर, भाग जाना पड़ा।

नलिनजी इस प्राचार्य की काफी इज्जत करते थे। प्राचार्य भी उन्हें कम स्नेह और संभ्रम से नहीं देखते थे; किन्तु जब प्राध्यापकों के सामूहिक मान का प्रश्न आया तब नलिनजी से नहीं रहा गया और उन्होंने स्वाभिमान-रक्षा के लिए ही, ऐसी कठोरता प्रदर्शित की, जो निश्चय ही, उनके स्वभाव का स्थायी क्या अस्थायी अंग भी नहीं थी।

आरा में रहते समय, विभिन्न साहित्यिक-सांस्कृतिक परिषदों में भाग लेना नलिनजी के जीवन का एक अपरिहार्य कार्यक्रम था। किसी सभा के लिए निमंत्रण मिल जाने पर, वे, जबतक कि कोई दूसरी अधिक दबाव देनेवाली अनिवार्यता नहीं रहती थी, उसमें अवश्य शामिल होते थे। पटने में रहकर भी उन्होंने जो अनेक संस्थाओं—स्थानीय और बाहरी—को समय देने में किसी संकोच, कृपणता या बहानेबाजी का प्रदर्शन नहीं किया, और हर जगह, मामूली निमंत्रण पाकर भी जाने का आग्रह दिखलाया, वह

उनकी आरा में अपनाई गयी संस्थामूलक सामाजिक चेतना का ही एक अनिवार्य बढ़ाव था।

आरा पर उनका स्नेह आजीवन बना रहा—जीवन की अंतिम घड़ी तक। यहाँ प्रत्येक वर्ष किसी-न-किसी सभा या उत्सव के उपलक्ष्य में आते ही रहते थे। निधन के कुछ दिन पहले उन्होंने मुझे तो पूजा की छुट्टियों में आरा आने का आश्वासन दिया ही था, श्मशानघाट पर जैसा कि गुरुदेव केसरी जी कह रहे थे, उनसे भी, उन्होंने कहा था—केसरीजी, तैयार रहिए, आरा चलना है। कौन जानता था—न मैं, न केसरी जी—कि बोलनेवाला आरा नहीं, वहाँ जा रहा है या चला जाएगा, जहाँ से लौटकर कोई कभी नहीं आता।

मुझे तो यही लगता है कि लोक-कथाओं के उस राजकुमार की तरह, जो चाहे जहाँ भी रहता था, उसकी आत्मा एक विशिष्ट पर्वत की, एक विशिष्ट कंदरा में पड़े हुए एक पिंजरे के सुग्गे में निवास करती थी; उसी तरह हमारे स्नेह और श्रद्धा के राजकुमार आचार्य नलिनजी (आह, जो अब नहीं हैं), आरा से बाहर चाहे जहाँ भी गये, उनका केवल शरीर ही गया, उनकी आत्मा तो इसी नगर के एक निभृत कोने में सदा निवास करती रही और जो आरा तथा यहाँ के कुछ लोगों का नाम सुनते ही, अनेक व्यस्तताओं के आवरण को हटाकर होंठों पर एक ऐसी मुसकान के रूप में उमग पड़ती थी, जो और कुछ नहीं, बस अलोक सामान्य अथच दिव्य थी।

✣

लाल मोहर उपाध्याय 'विद्यार्थी'
हिन्दी-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़—३

प्रथम और अंतिम दर्शन

[क्षणिक साक्षात्कार देकर भी स्थायी प्रभाव छोड़ देनेवाले व्यक्तित्व संसार में बहुत कम होते हैं। परोक्ष परिचय जब साकार होता है तो स्वीकार करना पड़ता है— *"किसी के बारे में पुस्तकों द्वारा जानकारी प्राप्त करना और उससे साक्षात्कार करना, दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। नलिनजी से थोड़ी देर के लिए ही मिलने के बाद मुझे पता चला कि मैं तो उनके बारे में बहुत कम जानता था।"*]

☼ ☼ ☼

प्रथम वर्ष में हिन्दी का छात्र रहने के नाते नलिनजी के बारे में बहुत कुछ सुन रखा था। उत्कट इच्छा होते हुए भी उनका दर्शन नहीं हो पाता था। महाराजा कॉलेज

तथा जैन कॉलेज के प्राध्यापकों एवं पत्र-पत्रिकाओं द्वारा तीन वर्ष तक नलिनजी के बारे में मैं सुनता रहा। बी० ए० की परीक्षा देकर मैं घर पर ही रहा करता था। सहसा एक दिन ज्ञात हुआ कि नलिनजी का शुभागमन अमुक ट्रेन से आरा में हो रहा है। आरा स्टेशन पर एक तुच्छ माला के साथ मैं पहुँच गया। सौभाग्यवश उसी रेल के डब्बे में दिनकरजी भी थे। माला नलिनजी के लिए मैं लाया था अतः उन्हें ही पिन्हा दिया। उन्होंने पूछा—"हिन्दी पढ़ते हैं?" गौरव के साथ मैंने कहा—"जी, हाँ।" यह बात २६ जुलाई १६६१ की है। परीक्षा में मुझे सफलता मिल गई थी। मैंने पटना रहकर एम० ए० की जिज्ञासा प्रकट की। नलिनजी ने कहा—"यह योजना अति उत्तम है।"

पर डॉ० रमेश कुन्तल मेघजी द्वारा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के सम्पर्क में आना पड़ा और पंजाब विश्वविद्यालय (चण्डीगढ़) में एम० ए० हिन्दी में प्रवेश प्राप्त कर लिया।

किसी के बारे में पुस्तक द्वारा जानकारी प्राप्त करना और उससे साक्षात्कार करना, दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। नलिनजी से थोड़ी देर के लिए ही मिलने के बाद मुझे पता चला कि मैं तो उनके बारे में बहुत कम जानता था। मैंने पंजाब विश्व-विद्यालय (चण्डीगढ़) में आकर उनकी विशेषताओं के विषय में अपने अनेक मित्रों से कहा। और कुछ दिनों के बाद, सहसा १५ सितम्बर को दैनिक अंग्रेजी पत्र 'ट्रिब्युन' में मैंने उनके देहावसान के बारे में पढ़ा। पर विश्वास नहीं हुआ और १६ सितम्बर को पटना के लिए चल पड़ा। उस समाचार से पंजाब विश्वविद्यालय का सारा हिन्दी-विभाग शोकाकुल हो रहा था।

✠

निगाहों से ऐसे जुदा हो गये हो !

वचनदेव कुमार
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग,
पटना कॉलेज, पटना

[अव्यक्त को व्यक्त करने की अभिव्यक्ति कम कठिन कार्य नहीं किन्तु वचनदेवजी के वचन से वंचित होना उचित प्रतीत नहीं होता।—"*पहले वे आचार्य थे, अभिभावक थे, सहकर्मी थे, विभागीय अध्यक्ष थे और प्रेरणादायक आत्मा थे किन्तु आज वे परमात्मा की तरह मन-प्राणों पर छा गए हैं।*"]

❋ ❋ ❋

१९५४ की जुलाई में किसी संचित पुण्योदयवश, पहली बार पंडित नलिन विलोचन शर्मा के दर्शन मुझे प्राप्त हुए थे जब मैं स्नातकोत्तर कक्षा में प्रविष्ट हुआ था।

प्रथम परिचय गुरु और शिष्य का था। तत्क्षण मैं ज्ञान के उस प्रखर भास्कर-प्रकाश की चकाचौंध में पड़ गया था और तब से मेरे अज्ञानांध-अंतस-गुफाएँ बार-बार उस भव्य आलोक से आलोकित होती रहीं।

अपने मित्रों के साथ उनके ब्रजकिशोर पथ स्थित निवास पर यदाकदा गया, जाता रहा और वहाँ मैंने उनका दूसरा रूप देखा—बिलकुल अभिनव रूप! कौशेय वसन से लिपटी भव्य आकृति! अधर-प्रदेश से उमड़ती धूम्र-मालाएँ एवं मुख-मंदिर से निकलती साहित्य-रस-स्निग्ध-मनोहर ध्वनि-तरंगें। और तब से उनके मृदुल व्यवहार की चंद्र-ज्योत्स्ना में भींग-भींग कर कितना आर्द्र हुआ था, क्या कहूँ, विद्या ने मानों उत्कट साधना कर विनय के अवतार सदृश ही जैसे उन्हें हमलोगों के बीच समुपस्थित किया हो।

तबसे, न मालूम कितनी बार, उनके दर्शन किये, कितने घंटे, कितने दिन साथ बिताये, कितने संस्मरणों के ज्वार उठकर मन को विवश-विह्वल करते हैं, कह नहीं सकता।

गत वर्ष १९६० के दिसम्बर में भारतीय हिन्दी-परिषद् के गुजरात अधिवेशन में मुझे उनके साथ जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। निबन्ध-गोष्ठी के वे सभापति थे। अंतिम दिन 'नव्यालोचन के प्रतिमान' पर विचार-विमर्श होनेवाला था। विषय-प्रवर्तन कौन करे, यह एक समस्या थी। समस्या क्या हो? वहाँ तो आचार्य नंददुलारे बाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र जैसे जाने-माने अतिख्यात आलोचक विद्यमान थे। किन्तु फिर भी समस्या थी......उसके समाधानार्थ रात में परिषद् के स्थायी मंत्री डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा नलिनजी के पास आये और कहा, "पंडित जी! कल की समालोचना-गोष्ठी का प्रवर्तन आपही को करना है" तब उन्होंने आडंबर-हीन चिर-परिचित शब्दावली में कहा, "आपके आदेशपालन की चेष्टा करूँगा।"

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा कोई करोड़पति नहीं थे किन्तु उदारता में वे किसी भी दानी से कम नहीं थे। अगर सच्ची बात कहूँ तो कह सकता हूँ कि वे अमितव्ययी थे फिर भी यह भूलना नहीं चाहिये कि शब्दों के प्रयोग में उतना मितव्ययी, उतना कृपण, उतना इकोनॉमिक मैंने अद्यावधि किसी को देखा भी नहीं। अपने पद्य या गद्य में 'गागर में सागर' या 'नावक के तीर' को अक्षरशः उदाहृत करनेवाले वे विशिष्ट पुरुष थे।

अंतिम बार उनके पंचभौतिक शरीर के दर्शन ११ सितम्बर को एक बजे दि में हुए जिस समय वे पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के भाषण में सम्मिलित हुए थे। उनके अंतिम शब्द ये थे·······"अभी-अभी आप पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के दर्शन से लाभान्वित हुए हैं और तुरत ही आप उनके प्रवचन से लाभान्वित होंगे।"

१२ सितम्बर के साढ़े तीन बजे दिन में जब मैं चतुर्थ वर्ष की कक्षा में अध्यापन कर रहा था तो सहसा उनके निधन का असंभावित अविश्वसनीय वज्र-प्रहारक समाचार सुना। कैसे वर्णन करूँ अपनी उस स्थिति का···!

तिलमिलाता हुआ उनके उसी निवास पर पहुँचा जहाँ वे सोफा पर विद्यमान रहते थे। आज वे उसी कमरे में प्लास्टर पर बड़ी निर्ममता से लिटा दिये गये थे। जिस स्थान से रिक्शे पर सवार होकर अनेकानेक बार घूमने निकला था उसी स्थान से पाँव-पैदल उनकी अर्थी के पीछे-पीछे चला। मन बार-बार कहता था कि यह अर्थी किसी दूसरे की है। भीड़ से बचकर निकल चलनेवाले वे किसी किनारे से कतरा कर निकल आएँगे और कहेंगे, "वचनदेव जी! चलिए न! आपको एक संबंधी के यहाँ ले चलूँ!" किन्तु···उनके साथ उमड़ते उस दुःख-दग्ध-पारावार के साथ गंगा किनारे पहुँच गया। जिन हाथों ने उन्हें, न मालूम कितनी बार चाय पिलाई थी, कॉफी पिलाई थी, पावरोटी, बिस्कुट, फल और मिठाइयाँ, खिलाई थीं वे ही हाथ उनकी दहकती काया पर काष्ठ-समूह कैसे रख सकेंगे? बाजार से खरीद कर लाये गये, किसी एम० ए० के छात्र द्वारा प्रदत्त वे दो-चार फूल ही हमतक पहुँच पाये थे, किन्तु श्रद्धा के अनगिनत पुष्प तो आजतक उनके स्वर्ग-निलय तक जा रहे हैं; जाते रहेंगे।

पहले वे आचार्य थे, अभिभावक थे, सहकर्मी थे, विभागीय अध्यक्ष थे और प्रेरणा-दायक आत्मा थे किन्तु आज वे परमात्मा की तरह मन-प्राणों पर छा गये हैं। अब तो यही कहना रह गया है कि—

"निगाहों से ऐसे जुदा हो गए हो!
कि लगता है, जैसे खुदा हो गए हो!!"

✠

हमारे पथ-प्रदर्शक

वासुदेवनन्दन प्रसाद

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, गया कॉलेज, गया

[डॉक्टर वासुदेव का व्यक्तित्व-विवेचन उनकी विद्वत्ता का ही नहीं, बल्कि उनकी सूक्ष्म-दर्शिता का भी प्रमाण उपस्थित करता है—*"वे अपने जन्मजात आलोचक को तभी उभरने देते जब सारे मतवादों से असन्तुष्ट हो जाते। वैसे वे अपनी स्थापनाओं की विचार-संगति अन्यत्र ढूँढ़ने की भरसक चेष्टा अवश्य करते, पर जब हर तरह से विवश हो जाते तभी अपने मौलिक विचारों को सबके सामने रखते।"*]

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा हमारे गुरुदेव थे। उनकी शीतल छाया में बैठकर मैंने वर्षों हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया है। यह बात सन् १९४५-४६ की है जब पूज्य नलिनजी राँची कॉलेज से पटना कॉलेज के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक नियुक्त होकर पहले-पहल आए थे। मैं उन दिनों इसी कॉलेज में पंचम वर्ष हिन्दी का छात्र था। वे पहले दिन हमारे क्लास में "आधुनिक कवि पन्त" पढ़ाने आए। पहले तो हम उनका विशाल शरीर देख कर चौंके और घबराए! शीघ्र ही हमारा भय जाता रहा और यह श्रद्धा में परिणत हो गया।

उनके शरीर का गठन जितना बलिष्ठ था, हृदय उतना ही कोमल और सहिष्णु था। उनके अध्यापन का ढंग कुछ इतना अनूठा था कि मैंने उसमें नयापन का अनुभव किया। ऐसा लगा कि अबतक हिन्दी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का जो ढंग चला आ रहा था उसमें अब बहुत कुछ परिवर्तन की गुंजाइश हो गई है। उनके संबंध में

हमारी जिज्ञासा बढ़ी और हम आदरणीय शर्माजी को अधिक निकट से जानने को उत्सुक हुए। हम हर दिन उनके आने की बाट जोहते, उनके चलने-फिरने के तरीके, बातचीत करने के लहजे और पढ़ने-पढ़ाने के अन्दाज परखते। इस तरह मैं उनकी ओर बराबर खिंचता गया, जैसे चुंबक लोहे को आप-ही खिंचता है। उनकी ओर खिंचने के कई कारण थे : एक यह कि उनका स्वभाव कुछ इतना मृदुल था कि कोई भी उनसे मिल कर अपनी शंका का समाधान निःसंकोच कर सकता था, दूसरा यह कि वे किसी भी छात्र की सहायता करने को तुरंत तैयार हो जाते थे। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा कारण था उनका गंभीर अध्ययन और विषय-वस्तु को बिलकुल नए तरीके से परखने और प्रस्तुत करने का निराला ढंग। वे जो कुछ कहते या बोलते उसमें इतनी विनम्रता और शालीनता होती कि सुननेवाला उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। वे विरोध या मतभेद की बातों या तर्कों को भी इस ढंग से कहते कि कहीं दुराग्रह या अहं का भाव परिलक्षित नहीं होता। अध्यापन के सिलसिले में भी वे अपनी बातों पर उतना ही बल देते जितना अपेक्षित समझते। उनकी अध्यापन-शैली में एक कुशल अध्यापक का संतुलन था, विद्वत्ता का प्रदर्शन नहीं। मैंने इस बात का सदा अनुभव किया कि शर्माजी सही मानी में एक सफल प्राध्यापक थे, जिनका उद्देश्य अपने अध्ययन और अनुभव को छात्रों में वितरित करना था। वे अपने जन्मजात 'आलोचक' को तभी उभरने देते जब सारे मतवादों से असंतुष्ट हो जाते। वैसे वे अपनी स्थापनाओं की विचार-संगति अन्यत्र ढूँढ़ने की भरसक चेष्टा अवश्य करते पर जब हर तरह से विवश हो जाते तभी अपने मौलिक विचारों को सबके सामने रखते। शालीनता, विनीतता, शिष्टता और कोमलता उनमें कूट-कूट कर भरी थी। उन्होंने किसी भी छात्र को न तो कभी डाँटा-फटकारा और न कभी टेढ़ी नजर से देखा। उनके हृदय में सबके लिए असीम स्नेह था। वे उस छात्र पर अपेक्षाकृत अधिक ममता रखते थे जिसमें साहित्यानुराग अधिक होता था।

सौभाग्यवश मैं उनके प्रिय छात्रों में से एक था। मैं धीरे-धीरे उनके निकट सम्पर्क में आता गया। मुझे उनका साहित्यिक निर्देशन और संरक्षण सदा मिलता रहा, विद्यार्थी-जीवन में भी और उसके बाद भी। मुझे वह दिन याद है जब आदरणीय शर्माजी ने बुलाकर बिना माँगे ही अपनी एक पुस्तक मुझे दी थी और कहा था—"देखिए, इसे पढ़ जाइए, इससे आपको काफी सहायता मिलेगी।" उस दिन मुझे उनके हृदय की विशालता का परिचय अनुभूत हुआ।

विद्यार्थी-जीवन की परिधि से निकल कर जब मैं बाहर आया और कुछ महीने बेकार

रहा तो एक दिन मैं शर्माजी से मिला, उनके चरण छुए, उन्होंने मुझे उठाया और अपने पास की कुर्सी पर बैठा कर पूछा—"क्या कर रहे हैं आजकल आप ?" मैंने कहा—"कुछ नहीं । बेकार हूँ ।" मेरे चेहरे पर उदासी थी और वाणी में कम्पन । उन्होंने मेरी पीठ पर प्यार की थपकी लगाते हुए कहा—"घबराइए नहीं, सब ठीक हो जायगा । आप एक पुस्तक लिखिए । छपवाने की व्यवस्था हो जायगी ।" मेरे लिए यह एक बिलकुल नया प्रस्ताव था, क्योंकि इस दिशा में मैंने कभी कुछ सोचा ही नहीं था । मैंने कहा—"पर क्या लिखूँ ? समझ में नहीं आता ।" उन्होंने मुसकुराते हुए कहा—"ऐसी चीज लिखिए जिसकी आप आवश्यकता समझते हैं ।" इसके बाद चाय आई । उन्होंने एक कप चाय मेरी ओर बढ़ाई । मैं उनका आशीर्वाद समझ कर पी गया । चलते समय उन्होंने फिर कहा—"मेरी बात याद रखेंगे ।" मैं रास्ते भर सोचता रहा—"मैं और लेखक ! नियति का कितना बड़ा मजाक है यह ! मैं कुछ लिख सकता हूँ, क्या ऐसा भी कभी हो सकता है ?" मन में भीषण संघर्ष हुआ । अन्त में, मेरे अन्तर के कोने में अचानक आशा-किरण फूट पड़ी । उन दिनों जब मैं बी० ए० ऑनर्स का छात्र था, तभी मैंने श्री मैथिलीशरण गुप्त कृत 'यशोधरा' काव्य पर एक पुस्तक लिखने की सोची थी । पिछले दो-तीन वर्षों की बात मुझे अचानक याद आ गई । मैंने लिखना शुरू किया और तीन महीनों में पुस्तक पूरी कर ली । पाण्डुलिपि लेकर मैं पूज्य शर्माजी के निवास-स्थान पर गया, उन्होंने कुछ पृष्ठों को उलट-पुलट कर देखा और कहा—"इसे हमारे पास छोड़ दीजिए । मैं देख लूँगा ।" उनके इच्छानुसार जब मैं एक सप्ताह के बाद उनके यहाँ गया तो यह देखकर दंग रह गया कि उन्होंने न केवल मेरी पुस्तक की पाण्डुलिपि का विस्तृत संशोधन किया वरन् जहाँ-तहाँ आवश्यक सुझाव भी दिए । प्रत्येक पृष्ठ के मार्जिन में उनके उपयोगी निर्देश लिखे थे । उनके इस कठोर परिश्रम और निष्ठा को देख मेरी श्रद्धा उनके चरणों में आप-ही लोट गई । मैंने कहा—"आपने जब मेरी इस प्रथम कृति के साथ इतना श्रम किया है तो इसकी भूमिका भी आप ही लिख दें ।" वे तुरंत तैयार हो गए और एक अच्छी-सी भूमिका लिख दी । सन् १९४९ में जब यह पुस्तक भूमिका के साथ प्रकाशित हुई तो मुझे ऐसा लगा कि इस रचना में मेरा अपना क्या है, सब कुछ तो गुरुवर का है । पर मेरे लिए यह गुरु-प्रसाद के समान थी ।

तब से आजतक कितने महीने और वर्ष बीते, पर नलिनजी का साथ कभी न छूटा । कहना तो यह चाहिए कि गुरु-शिष्य का यह संबंध धीरे-धीरे और भी गहरा होता गया । वे गया कॉलेज के निमंत्रण और हमारे आग्रह पर कई बार गया आए, हमारे यहाँ ठहरे और हमें दरस-परस का सुअवसर दिया ।

मेरे शोध-कार्य में भी उन्होंने मेरी हर तरह की मदद की। यद्यपि वे हमारे निर्देशक नहीं थे, फिर भी उन्होंने इस दिशा में मुझे जितना उत्साह दिया उसे मैं ही जानता हूँ। एक बार उन्होंने मुझसे कहा—"काम जारी रखिए, मैं आपके साथ हूँ।"

× × ×

उस दिन १३ सितम्बर, १९६१ को जब मैं कॉलेज जा रहा था तो रास्ते में मेरा रिक्शा किसी दूसरे रिक्शे से टकरा गया, किसी तरह सँभलते हुए आगे बढ़ा तो एक बच्चा गाड़ी के नीचे आते-आते बचा और इससे भी आगे बढ़ा तो कॉलेज के एक छात्र के मुँह से यह सुना कि मास्टर तारा सिंह का देहान्त हो गया। मन खिन्न और उदास हो गया। सोचा—यह अच्छा नहीं हुआ। इसी विचार-धारा में डूबता-उतराता मैं कॉलेज पहुँचा, अपने विभाग में गया। वहाँ का वातावरण मुझे शान्त दिखाई दिया। हमारे एक सहयोगी ने भरे गले से कहा—'कल नलिजी का देहान्त हो गया।' सुनते ही मैं उबल पड़ा—'क्या बकते हो? ऐसा कभी नहीं हो सकता।' उन्होंने अपनी बात फिर दुहराई। फिर भी विश्वास नहीं हुआ। मैंने तुरन्त ही एक छात्र को उस दिन का अखबार लाने को कहा। दैनिक "आर्यावर्त" आया और पथराई आँखों से अपने पूज्य गुरुदेव नलिनजी का प्रकाशित शव-चित्र देखकर अवाक् रह गया, वाणी मूक हो गई, आँखें भर आईं और हाथ-पाँव जैसे सूज गए। मुँह से अचानक 'हाय' निकल पड़ी। औपचारिकता निभाने के लिए एक शोक-सभा की गई, पर मेरा मन कहीं और लगा था, और कुछ और सोच रहा था।

६ सितम्बर १९६१ को मैंने श्रद्धेय नलिनजी को एक छात्र के नाम लिखाने तथा अन्य सुविधाएँ दिलाने के सम्बन्ध में एक पत्र उसी छात्र के पिता के मार्फत भेजा। इसके पहले ३ या ४ सितम्बर को वे पटना विश्वविद्यालय की ओर से स्थानीय महिला कॉलेज के काम से गया आये थे पर दुर्भाग्यवश उनके दर्शन न हो सके। इस आशय का उलाहना उन्हें उस पत्र में लिख भेजा था। ८ सितम्बर को पूज्य नलिनजी ने निम्नलिखित पंक्तियों में पत्रोत्तर लिखा—

"प्रियवर,

पत्र मिला। देखता हूँ, आपके चाहने मात्र से काम हो गया। यह कैसे होता, मैं गया जाता और आपको सूचित न करता! फोन कराया था—आप सभी

को सूचित कर देने को कहा था। बहुत प्रतीक्षा करता रहा, फिर सोचा, इस बार मिलन नहीं होगा।

आशा है, आप स्वस्थ और प्रसन्न हैं।

स्नेहाधीन,

नलिन ८-६-१९६१"

पत्र मिलते ही उसी दिन ८ सितम्बर को मैंने गुरुवर को एक और पत्र लिखा, जिसमें मैंने समय पर सूचना न मिलने और भेंट न होने पर खेद प्रकट किया। इस पत्र के साथ मैंने उनके इच्छानुसार जैनेन्द्रजी के तीन उपन्यास भी भेजे थे और लिखा था कि मैं शीघ्र ही उनके दर्शन करूँगा। पर हाय री विधि की विडम्बना! क्या सोचा था और क्या हो गया! यह पत्र उन्हें उसी व्यक्ति के मार्फत भेजा गया था। यह उन्हें १२ सितम्बर को आठ बजे सुबह मिला था, पढ़ा और तकिया के नीचे रख दिया। फिर पत्रवाहक से कहा—"आप आज ही दो बजे आइए, मैं एक पत्र वासुदेव बाबू के नाम दूँगा। आप निश्चिन्त रहें, सब ठीक हो जायगा।" पत्रवाहक समय पर उनके निवासस्थान पर पहुँचे, पर अद्भुत संयोग और दुर्भाग्य की बात यह हुई कि हमारे परम श्रद्धेय गुरुदेव इसके पहले ही इस दुनिया को छोड़ चुके थे। सारा पटना रो रहा था; नहीं, सारा हिन्दी-जगत् अश्रुओं की बाढ़ में डूब रहा था। पता नहीं, नलिनजी हमारे नाम कौन-सा संदेश भेजने वाले थे। कौन जाने? कौन कहे? पत्रवाहक को दो बजे आने का नहीं, अपने जाने का संकेत कर गए थे, ऐसा लगता है।

आज नलिनजी नहीं रहे, पर विश्वास नहीं होता। पर सचाई यह है कि अब वे हमारे बीच नहीं हैं। यह सोच कर, समझ कर, मन मसोसता है, दिल रोता है, आँखें भर आती हैं। उनके पत्र के ये दो वाक्य—"बहुत प्रतीक्षा करता रहा," "इस बार मिलन नहीं होगा"—मेरे हृदय को आज भी कुरेद रहे हैं। दूसरे वाक्य में उनके जीवन का रहस्य छिपा था। अब तो भारतेन्दु की तरह इस दुनिया में नलिनजी की कहानी रह गई है। यही अब हमारा सम्बल रह गई है। उनके अधूरे कार्य को हम पूरा कर दिखाएँ, इसी में उनके शिष्यों का गौरव है। मेरे लिए तो उनको भुलाना एकदम असम्भव है, क्योंकि उन्होंने ही मुझे कलम पकड़ना सिखलाया, साहित्य का मर्म समझाया और पुस्तक लिखने की विधि सिखलाई। ऐसे महान् पथ-प्रदर्शक को भला कैसे भुलाया जा सकता है?

✠

मुझे भी उनकी याद है

विष्णु प्रभाकर
८२८, कुण्डेवालान, अजमेरी गेट,
दिल्ली—६

[दृष्टि-दृष्टि के अवलोकन में अन्तर है। विष्णु प्रभाकरजी जब उस प्रभविष्णु व्यक्ति के आमने-सामने हुए तो उन्होंने पाया—*"मैं जब-जब उन्हें देखता था, सोचा करता था कि यह शरीर और यह सौम्यता ! यह विद्वत्ता और यह विनम्रता ! ......आज के दम्भ और कुत्सा के युग में वे अपवाद थे।"*]

※ ※ ※

मुझे भी बस याद है। क्या याद है इसको शायद विस्तार देना चाहूँ तो न दे सकूँ ! दे सकने योग्य कुछ मिलता ही नहीं। स्मृति-पट को बहुत खुरचता-कुरेदता हूँ, पर दृष्टि

उस विशाल भव्य मूर्त्ति से हटाए हटती ही नहीं। जी करता है, बस मौन बैठा उसे देखता रहूँ, देखता ही रहूँ। उनसे कभी बहुत बातें की हों, याद नहीं पड़ता। यूँ बातें की हैं पर वे सब नपी-तुली। कभी लम्बा-चौड़ा पत्र-व्यवहार भी नहीं हुआ। यूँ हुआ है पर वह इतना व्यावसायिक था कि इतना ही याद है जो काम चाहा था या जो सूचना माँगी थी वह तुरन्त मिली थी। और उसके साथ स्नेह का परस। जो कुछ भी हो, वे हैं, कि आज भी मन में बसे बैठे हैं।

मैं जब-जब उन्हें देखता था सोचा करता करता था कि यह शरीर और यह सौम्यता! यह विद्वत्ता और यह विनम्रता! विधाता ने जैसे उन्हें 'विद्या विनयेन शोभते' के उदाहरण के रूप में सृजा था। आज के दम्भ और कुत्सा के युग में वे अपवाद थे।

याद पड़ता है कुल मिलाकर तीन बार मिलना हुआ। दो बार दिल्ली में और एक बार पटना में। दिल्ली में वह कोई बड़ी-सी परीक्षा देने आए थे और जैनेन्द्रजी के पास ठहरे थे। मैं तब शायद पंजाब में रहता था। दिल्ली आना-जाना होता रहता था। आने पर जैनेन्द्रजी से मिलना भी होता था। वहीं एक दिन जैनेन्द्रजी के उस छोटे-से ऐतिहासिक कमरे में पाया कि दर्शनीय शरीरवाले एक सौम्य-शान्त बन्धु बीचों बीच बैठे हैं। बैठे क्या हैं जैसे स्थिर हो गए हैं। वह छोटा कमरा उस अनुपात में और भी छोटा पड़ रहा था। न जाने उस रूप में क्या था! गलतफहमी न हो, रूप को मैं सौंदर्य के अर्थों में नहीं लेता, व्यक्तित्व के अर्थों में ले रहा हूँ, तो सच मानिए उस रूप में न जाने क्या था! दृष्टि जो जमी सो हटती ही नहीं थी। बार-बार देखने को जी करता था। आज तक उस दृष्टि से हटकर उनके बारे में कभी सोचना ही नहीं चाहा। चाह ही न सका।

इसका अर्थ यह नहीं कि मैं उन्हें इसी सीमित रूप में जानता रहा हूँ। उनकी अगाध विद्वत्ता, उनकी मौलिक अछूती विचारधारा, उनकी सहज कर्मठता, इन सबकी छाप मेरे ऊपर काफी गहरी है। उनकी रचनाओं से परिचय पाने के अनेकानेक अवसर मुझे मिले हैं। वह एक विशिष्ट विचारधारा से सम्बद्ध थे। कितने थे यह नहीं जानता। पर रहे वह बराबर। उसे छिपाते भी न थे। उसकी बातें करने में झिझकते भी नहीं थे। लेकिन उनके लिखने और उनके बातें करने का ढंग कुछ ऐसा था कि आक्रोश न तो कहनेवाले के पास टिकता था और न सुननेवाले के। जैनेन्द्रजी के नए उपन्यास 'जयवर्धन' को लेकर जितनी चर्चा होनी चाहिए थी उतनी चर्चा हिन्दी-जगत में नहीं हुई। जो थोड़ी-बहुत हुई है उसमें आलोचना-उपेक्षा अधिक थी, समर्थन कम था। आरोप था कि 'जयवर्धन' विचार-पोथी है, उपन्यास नहीं है। लगभग तीन वर्ष पूर्व

पटना में नलिनजी से भेंट हुई थी। परोक्ष रूप में वह अन्तिम भेंट थी। राष्ट्रभाषा-परिषद् के भवन में रात के समय अनेक मित्र एकत्रित हो गए थे। गोष्ठी नहीं थी। अनायास ही हमलोग वहाँ पहुँच गए। लेकिन वहाँ पाया कि बातों का कोई अन्त नहीं है और कहकहों का जैसे ज्वार आ गया है। वे कुर्सी पर ऐसे बैठे थे जैसे न हों। धीरे-धीरे बोलते थे पर बीच-बीच में ऐसा कुछ बोल उठते थे कि सब हिल-हिल उठते जैसे विनोदप्रियता की वह साकार-स्वच्छ मूर्त्ति थे।

पर बात थी 'जयवर्धन' की। शायद तभी या अगले दिन बातों-ही-बातों में उन्होंने धीरे से पूछा—'जयवर्धन पढ़ा है ?'

'जी हाँ! शायद सबसे पहले पढ़ा है।'

'कैसा लगा ?'

मैंने कहा—'जैनेन्द्रजी की रचनाएँ मुझे अच्छी लगती हैं। इतने विरोध के बावजूद 'सुनीता' मुझे तब भी अच्छी लगी थी और आज भी अच्छी लगती है। 'जयवर्धन' भी अच्छा ही लगा।'

वह बोले—'यानी ?'

मैंने कहा—'कथा-तत्व उसमें जैसे विचार के नीचे दब गया है। कहीं कुछ कमी है अवश्य।'

वह एकाएक मौन हो गए। डूब गए। कुछ क्षण बाद धीरे से बोले—'हिंदीवालों ने' 'जयवर्धन' का मूल्यांकन नहीं किया। उसका मूल्यांकन होना चाहिए।'

और वह फिर मौन हो गए। सभी मौन हो गए। बात का रुख किसी और तरफ मुड़ गया। तभी उन्होंने कहा—'कल कॉलेज आ सकोगे ? एक छोटी-सी गोष्ठी है।'

उस गोष्ठी की खूब याद है। कॉलेज की साहित्य-सभा की गोष्ठी थी। अधिकतर विद्यार्थी ही थे। कुछ प्रोफेसर भी होंगे। परिचय और चाय के पश्चात् बोलने का आग्रह भी था। याद है कि बहुत जल्दी थी। हमें वापस दिल्ली लौटना था। लेकिन नलिनजी का तो जल्दी से कभी कोई सम्बन्ध रहा ही नहीं। सो उनके स्नेह के कारण वहाँ बोलना ही पड़ा। वह बोलना कुछ इतना अटपटा था और साहित्य की सीमा से इतना

दूर था कि सोचकर आज भी कुछ अच्छा नहीं लगता। लेकिन उसके साथ यह भी याद है कि नलिनजी ने किस स्नेह से उसकी चर्चा की है। भाई यशपाल जैन भी साथ थे और नलिनजी की चर्चा करते-करते गद्‌गद् हो उठते थे।

जितनी देर वह गोष्ठी चली उतनी देर मैं उनकी ओर देखता रहा और तृप्त होता रहा। यदि चितेरा होता तो अपना कैमरा उनके विभिन्न मूडों के चित्रों से भर देता। वह भारी भरकम शरीर और वह अपने में डूबा रहना, वह सादगी और वह सरलता! मौन को सचमुच मैंने जितना मुखर उनके आसपास होते देखा उतना कहीं और नहीं देखा। दृष्टि नीचे किए लगता था जैसे कहीं दूर चले गए हैं, पर दूसरे ही क्षण उठते तो जान पड़ता कि केवल वही जाग रहे थे।

सचमुच वह जब तक जिए जागते ही रहे। उनकी विद्वत्ता और उनकी साधना की चर्चा करनेवाले बहुत हैं। जैसा कि मैंने कहा, मुझे भी उनकी रचनाएँ पढ़ने का सुयोग बराबर मिलता रहा है। उनकी दृष्टि, उनकी गहनता और सूक्ष्मता का कायल भी हूँ पर जिस नलिन विलोचन को मुझे याद है वह तो वही सौम्य, शान्त, सरल और निस्पृह नलिन विलोचन हैं जो जितने विद्वान थे उतने ही विनोदी थे। जो जितने गहरे थे उतने ही स्नेही थे। जो सचमुच मनुष्य थे।

वह यशस्वी थे, माननीय थे। माननीय पिता की सन्तान थे। लेकिन आज यश की सीमा टूट गई है। मान्यता असीम है पर उनकी मानवीयता जो उनके हृदय से होकर उनके मुख पर सदा 'मोनालिसा' की मुस्कान की तरह अङ्कित रहती थी वह तो अजर-अमर है। मुख की छवि ही हृदय का प्रतिबिम्ब है। पहले दिन उसी मुख-छवि पर मैंने उनके हृदय की निस्पृह मानवीयता को पहचाना था, आज भी वही मेरे मन पर अङ्कित है, इसलिए शेष बातें याद करने पर भी याद नहीं आतीं। उसी मौन-मुखर मानवीयता को मैं प्रणाम करता हूँ।

✤

शंकर दयाल सिंह
११, एम० एल० ए० फ्लैट, पटना—१

लौ : जो मद्धिम नहीं हुई !

[बहुत लोगों को यह दुनिया उनकी जिन्दगी में ही माननीय मानती है मगर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनके विषय में यूँ कहा जाता है—"*शान्त और स्निग्ध, पावन और मधुर। नलिनजी ऐसे थे, जिनकी याद रह-रहकर टीस उत्पन्न करती है। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की प्रतिमा! सत्, चित्, आनन्द का विराट् व्यक्तित्व!*"]

☼ ☼ ☼

नलिनजी अब न रहे, यह सहसा विश्वास के परे की बात है। जिनके पास बैठने में कभी समय का भान नहीं हुआ, जिनकी अमृतमयी वाणी सुनते कान कभी अघाते नहीं

थे और जिनसे ऐसी कोई बात, कोई समस्या, कोई जटिलता नहीं थी जिसे हम छुपाते हों—अब नहीं हैं।

शान्त और स्निग्ध! पावन और मधुर! कोमल और उदार! नलिनजी ऐसे थे, जिनकी याद रह-रहकर टीस उत्पन्न करती है। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की साक्षात् प्रतिमा! सत्, चित्, आनन्द का विराट् व्यक्तित्व!

'परिजात-प्रकाशन' के कामों से सदा हमें काशी, इलाहाबाद, लखनऊ, दिल्ली, कलकत्ता आदि शहरों में बिहार के बाहर जाना पड़ता था और वहाँ साहित्यकारों की चर्चा छिड़ती तो बिहार का स्मरण लोग नलिनजी के रूप में करते। वास्तविक बात यह कही जा सकती है कि नलिनजी के व्यक्तित्व में प्राप्त परम्परा के प्रति ममत्व होते हुए भी नये साहित्यिक अथवा सामाजिक जागरण के प्रति ऐसा लगाव था—जिससे प्राचीन और नवीन दोनों युगों का विचित्र मेल उनमें हो गया था।

संस्कृत और हिन्दी, काव्यशास्त्र और भाषाविज्ञान, व्याकरण और उपन्यास, नई कविता और प्राचीन आख्यान—सबों के वे एक ऐसे मर्मज्ञ और व्यापक अध्येता थे जिसकी तुलना हम किसी से कर नहीं सकते।

उनकी विद्वत्ता जितनी कठिन थी, उनका व्यक्तित्व उतना ही सरल था। तमाम विरोधी तत्वों का विचित्र सम्मिलन उनके व्यक्तित्व में निहित था। यही कारण था कि क्लास में प्रेमचन्द के 'गोदान' पर भाषण देनेवाले नलिनजी, दूसरे ही क्षण जब काव्यशास्त्र या भाषाविज्ञान पर भाषण शुरू करते थे तब हमें समझने में अत्यन्त कठिनाई होती थी कि एक ही व्यक्ति इतनी सरलता के बाद, इतनी क्लिष्टता में कैसे उतर जाता है।

विश्वविद्यालय के नलिनजी और साहित्य-सम्मेलन के नलिनजी में भी वैसा ही अन्तर देखने को मिलता था। विश्वविद्यालय में वे अत्यन्त गम्भीर और चिन्तनशील दिखाई देते थे और वहीं साहित्य-सम्मेलन की कुर्सी पर प्रस्फुटित और उन्मुक्त। घर में बिल्कुल परिवर्तन हो जाता था—बालकोचित हँसी सदा मुखरित होती रहती।

किससे उनका अधिक लगाव था यह अन्तर निकाल पाना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। जो भी उनके संपर्क में आया—स्नेह की धारा में सिंचित होता रहा। उनके स्नेह की बाती ऐसी, जिसकी लौ मृत्यु-शय्या तक जाते-जाते भी कभी मद्धिम नहीं हुई।

न जाने कितने लोगों की आशा, आकांक्षा और पारिवारिक सम्बन्ध उनके साथ था। सारे देश में असंख्य स्नेही-मित्र और बन्धु-बान्धव उनके बिखरे पड़े हैं और आज सभी नलिनजी के वियोग में अपने को असहाय अनुभव कर रहे हैं।

साहित्य में भी तमाम विरोधी वादों और विवादों के विरोधियों और समर्थकों की आँखें नलिनजी की ओर लगी रहती थीं। किसी की कोई पुस्तक प्रकाशित हो वह चिन्तित कि नलिनजी की क्या राय होती है? बड़ा से बड़ा साहित्यकार इस चिन्ता में कि दो पंक्ति भी लिख देते तो कलम का सौभाग्य! और नलिनजी ऐसे कि मित्रता में उदार, मिलने-जुलने में अत्यन्त सरल, बात-चीत में बिल्कुल निष्कपट—परन्तु साहित्य के मूल्यांकन में उतने ही कठोर। आलोचना के क्षेत्र में वे पारस-पत्थर थे—सोने और पीतल की परख होने पर ही जैसे जौहरी मूल्य देता है, वैसे ही इनका मूल्यांकन था।

प्रश्न उपस्थित होता है कि नलिनजी का व्यक्तित्व इतना सरल होते हुए भी कैमरे के कन्वास में कभी नहीं अँटता था और न तो तूलिका का समावेश ही वहाँ होता था—यह क्यों? एक मात्र उत्तर यही है कि कई विरोधी-तत्वों का समावेश उनके व्यक्तित्व में था। यही कारण था कि हममें से कई, आपसी विरोध होते हुए भी एक वे ऐसे वृक्ष थे जिनकी छाया में शान्ति की साँस लेते थे। समाज में रहते हुए भी वे सामाजिक कुरीतियों से वैसे ही दूर थे जैसे पुरइन का पत्ता!

न जाने दुनिया में कितने आते हैं और आकर चले जाते हैं, परन्तु रह जाती है कीर्ति की अर्चना। सही है कि नलिनजी का पार्थिव शरीर अब हमारे बीच नहीं है, परन्तु उनका यश, कीर्ति, स्नेह, सौहार्द और सबको अपना बना देने वाली उनकी स्मृति युग-युग तक अमर है।

✠

जीवन की गरिमा और गम्भीरता

श्यामसुन्दर घोष

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, गोड्डा कॉलेज, संथाल परगना

[अल्प साधना से अप्रत्याशित सुयश की प्राप्ति अकारण नहीं होती। प्रत्येक कार्य का एक-न-एक कारण होता है। प्रो० घोष ने इसी कारण पर प्रकाश डाला —*"इतना कम लिखकर इतना अधिक यश अर्जित कर लेना स्पष्टतः अन्याय था, लेकिन यह हुआ कैसे ?*

जो भी नलिनजी को जानते हैं, वे कहेंगे कि वे यश के पीछे नहीं भागे। अपने कृतित्व के परिणाम के प्रति यह विरक्ति या तटस्थता ही उन्हें वह मान दे सकी, जिससे कुछ लोग ईर्ष्या करते हैं।"]

❋ ❋ ❋

क्लास लेकर अभी-अभी आया था कि पं० बुद्धिनाथ झा 'कैरव' ने कहा—'नलिनजी नहीं रहे।' सुना तो कानों पर विश्वास नहीं हुआ। सोचा शायद किसी दूसरे

के बारे में कह रहे हों, इसलिये तत्काल ही पूछा—'नलिनजी'! 'हाँ, नलिनजी'—उन्होंने बुझे हुए स्वर में कहा—तब विश्वास करना ही पड़ा।

ज्यों-त्यों कर एक-दो क्लास चले लेकिन मेरा मन तो कहीं दूर भटक रहा था। बार-बार पटने के कई स्थान आँखों के सामने घूम जाते थे। चाहे वह नलिनजी का अपना बैठकखाना हो या बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-भवन का विशेष कक्ष या पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग का अध्यक्षीय कमरा। सब एकदम सूना और श्री-हीन लगता होगा।

अभी नलिनजी की उम्र ही क्या थी? देखने में निस्सन्देह वह बहुत बुजुर्ग लगते थे। उनके रहन-सहन के ढंग, बात-चीत, शील-सौजन्य सभी वय-प्राप्त लोगों जैसे थे। उनमें उस अवस्था की झलक तो कतई नहीं मिलती थी, जो उनकी वास्तविक अवस्था थी। छयालीस वर्ष की उम्र में ही उन्होंने अपने व्यक्तित्व में एक अतिरिक्त गरिमा समेट ली थी। जिस प्रकार बहुत कम उम्र में उन्हें प्रभूत प्रतिभा, विद्वत्ता और यश का अवदान प्राप्त हुआ उसी प्रकार थोड़ी ही उम्र में जीवन की कलात्मकता और सौन्दर्य-सुषमा भी हाथ लगी। नलिनजी को देखकर तत्काल बोध होता था कि बड़ी कठिन साधना के बाद जीवन की गरिमा और गम्भीरता उपलब्ध होती हैं।

नलिनजी की याद आते ही किसी विशाल भूधर के उत्तुंग धवल शृंग का स्मरण हो आता है। वैसा ही अजेय, अडिग और सुस्थिर उनका व्यक्तित्व था। पर साथ ही उनके उस विराट् व्यक्तित्व में जो शुभ्रता, शालीनता और सौजन्य था वह तो यदा-कदा ही किसी में देखने को मिलता है।

नलिनजी ने बहुत कम लिखा है। उसे देखते हुए उन्हें पर्याप्त यश मिला। उनकी विद्वत्ता, मौलिकता और रचनात्मकता आसेतु-हिमाचल प्रशंसित हुई। अब यह कुछ लोगों की दृष्टि में अस्वाभाविक-सा है। इतना कम लिखकर, इतना अधिक यश अर्जित कर लेना स्पष्टतः अन्याय था, लेकिन यह हुआ कैसे?

जो भी नलिनजी को जानते हैं, वे कहेंगे कि वे यश के पीछे नहीं भागे। अपने कृतित्व के परिणाम के प्रति यह विरक्ति या तटस्थता ही उन्हें वह मान दे सकी जिससे कुछ लोग ईर्ष्या करते हैं। लेकिन मेरी दृष्टि में इसका एक और कारण है। नलिनजी ने बहुत कम लिखा सही, लेकिन जितना लिखा उससे कई गुणा ज्यादा पढ़ा और गुना। यही कारण है कि उनका लेखन प्रभावशाली, पांडित्यपूर्ण और गम्भीर हुआ। एक अधीत व्यक्ति का लेखन जैसा होना चाहिये वैसा लेखन नलिनजी का था।

नलिनजी के लेखन की संक्षिप्तता पर भी कुछ लोगों ने आपत्ति की है। जैसे, लोगों का कहना है कि वे अधिकतर टिप्पणियाँ लिखते थे। जिस विषय को उठाते थे उसका विशद प्रतिपादन और पल्लवन नहीं करते थे। उसके कई कारण थे। एक तो नलिनजी की कुछ अपनी विवशताएँ भी थीं। उनका बहुत-सा समय मेल-मुलाकातों, गप्प-सप्प और दोस्तों-शिष्यों के बीच चला जाता था। जो थोड़ा-सा समय मिलता था उसे वे पढ़ने के लिये रख लेते थे। इसलिये स्वभावतः ही किसी विषय पर पूर्णतः व्यवस्थित ढंग से नहीं लिख पाते थे। दूसरे 'साहित्य'-सम्पादक के नाते उन्होंने विचारपूर्ण और प्रेरक टिप्पणियाँ लिखने की नवीन परिपाटी चलाई थी। इसकी सार्थकता और औचित्य को वे खूब समझते थे। जैसे पाठकों के लिए वे लिखते थे उनकी ग्रहणशीलता और क्षमता पर उन्हें विश्वास था। इसलिए उनका लेखन संक्षिप्त और संकेतमूलक होता था। उनका पल्लवन और प्रतिपादन तो बाद में होता या सम्भव है यदि अवसर मिलता तो स्वयं नलिनजी ही करते।

नलिनजी की टिप्पणियाँ पढ़ने से लगता है कि अध्ययन और अनुशीलन के क्रम में जब जो विचार-सूत्र उनकी पकड़ में आ जाते थे, वे लिपिबद्ध कर लिये गये। यदि नलिनजी ने इतना भी नहीं किया होता, तो हमें आज और भी पछतावा होता। बहुत-से लेखक ऐसे होते हैं जो जमकर लिखना चाहते हैं पर न लिखने का अवसर मिलता है और न लिख पाते हैं। नलिनजी ने अपने जीवन से यह जाना था कि व्यवस्थित लेखन उनके लिये जरा कठिन है। इसलिए उन्हें जब जैसा मौका मिला वैसा लिखा।

अब एक ओर तो विचार-सूत्रों को इस प्रकार संक्षेप में लिपिबद्ध करना और दूसरी ओर उनके प्रभाव को क्षीण न होने देना, यह नलिनजी के ही वश की बात थी। जिस प्रकार की परिस्थिति में नलिनजी लिखते थे उस प्रकार की परिस्थिति में सभी नहीं लिख सकते हैं, यदि लिख भी लें तो वह आलोचना न होकर हाशिये पर का रिमार्क होकर रह जायगा। लेकिन यदि हम नलिनजी की टिप्पणियाँ पढ़ेंगे तो पायेंगे कि उनमें एक परिपूर्णता और 'फिनिशिंग टच्' भी है। सम्भव है, नलिनजी अपनी भावी जानते रहे हों तभी तो उन्होंने स्वयं द्वारा चित्रित छोटे-से-छोटे चित्र को भी स्वयं ही पूर्ण कर लिया था, नहीं तो आज उनके चित्रों को 'फिनिशिंग टच्' देने वाला कौन है!

नलिनजी राग-विराग से परे नहीं थे। आखिर वे भी एक मनुष्य थे। लेकिन हम सभी लोगों को वे राग-विराग से परे लगते थे। इसका कारण यह था कि साधारण लोगों में राग-विराग के प्रति जैसी आसक्ति देखने में आती है उसको उन्होंने यत्नपूर्वक

कम करना चाहा था। लोगों ने उन्हें क्षुब्ध होते देखा होगा। लेकिन वे अपना क्षोभ पी जाते थे, उसकी प्रतिक्रिया किसी पर नहीं होने देना चाहते थे। जो भी उनके निकट सम्पर्क में आया, उसने उनकी इस विशेषता का अनुभव किया था। एकाध बार ऐसा भी देखा गया कि वे अपने लेखन में किसी व्यक्ति विशेष के प्रति बहुत निर्मम, कटु और कठोर हो गये हैं लेकिन उस व्यक्ति को सामने पाकर अपने लेखन को भूल जाते थे या भूल जाना चाहते थे।

नलिनजी जिस पर सहाय होते थे वह तो प्रिय पात्र हो ही जाता था लेकिन जिससे रुष्ट होते थे उसे भी अपने से बहुत दूर नहीं कर पाते थे। और कई बार तो ऐसा भी होता था कि जिस पर कभी रोष करते थे, मौका आने पर, उस पर अतिरिक्त कृपा करके अपने रोष का प्रायश्चित्त भी कर लेते थे।

नलिनजी की मृत्यु से हिन्दी साहित्य का बड़ा अहित हुआ। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह तो उनकी प्रतिभा का एक अंश विशेष ही है। उन्हें तो अभी बहुत कुछ लिखना था। उनकी साधना तो चल ही रही थी। जमकर लिखने की स्थिति तो आने को थी। लेकिन शायद हिन्दी साहित्य की यह परिपाटी ही रही है कि प्रतिभावान लोग हमसे शीघ्र ही रुष्ट हो जाते हैं। भारतेन्दु से लेकर नलिन विलोचन शर्मा तक हमें ऐसा ही कटु अनुभव हुआ है।

✣

मेरी डायरी का एक पृष्ठ

शिवचन्द्र शर्मा

चीना कोठी, बुद्धमार्ग, पटना—१

[दैनंदिनी लिखते वक्त लिखनेवाला नहीं जानता कि भविष्य में यह लेख कितना महत्त्वपूर्ण बन बैठेगा। नलिनजी के परम अभिन्न मित्र पं० शिवचन्द्र शर्मा एम० एल० सी० की इस एक दिन की डायरी से किसी एक दिन की प्रभावित प्रतिक्रिया की पकड़ देखिए।]

पहले से निश्चय था। नलिनजी के यहाँ प्रातः आठ बजे पहुँचा। वे अबतक सोए थे। 'चिंतन' में बैठाया गया। कुछ इधर-उधर की देशी-विदेशी पत्र-पत्रिकाएँ। पोएट्री, बृटेन-टु-डे, समीक्षा (मराठी), स्टेट्समैन आदि में उलझाए रखा। करीब नौ बजे नलिनजी गोल्डफ्लैक और मासिक लिए निकले, देह पर रेशमी चादर थी—भई, दोष मेरा नहीं, यह भी नहीं कि बिल्कुल सोया था। एक 'सूक्ष्म' का भीमकाय उपन्यास, जिसे संज्ञा मिली है 'एक बुद्धिवादी उपन्यास', पढ़ता रह गया। 'कुछ मिले' की संभावना में सुबह विज्ञान ने भी थोड़ा वक्त बर्बाद किया।

—मतलब ?

—मतलब कि बिजली खराब हो गई थी।

—मार्च महीने में इससे आपको क्या हानि हुई ?

—रात गरमी भी कुछ ...। नींद आती-होती रह गई।

चाय की ट्रे आ गई।

—जरा ठहरिए, अच्छा, बनाइए, अभी आया।

वापस आए।

—लखनऊ की सोनपापड़ी है जनाब! एक सज्जन (संबंधी) वहाँ गए तो यहाँ के लिए भी लेते आए। घबराइए नहीं, आपकी पसंद की भी चीज है।

एक कागज के ठोंगे से चावल का भूँजा भी निकाला।

—नलिनजी, यह मेहराया निकला।

—हाँ, भाई, सचमुच मेहराया है। कल मँगवाया था। रुकिए, अभी आया।

—नहीं, नलिनजी, बैठिए भी! चाय ठंढी हुआ चाहती है।

—अब तो ठंढी-गरम ही सही।

फिर वे उठे। इस बार हरे रंग की बोतल में भूँजा चना लाए।

—यह ताजा होगा, आप जैसा खाते-खिलाते हैं वैसा न हो शायद, पर अपने ढंग का ताजा होगा।

चाय पहले मैं बना चुका था। ठंढी हो चुकी थी, पर चाय थी। केतली कामदार, रोएँदार मोटे वस्त्रों या रुईदार जैसे बने ढक्कन (रिकोजी) से ढँकी थी। इस बार नलिनजी ने चाय बनाई।

—तो जनाब, जुलाई में 'कविता का' पहला अंक निकालना है या नहीं?

—क्या कहते हैं, जैसे मुझी को सब करना है!

—वाह साहब, तो किसे करना है! नरेशजी मिलते नहीं, केसरीजी का पत्र आया है, करणीय करेंगे, आदेश की प्रतीक्षा है। व्यावहारिक पक्ष सँभाल रहे हैं अर्थात् कुछ ग्राहक-वाहक बनाए हैं। रचना से सहयोग है ही, आदि, आदि।

—मैं कहाँ भाग रहा हूँ! आदेश दें।

—जी नहीं, आप सब मिलकर मुझे ही आदेश दें। आदेश-पालन में मैं देख रहा हूँ, दायित्व से मुक्ति है। मुक्त हो दायित्व में मैं लगूँ, यह नहीं होने का। काशी-यात्रा में जो तय पाया है, उससे भागिए नहीं।

—यह खूब रही साहब, भागता हूँ मैं! अच्छा बोलिए, मैटर सब तैयार है?

—और नहीं तो क्या?

—अच्छा तो दीजिए सब। और चलिए कल ही मेरे साथ प्रेस। टाइप भी देख ही लीजिए।

—आपकी, प्रेस से, मतलब, मास्टर साहब (पं० कालीकान्त झा, इंडियन नेशन प्रेस) से बातचीत हो गई है ?

—अब वह सब छोड़िए, तैयार मैटर हाजिर कीजिए।

—मैटर तैयार ही समझिए।

—समझिए नहीं, हाजिर कीजिए। सब दोष अकिंचन का ही।

—खफा मत हूजिए जनाब शिवचन्द्रजी, सिगरेट पी लें। —लीजिए, सिगरेट ही नदारद। कह रहा था, बात क्यों नहीं आगे बढ़ रही है। —कुग्गू, बेटा, एक पैकेट गोल्डफ्लैक मंगाना। पैसे जेब में होंगे, जेब में न हों तो माँजी से ले लोगे। —तब साहब, मैटर की बात है न, तैयार ही समझिए। जैसे, आपकी कविता, जब चाहूँ, आप दे ही देंगे!

—वाह नलिनजी, वह कब का नहीं किए तेरे हवाले!

—सचमुच ?

—देखिए नलिनजी, सचमुच वह दी जा चुकी है। मजाक मत कीजिए।

—अधिकार रखकर भी आपसे मजाक नहीं करता। सच पूछिए शिवचन्द्रजी, मुझे संदेह था कि आप यही कहिएगा। मुझे भी कुछ-कुछ याद है कि कविता आपने अपनी दी थी। मैंने ढूढ़ी भी। कमबख्त मिल नहीं रही है। प्रति तो रखनेवालों में से आप भी नहीं। दूसरी ही लिख डालिए।

—इतना आसान है ? संपादकजी, गड़बड़ कर रहे हैं। कोई मुझे प्रपद्य लिखना है ? आपलोगों की तरह कविताएँ मैं नहीं लिख पाता (मजाक में कहा)

—वाह साहब, प्रपद्य ही इतना आसान है ?—और मेरी बात भूल गए—प्रेरणा के क्षणों में भी कम-से-कम मैं कविता नहीं लिखना पसंद करता। प्रपद्य का संपादन कर भी आप ऐसा कहते हैं ?

—संपादन ?

—हाँ, साहब, 'पाटल' में।

—वह तो यूँ ही।

—दूसरी कविता लिखनी है आपको। अरे साहब, उसी को फिर से लिख डालिए। कुछ अच्छी ही बन जायगी। छिनक वही रहे।

—क्या जाने, क्या बन जायगी! लिखनी ही पड़ेगी। अंत के अँग्रेजीवाले फर्मे का मैटर तैयार है ?

—देखिए शिवचन्द्रजी, अँग्रेजी वाली योजना बनती नहीं दीखती।

—क्यों ?

—बात यह है कि यह काम नरेशजी को सौंपा गया था। कुछ मुझ पर भी भार था। पर नरेशजी ने कोताही कर दी है। उदार कृपणता दिखला रहे हैं। थोड़ा पोर्सन सुनाया कि काम वे कर रहे हैं। पर काम बनता नहीं दीखता। उनकी मुद्रा ठीक नहीं। कुछ दूसरे व्यापार में प्रवृत्त हैं।

—यह नया व्यापार क्या है भला! सुनूँ भी।

—पीछे बताऊँगा। बहरहाल अँग्रेजी वाली योजना स्थगित रखिए। और सुनिए, डीयर को एक आप पत्र लिखिए। जोर पड़ेगा।

—खूब कहते हैं! जोर आपका पड़ेगा। आप पहले लिखिए।

—अच्छा, आप लिखिए उसी में मैं भी लिख डालूँगा।

—अच्छा, चलूँ ?

—क्यों, किसी राजनीतिक से मिलना है ?

मैं हँसने लगा, स्वीकृति थी। वे भी अपनी शैली में मुस्किराने लगे।

७ मार्च, '५४ ई०❀

❀ नियमित डायरी नहीं लिखा करता। एक का जिक्र था, किसी तरह वर्ण्य वे किसी से सुन चुके थे। मिलने पर उन्होंने कहा, हे प्रभो, आप सब कर्म करें, पर डायरी न लिखें। वचन-सा दिया था। चर्चा आने पर नलिनजी ने कहा, हे प्रभो, सब कर्म छोड़ दें, केवल डायरी लिखा करें। सो फिर लिखने लगा— नियमित नहीं बन पाता। यों जिस तिथि को लिखता, अनेक तिथियों के पृष्ठ भर जाते, बहुत लिख जाता हूँ, सविस्तर, एक दिन की चर्चा—संवादात्मक ढंग से।

—लेखक

✤

हिन्दी-विभाग में

शिवनन्दन प्रसाद

हिन्दी विभागाध्यक्ष, पटना विश्वविद्यालय, पटना—६

[यह है नलिनजी की महान मानवता का रूप, जो उनके घनिष्ठ सहयोगी डॉ० प्रसाद द्वारा देखा गया है। दूर से नहीं, अत्यन्त निकट से।—"......'साहबी' *उन्हें छू तक नहीं गई थी। वे चपरासी को भी मनुष्य समझते थे और सर्वोच्चाधिकारी व्यक्ति को भी मनुष्य से अधिक बड़ा नहीं मानते थे।"*]

यों तो नलिनजी का देहावसान समस्त हिन्दी के लिए एक असाधारण दुर्घटना है जिससे अपूरणीय क्षति हुई है। किंतु, जो उनके निकटतम सम्पर्क में रहे हैं और जिनके वे 'मित्र' या 'बन्धु' से भी अधिक आत्मीय बन चुके थे, उनकी व्यथा और भी अकथनीय है। स्नातकोत्तर हिंदी-विभाग के सूनेपन की दंशपीड़ा, समय के मरहम के बावजूद कमती नहीं दिखाई देती, यद्यपि नलिनजी के बिछुड़े तीन महीने से ऊपर हुआ। उनके विभागीय सहयोगी इस पीड़ा की प्रताड़ना से आज भी मर्माहत हैं।

ग्यारह सितम्बर को भी हम कई घण्टे साथ रहे। उस दिन विभाग में वाराणसी से विद्वद्वर पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र पधारे थे। हिंदी-साहित्य-परिषद् में नलिनजी

ने उनका स्वागत किया। 'मानस' के पाठानुसन्धान पर मिश्रजी का रोचक और पाण्डित्य-पूर्ण भाषण हुआ। छात्रों ने प्रश्न पूछे। बाद में चाय पर भी पाठशोध की चर्चा चलती रही। सभी सोत्साह आनन्दित थे। चार बजे के लगभग गोष्ठी उठी—नलिनजी की 'कार' में मिश्रजी, केसरीजी बैठे। नलिनजी खुद ड्राइव करते थे। वे भी अपने स्थान पर बैठे और 'कार' से सभी विदा हुए। क्या जानता था कि पिछले उन्नीस साल से जिनकी स्निग्ध मैत्री की शीतल छाँह सघनतर होती जा रही थी, उन अग्रज तुल्य नलिनजी से मेरी यह अन्तिम भेंट है !!

नलिनजी की ही योजना थी—इस वर्ष पाठानुसंधान पर विशिष्ट विद्वानों के भाषण, विभाग में कराये जायँ। डॉ० माताप्रसाद गुप्त से वे अनुरोध कर चुके थे। गुप्तजी १५ सितम्बर को आनेवाले थे और (विश्वविद्यालय-परीक्षा के सिलसिले में) आये भी। किंतु, नलिनजी नहीं थे और उनके अचानक उठ जाने से अब न किसी में पाठानुसंधान की चर्चा करने या सुनने के लिए अपेक्षित मानसिक संतुलन था, न औत्सुक्य। घाव गहरा और ताजा था, व्यथा निर्वाक्।

उनकी ऐसी और कई योजनाएँ हैं, जो अभी अधूरी पड़ी हैं; और जिन्हें वे छोड़ गये हैं, उनके कर्त्तव्य बोध को उकसा रही हैं। पटना-विश्वविद्यालय हिंदी-विभाग से शोध-पत्रिका के प्रकाशन की योजना एक है। व्यावहारिक आलोचना पर उच्चस्तरीय ग्रन्थ-प्रकाशन की योजना दूसरी है। कहाँ तक कहूँ ? नलिनजी की मानसिक उर्वरता विश्वविद्यालय के बौद्धिक-सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिए नित नये मार्गों का अनु-सन्धान करती रहती थी। नवीनता और मौलिकता का आग्रह उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं में से था। दूसरों के बनाये मार्ग पर चलना उन्हें रुचिकर न था—दो-चार लोगों के साथ अपरिचित रास्तों पर चलना उन्हें भाता था।

उन दिनों नलिनजी पटना कॉलेज में हिंदी अध्यापक थे। एक बार एक सहयोगी ने सलाह दी कि पटना कॉलेज के हिन्दी अध्यापक मिलकर एक विशिष्ट लेखन-शैली का प्रवर्त्तन करें। नलिनजी ने तत्काल उत्तर दिया कि यह पटना कॉलेज के लिए कोई गौरव की बात न होगी। यहाँ से तो शैली का नहीं, शैलियों का प्रवर्त्तन होना चाहिए।

नलिनजी हिंदी कविता के एक 'वाद' के प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। किंतु हमलोगों ने निकट से देखा, वे उस 'वाद' के प्रति किसी भी प्रकार के दुराग्रह से सर्वथा मुक्त थे, उस

'वाद' से सहमत न होनेवालों के विचारों का भी वे अनादर नहीं करते। दूसरे के दृष्टि-कोण को समझ सकने के लिए अपने प्रति जैसी बौद्धिक-तटस्थता अपेक्षित होती है, वैसी उनमें थी।

उनका हृदय उनके आकार-प्रकार जैसा ही विशाल था। विभागीय सयोगी हों यहा शोध-अध्येता या छात्र-छात्रा, सभी की उन्नति की कामना उनके हृदय में वर्त्तमान रहती थी। इसलिए अवसर आने पर वे सभी की सहायता को तत्पर रहते, जैसे पुण्य-सलिला जाह्नवी सभी प्राणियों की तृषा बुझाने को सतत् गतिशील हो! वे जैसे मित्रवत्सु थे, वैसे ही निंदा-स्तुति को समरसतापूर्वक सह लेने में समर्थ। उन्हें एकाध बार मैंने क्रुद्ध होते भी देखा है, लेकिन वह क्रोध निर्वैयक्तिक था। छात्रों में अनुशासनहीनता और आचरणहीनता वे कतई बर्दाश्त नहीं करते—इस क्षेत्र में अपराधी के प्रति उनकी कठोरता आकस्मिक और असाधारण दिखाई देती। फिर भी, जाननेवाले जानते थे कि इस कठोरता के आवरण के नीचे प्रायः सदैव, अन्तःसलिला जैसी, मनुष्योचित क्षमा और करुणा प्रवाहित रहती थी।

विभागाध्यक्ष के रूप में शिक्षण-पद्धति और कार्यालय-पद्धति में और अधिक व्यवस्था लाने के लिए वे सदैव सचेष्ट रहे। लेकिन, 'साहबी' उन्हें छू तक नहीं गई थी। वे चपरासी को भी मनुष्य समझते थे और सर्वोच्चाधिकारी व्यक्ति को भी मनुष्य से अधिक बड़ा नहीं मानते थे। व्यापक मानवीय मूल्यों की संस्थापना का सदुद्योग वे सदैव, अपने कार्य-क्षेत्र के बीच, करते रहे।

✠

शिवपूजन सहाय
भगवान रोड, मीठापुर, पटना—१

मधुरता की मंजुल मूर्ति

आचार्य श्री शिवपूजन जी से आसानी से किसी का लोहा नहीं मनवाया जा सकता। इसलिए उनकी इस स्वीकृति का अर्थ भी साधारण महत्त्व नहीं रखता।—*"मैं लगातार ग्यारह वर्षों तक उनके साथ 'साहित्य' का सम्पादक रहा। वे मुझसे पचीस वर्ष छोटे थे, तब भी मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा।"*]

※ ※ ※

नलिनजी के स्वभाव की मधुरता उनकी अपनी पैतृक सम्पत्ति थी। उनके पिता महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा को **मैंने** देखा था। वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति

के विद्वान थे। उनके निवास-स्थान पर प्रायः संध्यासमय पंडितों का जमघट होता था। प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र और पंडित रामदहिन मिश्र तथा पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के साथ मैं अनेक बार उस दरबार में गया था। वहाँ मैं दर्शक मात्र था। वहाँ जो शास्त्रीय और साहित्यिक चर्चा होती थी उसका मौन श्रोता भी मैं था। चुपचाप देखने-सुनने के सिवा मेरी वहाँ गति ही कहाँ थी। शर्माजी की मधुर प्रकृति पंडितों को आकृष्ट किये रहती थी। अपनी गंभीरता में अपनी विद्वत्ता छिपाये हुए वे पंडितों की बातें सुनते रहते थे। कभी-कभी बीच में कहीं छेड़ने और उकसाते भी थे। उनकी मधुर वाणी पंडितों को उत्कण्ठित और विस्मित कर देती थी। वह शाही दरबार का दृश्य आज भी आँखों में झलक जाता है। उस समय तक मैं साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश पा चुका था। अतः जब कभी मैंने वह विद्वत्सभा देखी, मुझे यही अनुभव हुआ कि शर्माजी विश्वविख्यात विद्वान होने पर भी अपने मधुर व्यवहार से सभी समागत विद्वानों को सन्तुष्ट ही करना चाहते हैं, किसी पर अपने पाण्डित्य की धाक जमाना नहीं। यही विशेषता नलिनजी में भी थी। मैं मन-ही-मन पिता-पुत्र के व्यक्तित्व का अध्ययन-मनन करके यह बात लिख रहा हूँ। निजी अनुभवों के ही आधार पर मेरा तो यहाँ तक अनुमान है कि नलिनजी अपने पिता से भी अधिक मधुर और गंभीर थे। उनके और उनके पिता के इस गुण में अन्तर भी था। उनके पिता के मधुर स्वभाव से कोई अनुचित लाभ नहीं उठा सकता था। किन्तु उनके अपने स्वभाव में जो मिठास थी उससे लोग सुगमता के साथ अनुचित लाभ उठा लिया करते थे। उनकी प्रकृतिगत मधुरता दूसरों के लिए लाभदायिनी थी, पर उनके अपने हित में उससे बाधा पहुँचती थी। उनकी गंभीरता भी ऐसे प्रसंगों को पचाने के लिए अगाध थी। यदि कभी उनसे कहा भी जाता कि ऐसा मधुर न बनिए जिससे मिट्टी के देवता की तरह लोग तिलक में ही गायब कर दें, तो हँसकर रह जाते थे। फिर स्वभाव ज्यों का त्यों।

नलिनजी के पास कॉलेजों के प्राचार्य और प्राध्यापक भी अपनी 'थीसिस' के विषय में सलाह लेने आया करते थे। स्नातक तो आते ही थे, साहित्यिक शोध में निर्देश लेने सुदूरवर्त्ती लोग पत्र लिखकर भी पूछताछ करते थे। आगन्तुक सज्जन अपना प्रयोजन सिद्ध करने की धुन में यह बात भूल जाते थे कि नलिनजी के समय का भी कुछ मूल्य है। रात हो या दिन, खाने का समय हो गया या सोने का, परीक्षा की कॉपियाँ जाँचने में देर हो रही हो कहीं बाहर जाने के लिए तैयार होने की उतावली हो, वे न किसी की उपेक्षा कर सकते थे और न किसी को हताश। धीर गंभीर भाव से यथोचित सुझाव देते चले जाते थे। थीसिसों की रूपरेखा में संशोधन-परिवर्तन-परिवर्द्धन करते भी उन्हें देखा है। उसे

आपाद-मस्तक रँग डालते थे। अपने परमावश्यक कार्य का ध्यान रखते हुए भी बला नहीं टालते थे। उकताते या झुँझलाते नहीं थे। जो महाशय आते थे वे उनकी मधुरता तृप्त होकर जाते थे। अस्वस्थता की दशा में भी यह मधुरता का बाना अपना बानक बनाये रहा।

साहित्य-क्षेत्र में उनकी परोपकार-वृत्ति का लेखा-जोखा आँकना बड़ा कठिन है। इसीके कारण दिन-भर और रात में काफी देर तक उन्हें कार्यव्यस्त रहना पड़ता था। अतः लिखने-पढ़ने का अधिकतर काम रात में जागकर ही करते थे। सोने का समय पढ़ने में बिताने से सुबह देर तक सोना अनिवार्य हो जाता था। इधर कुछ दिनों से उनको अस्वस्थ रहते देखकर मैंने कई बार उनसे कहा कि रात में जाग कर पढ़ने और सुबह में सोने का क्रम बदलिए। किन्तु वे अपनी विवशताएँ बतलाने लगे तो यह कहते न बना कि अपना कार्यभार हल्का करने के लिए कुछ कामों को अस्वीकृत कर दीजिए या मित्रों में बाँट दीजिए; क्योंकि वे सभी अंगीकृत कार्यों को अपनी प्रतिष्ठा और धारणा के अनुकूल ही सम्पन्न करना चाहते थे। उनके पास विविध भाँति के बड़े महत्त्वपूर्ण साहित्यिक काम आते थे और सबको वे स्वयं ही पूरा करते थे। दूसरा कोई न उनकी तरह सोच सकता था और न लिख सकता था। उनकी चिन्तन-धारा और विचार-धारा तथा लेखन-शैली में उनकी निजी मौलिकता की ही सत्ता व्याप्त थी। अपने ऊपर न्यस्त कार्य की पूर्त्ति में वे सदा अपनी ही सूझ-बूझ का सहारा लेते रहे। इस प्रकार उन्हें निरन्तर परिश्रम करने में तत्पर रहना पड़ता था। 'साहित्य' के विविधविषयक लेख प्रायः शोध-समीक्षा-प्रधान ही होते थे और उनके संशोधन-सम्पादन में तथा समालोचनार्थ प्राप्त पुस्तकों को मनोयोगपूर्वक पढ़कर उनकी आलोचना लिखने में वे अपने मस्तिष्क पर बहुत अधिक बल देते थे। साधारण काम को भी जैसे-तैसे निपटाकर पिण्ड छुड़ना वे नहीं जानते थे। इसलिए उन्हें खटना तो पड़ता ही था, खपना भी पड़ता था। अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह में सदा सावधान रहने की जो प्रवृत्ति उनमें थी उसके कारण साहित्य-सेवा के छोटे-बड़े नानाविध कार्यों में उन्होंने अपने-आपको खूब खपाया। अपने किये हुए काम में किसी प्रकार की कोताही करना या कुछ भी कसर रहने देना उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं था। काम के पूरा होने में कुछ समय भले ही लग जाय, उसे अपने सन्तोष के अनुसार अच्छी तरह पूरा करके ही चैन पाते थे।

मैं लगातार ग्यारह वर्षों तक उनके साथ 'साहित्य' का सम्पादक रहा। वे मुझसे पचीस वर्ष छोटे थे, तब भी मैंने उनसे बहुत-कुछ सीखा। उनके पिता की विद्वत्ता तो

भारत-प्रसिद्ध थी, जिसके तेजस्वी कण उनके उर्वर मस्तिष्क में इधर कई साल से अंकुरित और क्रमशः पल्लवान्वित होने लगे थे। पुष्पित और फलित होने का समय आ ही रहा था कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के उद्गारानुसार 'हा हन्त हन्त नलिनं गज उज्जहार !' 'साहित्य' में छपनेवाले निबन्धों की पाण्डुलिपियों का सम्पादन करते समय वे अपनी कसौटी का उपयोग बड़ी दृढ़ता और निष्पक्षता से करते थे। निबन्ध, कहानी, कविता, उपन्यास, आलोचना आदि के सम्बन्ध में उनके अपने निश्चित सिद्धान्त थे, जिन्हें कभी प्रसंगवश सुनने पर उनकी मननशीलता का परिचय मिलता था। ऐसे ही प्रसंगों के छिड़ने पर उनके विचारों के सुनने से ज्ञानवृद्धि होती थी। प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य का गहन तुलनात्मक अध्ययन उन्होंने बड़ी सूक्ष्मदर्शिता से किया था, इसलिए उनके विचार बड़े ठोस होते थे। समीक्षा के क्षेत्र में तो समस्त हिन्दी-संसार में उनका एक स्वतंत्र स्थान बनता जा रहा था। उपन्यासों की नाड़ी-परीक्षा में वे ऐसे परिपक्व अनुभवी हो गये थे कि कोई नया प्रसिद्ध उपन्यास पढ़ लेने के बाद उनसे उसकी चर्चा चलाने पर उनके तत्सम्बन्धी विचार सुनकर दृष्टिकोण ही बदल जाता था, उसका जौहर भी खुल जाता था और उसकी वास्तविकता भी प्रकट हो जाती थी। इस तरह उनके सुचिन्तित विचार एक नई दृष्टि देते और अपने आलोक से चमत्कृत भी करते थे। अपनी संक्षिप्त समालोचना में भी वे एक-दो पंक्तियों में ही ऐसे पते की बात की कह जाते थे कि उससे आलोच्य पुस्तक की नस पकड़ में आ जाती थी। कभी-कभी तो उनका केवल एक ही शब्द ऐसी मार्के की बात ध्वनित कर देता था कि उनकी सूझ की बारीकी पर बड़ा विस्मय होता था। वे कितने ही ऐसे विपुलार्थबोधक नये शब्द गढ़कर प्रयोग करते थे जो हिन्दी के प्रकाशित साहित्य में कहीं दृष्टिगत नहीं होते थे। उनकी रचनाओं में ऐसे सुदूरसंधानी ध्वन्यात्मक शब्द देखे जा सकते हैं।

कुछ ही महीने पहले मैंने एक पत्र लिखकर उन्हें दिया, जिसमें उनसे निवेदन किया था कि अस्वस्थता और नेत्रशक्ति की क्षीणता के कारण अब मैं 'साहित्य' का सम्पादक नहीं रहना चाहता, इसलिए ग्यारहवें नये साल से 'साहित्य' पर मेरा नाम न छापा जाय। यद्यपि मेरी आँख और देह की दशा देख कर कई साल पहले से ही वे मुझसे सम्पादन सम्बन्धी कोई काम नहीं लेते थे तथापि मुझे यह बहुत खलता था कि उन्हें अकेला ही सारा भार वहन करना पड़ता है जिसका हानिकारक प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ रहा है। किन्तु मेरा पत्र पढ़कर उन्होंने मधुर-मधुर हँसते हुए कहा—आप तो अभी सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिख ही देते हैं, जब एक अक्षर भी न लिख सकेंगे तब भी नाम छपता

रहेगा। मैं उनके बन्धुत्व की बड़ाई कहाँ तक करूँ ! वैसा सुहृद् अब दुर्लभ है। वैसा स्मितपूर्वाभिभाषी और मधुरालापी व्यक्ति अब कहाँ ! वैसा मित्रवत्सल और शिष्ट पुरुष साहित्यिक समाज को धन्य करने क्या फिर आएगा !

संयोग की बात। एक दिन बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अनुशीलन-कक्ष में हम दोनों बैठे थे। उन्होंने सहसा कहा कि 'साहित्य' के सम्पादकीय स्तम्भ में स्वर्गीय साहित्य-सेवियों पर लिखी आपकी संस्मरणात्मक टिप्पणियाँ मुझे बहुत-पसन्द हैं। मैंने कहा कि आपकी पसन्द ही उनकी सार्थकता है; किन्तु मेरे निधन पर आपको भी वैसी ही टिप्पणी लिखनी पड़ेगी। छूटते ही बोल उठे कि कहीं आपको ही मेरे लिए लिखना पड़ गया तो आपकी अभ्यस्त लेखनी मुझसे बाजी मार ले जायगी। इसपर उस दिन तो हम दोनों के अट्टहास से कक्ष मुखरित हो गया। परन्तु आज उस बात की स्मृति का वृश्चिक-दंशन हृदय को बड़ा व्यथित कर रहा है। क्या मनुष्य के अन्तःकरण में व्याप्त ब्रह्म भविष्यवाणी भी किया करता है ?

"......प्रसिद्धि और लोक-प्रियता से या उनके अभाव से ही गुणों का अन्तिम मूल्यांकन नहीं हो सकता।"

'दृष्टिकोण' —न० वि० शा०

अगरु की सुगन्ध !

शिवबालक राय

प्राचार्य, साहबगंज कॉलेज, साहबगंज, बिहार

[" *वे जिन्दगी भर विद्या और स्नेह की तिजारत करते रहे। दुष्ट आदमी नींद में भी डरता चलता है, छिपता फिरता है। शर्माजी जब सोते, गाढ़ी नींद में सोते थे। उनकी प्रसुप्त मुखमुद्रा पर शान्ति के चुम्बन अंकित रहते थे।*" प्राचार्य राय जी का यह अवलोकन उन्हें जिस निष्कर्ष पर लाया है, उसकी तात्त्विक पावनता से कौन मतभेद रख सकता है।]

मौत और बेकारी इन दोनों की भट्ठियाँ बराबर हैं। फर्क सिर्फ इतना, कि पहली धधक कर और दूसरी फूँक-फूँक कर जलाती है। पहली भट्ठी की आग है और दूसरी लुहार की भाथी। महीनों बेकारी के मजे लूटता हुआ, अन्त में मैं, जैन कॉलेज आरा के हिन्दी-विभाग में दाखिल हो गया। इसके पहले वहाँ चालीस रुपये माहवार पर कुछ दिनों तक लाइब्रेरियन का भी काम कर चुका था। भगवान् बुद्ध की तरह, अप्रत्याशित और अनाहूत, मित्रों के यहाँ जलपान करते रहने के कारण मैं तुरत लोकप्रिय हो गया।

प्रो० नलिन विलोचन शर्माजी से, जो उन दिनों (१६४४ ई० में) वहाँ संस्कृत-विभाग में कार्य कर रहे थे, मेरी घनिष्ठता बढ़ती गई। वे कॉलेज में सिगरेट पिलाने और घर पर मिठाई खिलाने में बहुत यश कमा रहे थे। स्टाफ-रूम में सामने बैठे हुए मित्रों को पहले वे सिगरेट ऑफर कर लेते तब अपने पीते। मुफ्त की चीज, शर्माजी का स्नेह और धूम्रपान के प्रति पुरातन प्रीति, इनके चलते मैं एकाध सिगरेट रोज चलाने लगा। एक सिगरेट को दो-तीन बार बुझाकर पीनेवाले एक अर्थशास्त्री महापुरुष को भी मैं जानता हूँ। उनकी इस मितव्ययिता पर मुझे हँसी आती थी! लेकिन शर्माजी! क्लास जाने की घंटी बज गई तो दो-एक कश लगाकर ही समूची सिगरेट को सड़क पर फेंक देते थे। सिगरेट और पैसे दोनों उनकी जेब में ठहर नहीं पाते थे। स्वभाव के उदार और ।न के इस गंभीर व्यक्तित्व से मैं स्वभावतः बहुत घुल-मिल गया था। शर्माजी को मैं बहुत प्यार करने लगा था, लेकिन एक दिन ऐसा आया कि उनसे मैं बेहद डरने भी लगा।

एक दिन की बात है। स्टाफ-रूम में उन्होंने कहा कि भाई, संस्कृत-विभाग को छोड़कर मैं हिन्दी में आना चाहता हूँ। हिन्दी-साहित्य के अध्यापन में मुझे अधिक आनन्द मिलता है। हिन्दी-विभाग में उनके अन्दर प्रवेश का अर्थ था मेरा सीधा बाहर निकलना। सो पुनः बेकारी की कल्पना कर मैं अधपागल-सा हो गया। कॉलेज के अधिकारियों पर शर्माजी की विद्वत्ता और शील का इतना पावन प्रभाव था कि उनकी किसी भी इच्छा का सहर्ष सम्मान कर सकते थे। अल्हड़ के पेट बात और बिल्ली के पेट घी नहीं पचता। इधर-उधर करने से कोई लाभ होता न देख, मैं आँख मूँद कर शर्माजी की शरण में चला गया। कहा, "शर्माजी, आप रख लीजिए, नहीं तो मैं कहीं का न रहूँगा।" वे कुछ देर मौन रहे, बिल्कुल मौन। मेरी छाती धड़कने लगी। कुछ क्षणों के बाद वे धीरे से बोले—"यदि ऐसी बात है तो मैं संस्कृत में ही रहूँगा। आप उदास मत रहिए। सिगरेट से तो आप शौक···" सोचता हूँ यदि शर्माजी महामना न होते तो आज मैं कहाँ का रहता!

बचपन में सुना था कि आरे जिला कहता है, आ रे, आ रे, और पटना कहता है, पटे ना, पटे ना। शर्माजी आरा से पटना चले आए। पटना राजधानी है। राजधानी में प्रान्त भर के मक्खन निवास करते हैं। मक्खन को देखकर मक्खियाँ दौड़ आती हैं। विद्या और अविद्या के खेल बड़े नगरों में बड़े पैमाने पर देखने को मिलते हैं।

इनके अध्ययन-अध्यापन और साहित्य-सेवा का क्षेत्र पटने में आकर काफी बढ़ गया। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, साहित्य पत्रिका, सर्वभाषा महाविद्यालय

आदि से इनका गहरा सम्पर्क रहने लगा। पटना विश्वविद्यालय में अध्यापन के सिवा शोध-कार्य का सिलसिला खूब जमता गया। हिन्दी के अनेकों प्राध्यापक और छात्र अपने शोध-कार्य में शर्माजी से भरपूर सहायता पाने लगे। अपने विभाग के दो-एक मित्रों को लेकर एक दिन मैं उनकी सेवा में पहुँचा। उन्होंने कुछ देर विचार-विमर्श के उपरान्त तुरत सिनोप्सिस तैयार कर दी, शोध के लिए अंगरेजी-हिन्दी की कई पुस्तकों की सूची लिखा दी। उनसे सम्यक् निर्देशन पाकर हम सभी खुशी-खुशी अपने शोध-कार्य में जुट गए। हिंदी-जगत् के मूर्धन्य साहित्यकार उनके निवास पर स्नेहवश पधारते ही रहते थे। अध्यापन के बाद जो समय बचता, वह कविता, कहानी निबन्ध और स्वाध्याय में व्यतीत होता। शर्माजी के जीवन का प्रत्येक क्षण साहित्यमय हो गया था। वे साहित्य-देवता हो गए थे। साहित्य-देवता के मन्दिर में सतत अगरु की सुगन्ध उड़ा करती थी। नाना जंजालों के बीच भी उनकी साहित्य-साधना का दीप सदा जलता रहा। भोग के बीच योग की साधना करनेवाले इस विदेह से ज्ञान पाने के लिए कितने नवोदित साहित्यिक तरसते रहते थे! अब वे सदा तरसते ही रहेंगे।

साहित्य-चर्चा से आती हुई नींद शिकायत से दूर भागती है। वह चाय की तरह दिमाग में ताजगी लाती है। अपने सहयोगियों की शिकायत करने और सुनने की मेरी कुछ आदत-सी हो गई है। और इसमें, खुदा जाने क्यों, गजब का जायका भी मिलता है। शर्माजी के डेरे पर, आदत से लाचार रहने के कारण, कुछ सहयोगियों या कवियों की मैं शिकायत शुरू कर देता। मुझे याद है, हमेशा याद रहेगी, कि पर-निंदा-प्रसंग को शर्माजी बराबर टाल दिया करते थे और मित्र-स्तुति के अध्याय को खोल देते थे। तुलसीबाबा ने पर-निन्दा करनेवाले को चमगादड़ होकर अवतरने के लिए कहा है। शर्माजी के घर में कोई चमगादड़ टिक नहीं सकता था। वे हमेशा रोशनी में बैठते थे। उनका मकान पहाड़ पर बना था। उनके घर की छत बड़ी ऊँची थी। घर की खिड़कियाँ आमने-सामने खुली रहती थीं। बाजार में घटिया माल उनने कभी मुलाया नहीं। वे जिन्दगी भर विद्या और स्नेह की तिजारत करते रहे। दुष्ट आदमी नींद में भी डरता चलता है, छिपता फिरता है। शर्माजी जब सोते, गाढ़ी नींद में सोते थे। उनकी प्रसुप्त मुख-मुद्रा पर शान्ति के चुम्बन अंकित रहते थे।

शर्माजी में सात्विक श्रद्धा और भक्ति रखनेवाले उनके एक मित्र प्रो० जगदीश पांडेयजी हैं। शर्माजी के श्राद्ध के अवसर पर पाण्डेयजी को जब मैंने देखा तो अवाक् रह गया। घण्टों बतियानेवाले पाण्डेयजी से उस दिन मुझे एक शब्द भी नहीं बोलते

बना। पता नहीं, पाण्डेयजी की तरह उनके कितने मित्र विषादमग्न हो गए हैं। दिनकरजी ने एक शोक-सभा में कहा था कि शर्माजी के उठ जाने से लगता है कि हममें से किसी का भाई उठ गया, किसी का मित्र चल बसा, किसी का अपना सगा बिछुड़ गया। बात सही है। शर्माजी सभी मित्रों के मन में, और सभी मित्र शर्माजी के मन में घर कर गए थे। अपनेपन का यह मठा भाव इल्म के कारण कम, मुहब्बत के कारण ज्यादा पसरता है।

पिछले साल तुलसी-जयन्ती के अवसर पर शर्माजी साहिबगंज महाविद्यालय पधारे हुए थे। स्नेह के धागे में बँधकर वे कहाँ नहीं जाते थे। उस सभा में परिचय देते हुए मैंने कहा था, कि शर्माजी का जैसा रूप भव्य है, वैसी ही उनकी बुद्धि तीक्ष्ण है। जैसी बुद्धि तीक्ष्ण है, शास्त्रों का अध्ययन भी वैसा ही प्रौढ़ है। कालिदास ने राजा दिलीप के लिए जो कुछ कहा है, हमारे शर्माजी में वह सब चरितार्थ होता है :—

आकार सदृश प्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ, आरम्भ सदृशोदयः।।

राजा दिलीप ने दिग्विजय करके वृद्धावस्था के बाद संन्यास लिया था। अपने मित्रों पर विजय पाने के बाद शर्माजी ने युवावस्था में ही क्यों संन्यास ले लिया ???

✣

निर्मल-हृदय मित्र

श्रीधर वासुदेव सोहनी

आयुक्त, पटना-प्रमंडल पटना

[श्री सोहनी आई० सी० एस० की तेजस्वी, तीक्ष्ण तथा विद्वत्तापूर्ण निगाहों से ये विशेषताएँ प्रकाश पाए बिना कैसे रह सकती थीं—*"विद्या और विनय का संयोग होना चाहिए और श्रीशारदा के प्रत्येक उपासक को नम्रता का आश्रय करके ही अपना व्यवहार करना चाहिए। इन दो गुणों के नलिनजी मूर्त्तिमन्त उदाहरण थे।"*]

आचार्य नलिन विलोचन शर्माजी से मेरा परिचय १६४६ में हुआ। व्यवसाय एक होने के कारण, पं० रामावतार शर्मा के जामाता श्री राधेश्याम ओझा मेरे परम मित्र थे। उनके अकालीन और अत्यन्त शोचनीय निधन के पश्चात्, उनकी कौटुम्बिक व्यवस्थाओं के बारे में चर्चा करने के लिये मेरा नलिनजी से प्रथम साक्षात्कार १६४६ में हुआ था। तबसे उनका प्रेम और कृपा पाने का मुझे सौभाग्य मिला था।

इस बारह साल की अवधि में, मैंने कई बार उनकी साहित्यविषयक सेवा, कभी दूर से और कभी समीपवर्ती होकर, देखी। राष्ट्रभाषा की शब्दसंपदा किस प्रकार बढ़ सकती है इसका वे बारम्बार चिंतन करते थे। संस्कृत-साहित्य पर उनका पूरा अधिकार था।

संस्कृत और हिन्दी के उत्तमोत्तम ग्रन्थों को पढ़ने में उनको अभिरुचि थी, और ऐसे ग्रन्थों का निजी संग्रह करने में वे बहुत प्रयत्नशील थे। मित्रों को अपनी पुस्तकें देना, विविध प्रश्नों पर चर्चा करना और काव्यशास्त्र-विनोद करना उनके दैनिक जीवन का एक प्रमुख अंग था।

उनके साथ बातचीत करते हुए मेरे मन पर अनेक अच्छे संस्कार हुए। एक तो यह था कि राष्ट्रभाषा में किसी विकट विषय पर बालबोध तरीके से अपना आशय प्रकट करना और सो भी सुन्दर शब्दों में, यह कला प्राप्त करना प्रत्येक सुशिक्षित हिन्दी भाषिक का कर्त्तव्य है। और दूसरा यह था कि विद्या और विनय का संयोग होना चाहिए। और श्रीशारदा के प्रत्येक उपासक को नम्रता का आश्रय करके ही अपना व्यवहार करना चाहिए। इन दो गुणों के नलिनजी मूर्त्तिमन्त उदाहरण थे।

एक प्रसंग का स्मरण करते हुए मेरा मन विह्वल होता है। नलिनजी के आग्रह से मैंने उनके विद्यार्थियों के सामने 'मेघदूत' के बारे में एक नया दृष्टिकोण स्थापित करने की चेष्टा की थी। समारोह समाप्त होने के बाद, नलिनजी ने मुझे अलग लेकर यह बतलाया कि इस दृष्टिकोण पर अधिक विचार होना चाहिये, क्योंकि मेघदूत के श्लोकों की पंक्तियों पर उससे पर्याप्त प्रकाश मिलता है और कालिदासीय साहित्य के रसिकों को उससे स्थायी लाभ होगा। उस समय यह भी तय हुआ था कि इस सम्बन्ध में मेरी एक व्याख्यानमाला होगी। नलिनजी अपने मित्रों को सदा ही प्रोत्साहित करते थे। उनके इस गुण का यह एक उदाहरण था।

परन्तु, ईश्वर की इच्छा दूसरी ही रही। व्याख्यानमाला के सम्बन्ध में अधिक बातचीत नहीं हो सकी, और उनकी ज्योति परमात्मा में विलीन हो गई।

मैं सम्पादक महोदय का आभार मानता हूँ कि उन्होंने मुझे नलिनजी ऐसे एक प्रकाण्ड पण्डित को, अभिजात रसिक को, सरल और निर्मल हृदय के मित्र को और राष्ट्रभाषा के एक निस्सीम सेवक को श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने का मौका दिया।

✠

लोहा के मोम

श्रीनिवास

ए—३ बन्दर बागीचा, पटना—१

[हृद्-रोगों के भारत-प्रसिद्ध विशेषज्ञ डॉ० श्री निवास नलिनजी के चिकित्सक ही नहीं, बल्कि उनके परम प्रिय प्रशंसक मित्र भी हैं। वैज्ञानिक का मस्तिष्क और कलाकार का हृदय पाकर उन्हीं की लेखनी यह कह सकती थी कि—*"सरल स्वभाव-नलिनजी में कमी थी तो बस एक ही—वह "न" के न बन सके !*

—उनकी याद आती है तो अपनी जिन्दगी से मोह टूटने लगता है।"]

☀ ☀ ☀

गर्मी की शाम। ऊमस। मेरा बंगला। सरकारी नेकनीयत मितव्ययिता का सबूत!

कुम्भ में प्रयाग जानेवाले यात्रियों की 'जनता' जो सीटी देकर बीड़ी से उलझे हुए गार्ड साहब की प्रतीक्षा में त्रस्त, सरसैर कर सहम गई।

रामरीझन ठाकुर कम्पाउण्डर ने मरीजों के नाम और उनके मुत्तलिक जरूरी कागजात क्रम के साथ लगाकर रख दिये। कागजों का यह ढेर रोज़ बनता है—मरीजों की बदौलत। रोज मिटता है—बीमार, तीमारदार, डॉक्टर और कम्पाउण्डर के सहयोग से। रोज शाम को जब इस कागजों के ढेर के पास बैठता हूँ तो सोचता हूँ कितना पावन काम है मेरा! स्निग्ध कागजों का यह तुङ्ग! डॉक्टर-मरीज के सामूहिक प्रयत्न से अनवरत बहती हुई यह धवल धारा। धनवन्तरि, चरक और जीवक सभी ने तो इसके पवित्र कूल पर तपस्या की होगी। प्रकृति की मूक सृष्टियाँ वन-प्रान्तर में उपज कर जैसे पहेलियाँ बन गई हों। हमसे बढ़कर कौन है जो उनके साथ गहरा तारतम्य स्थापित कर सके! अँधेरी रात में जब थक कर चोर-उचक्के भी ऊँघ गये हों, बियाबान खँडहर में छिपकर नाग अपनी मणि रख जाता है हमको दिखा कर। जङ्गलों में काँटे और झाड़ियों की ओट से हँसकर मुँह चिढ़ाकर, सर्प-गन्धा पूछती है—"जानते हो, मेरी मुट्ठी में क्या है?" राजगृह में बिम्बिसार के राज्यवैद्य जीवक ने देश-विदेश से लाकर औषधियों के पेड़ रोपे थे। न जाने क्यों उस तथा-कथित सृष्टि के लिए मेरा दिल बेचैन हो उठता है। न जाने क्यों सोचता हूँ मेरा एक छोटा-सा खजाना सरकार का वन-विभाग दिन-दहाड़े लुट रहा है। किसी चट्टान की ओट में कोई अभी तक भी अपनी जान बचा पाया होगा। रात में किसी बीहड़ बीमारी से उलझकर चिन्ता-ग्रस्त मेरी आत्मा तकिये पर बेचैन छटपटा जाती है तो सुदूर जंगलों से कोई मुझे पुकारता है। और एक कसक भरी आवाज में कह जाता है—"काश! तुमने हमारे गुणों को जानने की कोशिश की होती!" अन्वेषण और अनुसन्धान। चुनौती देकर बीमारियाँ लोगों का सुख हरती रहती हैं। और जब कोई हीरा आदमी संसार से इसलिए चला जाता है कि उसकी बीमारी "असाध्य" थी, तो डॉक्टर के दिल में एक गहरा घाव बन जाता है, एक टीस घर कर जाती है। और तब वनों से आती हुई वह आवाज इतना मर्माहत बना जाती है कि क्या बताया जाय! मन चिढ़ जाता है समाज की ऐसी उपेक्षा पर। तबीयत करती है कि डॉक्टरी छोड़ दी जाय! नौकरी मोड़ दी जाय।

"फट गया हो तला जिसकावह सजीली टोकरी है।
छूटती भी नहीं तीखी मिर्च-सी यह नौकरी है।"

एक दिन की बात है। अभी दो-तीन मरीजों की ही जाँच कर पाय था कि ऑफिस का पर्दा हटा कर श्री वक्रतुण्डजी ने झाँका। परीक्षण-टेबुल पर एक महिला लेटी थीं।

कुर्सियों पर उनके रिश्तेदार बैठे थे। और कोई जगह भी खाली नहीं थी। क्रमानुसार रोगी बुलाए जा रहे थे। लेकिन वक्रतुण्डजी हृदय की असामयिक धड़कन की तरह आ धमके—अकस्मात्! आयोजित निमन्त्रण के पहले ही। लेटी हुई महिला का एकान्त भंग कर चुके थे। नियम तोड़ बैठे थे। झाँक कर सन्तोष नहीं हुआ तो अन्दर दाखिल भी हो गये।

महिला के रिश्तेदारों ने उन्हें देखा, रोष के साथ। मैंने आश्चर्य के साथ। कम्पाउण्डर उनके पीछे घबड़ाकर आ पहुँचा, आजिज़ी के साथ। लेकिन श्री वक्रतुण्डजी ऐसे निकले कि उन्होंने किसी की भी परवाह न की। बोले—"हमलोगों को भी ठहरना पड़ेगा डॉक्टर साहब? और कुर्सी खाली नहीं रहने की वजह से कमरे के केन्द्र में खड़े हो गये—गार्जियन की तरह।

उनकी हरकत से हिम्मत बाँध दो-चार चतुर दरवाजे पर आ पड़े—जैसे तशखीश पर बखशीश या भोजन पर भाषण।

श्री नलिनजी ऐसे लोगों से कितने भिन्न थे! कितने विश्वास के साथ, कितनी आदर श्रद्धा, प्रेम और मित्रता की भावनाओं से ओत-प्रोत होकर आते थे मिलने! कितने भले इन्सान! मनुष्यता की महानता देखनी हो, उसकी कूवत आँकनी हो, उसकी पवित्रता और सहृदयता परखनी हो, उसका भोलापन, उसकी असीमित बुद्धि, उसकी निश्छल आत्मा से मिलना हो तो कोई डॉक्टर बन कर देखे। मनुष्य भी कितना नियंत्रित और कितना जटिल गहन सृष्टि है!

लब्धप्रतिष्ठ स्वर्गीय श्री नलिनजी एक ऐसे मरीज़ थे जिन्होंने अपनी धुन के पीछे अपनी काया की सुधि नहीं ली। मेरे क्लिनिक में जब भी आये, कैसी भी भीड़ रही हो, कितनी भी ऊमस की गर्मी हो, अपना क्रम नहीं तोड़ा! अपनी बातें कहीं भी तो मुख्तसर में। इतने महान् थे, इतनी प्रसिद्धि पाई थी, इतने गौरवपूर्ण थे, इतने ज्ञानी थे कि उनकी नम्रता और सभ्यता और उनकी दोस्त-परस्ती कभी-कभी आश्चर्यित कर जाती थी। लम्बा, सुघर शरीर पाया था। जगत्-विख्यात गुणी पिता की योग्य सन्तान थे। कमी क्या थी!

रूप-यौवन-सम्पन्ना विशाल-कुल-सम्भवा।
एकैकमप्यनर्थाय किमयत्र चतुष्टयम्।"

लेकिन श्रीनलिनजी के साथ ये सब मिलकर भी अनर्थ नहीं कर पाये थे। उनका अपने ऊपर एक विचित्र नियन्त्रण था। साधना ऐसी थी कि योगियों के गुरु बन सकते थे। अपनी ओर से बेहद लापरवाह थे। उनकी रोशनी दूसरों को चकाचौंध कर देती

थी लेकिन जैसे उनको उसकी जानकारी भी न थी। उनके एक सम्बन्धी ने कहा—"६ महीने पहले उनकी नौकरी में तरक्की हुई थी, उनको यह भी मालूम न था! ऐसा अव्यावहारिक होता है कोई!" मैं सुनकर सोचने लगा था—"व्यावहारिकता"। यह सचमुच एक बला है। इसकी आड़ में आत्माओं का हनन होता है। इन्सानियत दबोची जाती है, मानस को जकड़ा जाता है। "व्यावहारिकता" उन लोगों के लिए है जो लकीर के फकीर हैं। श्री नलिनजी ऐसे प्राणी थे जो नवीन रास्ता बनाने में संलग्न रहते हैं—जो पहाड़ों को काटकर और घोर जङ्गलों को छाँटकर बनाया गया होता है।

वह क्या "व्यावहारिक" हो सकता है?

"शहर को अन्धेरा कर, हवाई जहाज से
मिनिस्टर चले गये।
जनता से एम० एल० ए०-सा पीछे-पीछे
यह शुक्रतारा जा रहा है।"

श्री नलिनजी ऐसे "शुक्रतारा" नहीं थे।

अपने ओजस्वी, लम्बे और सुदृढ़ शरीर के बूते मानव को दबोच कर और अपने प्रज्वलित ज्ञान की आग से उनको खाल को झुलसाकर अगर वे चाहते तो खुशी से दहाड़ सकते थे—

"कालोऽहम् भय-त्रस्त पार्थ नर
भीषण दाढ़-दाढ़ पिसते हैं,
प्रलय-बिज्जु आँखों में मेरी
आग लहकती घोर मुखों में
सौ-सौ पेट हजार शीश हैं
मील-मील भर भुजा पसारे
दस दिगन्त में तन है······"

लेकिन नहीं, वे लोहा के मोम थे, बट की छाँह थे और विधि का विधान—बन्धु-पाश से परास्त झंझावात।

एक दिन श्री नलिनजी उपहार-स्वरूप तीन किताबें दे गये। प्रथम पृष्ठ पर उन्हीं के अक्षरों में लिखा था—"अपने मसीहा डॉ०······को सप्रेम। —नलिन।"

हजार मिन्नत करने पर भी फीस के रुपये देना नहीं छोड़ते थे। क्या मुसीबत थी! अगर फीस नहीं लेता तो उनके चेहरे पर उदासी छा जाती थी। अगर फीस लेनी पड़ती तो सच कहता हूँ दिल कोसने लगता था। पेशोपेश में पड़ जाता था। और वे एक

लिफाफे में नोट बन्द कर इस तरह रख जाते जैसे किसी कृतज्ञता के भार से दब गये हों। यह सब मुझे व्याकुल कर देता था। डॉक्टर और मरीज़ के बीच बहनेवाली पावन-गङ्गा में, जैसे किसी ने पुल बाँधने के लिए ही सही, एक बड़ी-सी चट्टान पटक दी हो। यह डॉक्टर की फीस भी क्या बला है—जैसे कोमल चेहरे पर रोडेन्ट अल्सर, जैसे आइस-क्रीम में टाइफॉयड के कीटाणु। "फीस" डॉक्टर और मरीज़ के बीच वह काली-कलूटी दवार है जिसे समाज के फरेब ने निर्दयता के साथ खड़ा किया है।

"उसे चाहिये खुली हवा
फल, दूध, औ' दवा, कहता डॉक्टर!—और ले लेता अपनी फीस।
वह खाँस रही है
मरणोन्मुख उसकी जान
धीरे-धीरे यक्ष्मा से
करती पहचान।······"

नहीं, नहीं, हम ऐसे हृदयहीन नहीं हैं।

"चिड़ियों में भी उल्लू होते हैं"······
"या, फिर, बदकिस्मती मेरी ही
तरह, जो रात में जगना
पड़ता, क्योंकि दवा लानी है,
घर में रोगी है मरणासन्न!"

देहावसान के एक दिन पहले तक वह इतने अच्छे हो चले थे कि अपना सब काम-काज करने लगे थे। डॉक्टरी कारणों से जो सीमाएँ बाँधी गई थीं उन्हें बहुत कुछ निबाहते चले आये थे। खान-पान बदला था, वजन घटाया था, सिगरेट में काफी कमी की थी, जीवन में नियमितता लाने की चेष्टा भी करते ही थे। मेहरबान जमघटों से आँख बचा कर कुछ आराम कर लेने को राजी भी हुए थे। उनका स्वास्थ्य इतना काफी सुधर गया था कि संयम के किनारों की अवहेलना होने की सम्भावना उपस्थित होती रहती थी।

सरल-स्वभाव श्री नलिनजी में कमी थी तो बस एक ही—वह "न" के न बन सके!

अकस्मात् १२ सितम्बर को बिजली टूट पड़ी। बनी-बनाई बात बिगड़ गई। कहीं से अन्त आ धमका।

यह जिन्दगी भी कैसी खिलवाड़ है!

हीरे-मोती का अम्बर, मिट्टी में मिलनेमात्र के लिये! स्पुतनिक, जलने भर के लिये!

हाय रे मनुष्य की कञ्चन-काया !

सजग सेल्स, सक्रिय कोष्ठों, गहन खानों को जोड़-जोड़ कर गढ़ी गई है यह—जैसे ईंट की दीवार। हर एक कोष्ठ में क्रोमोसोम्स भरे गये हैं—जैसे अल्पना के रंग, जैसे शतरंज के डिब्बे में सजाये हुए मुहरे। और असंख्य बिन्दुओं से मण्डित है प्रत्येक क्रोमोसोम—जैसे तारों भरा आकाश, जैसे शबनम से सजी हरीतिमा। और इन बिन्दुओं में चन्दन के टीके भी हैं और काजल के धब्बे भी। इन्हीं पर आधारित है मनुष्य का गौड़-व्यक्तित्व—जैसे अट्टालिका की नींव में बालू के कण।

प्रकृति इन्हीं मुहरों से जिन्दगी के खेल खेलती है। पासा ठीक बैठा तो हुजूर के किले में "बृहस्पति" का उदय हुआ, वर्ना आपके रंगमहल में "राजाजी" जनमे या तुम्हारे घर में "बौआजी" की पैदाइश हुई या तेरी झोपड़ी में एक बदबख्त चिल्ल-पों करता हुआ आ टपका।

"सोना", "चाँदी", "लोहा", "मिट्टी", इनसे जो चाहिये बनाइये। इनके ऊपर सरकारी जादू चलाइये या सामाजिक टोना। प्राकृतिक उलझनों को अपनी तरह सुलझाइये। वरदान में खोट मिलाइये। अपनी टकसाल में मुण्डन कीजिये, गंजा बनाइये। "राजाजी" से राख रखवाइये, "पण्डितजी" से पाँव पड़वाइये। कसाईजी को कन्धों पर बिठाकर ढोया कीजिये। महात्माजी को गोली मारिये।

क्रोमोसोम्स हक्के-बक्के खड़े आपकी हरकतों से हैरान होंगे, या अपनी ही चालाक करतूत पर गाजेंगे।

या देवी सर्वभूतेषु माया रूपेण संस्थिता,
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः।

उनकी याद आती है तो अपनी जिन्दगी से मोह टूटने लगता है।—

"जो कुछ भी हम जान सके हैं यहाँ देह या मन से,
यह स्थिर नहीं, सभी अटकल-अनुमान-सदृश लगता है।
अतः किसी भी भाँति आप अपनी सीमा लंघित कर
अन्तरस्थ उस दूर देश में हम सब को जाना है
जहाँ न उठते प्रश्न, न कोई शंका ही जगती है।"

स्वर्गवासी श्री नलिनजी ने हिन्दी-समाज के प्रति बड़ी निष्ठुरता की कि चले गये। जिस दिन उनका देहावसान हुआ उनके भव्य तथा प्रशस्त भाल पर कैसा इतमीनान, कैसी शान्ति थी !

✠

तत्रभवान् आचार्य नलिनजी

श्रीरञ्जन सूरिदेव
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—६

सम्पादक के रूप में उनके सहकारी श्रीरंजनजी ने उन्हें जैसा पाया, वैसा पाना क्या बहुत सहल है?—*"आचार्य नलिनजी अपने सम्पादन-कार्य में किसी का अंकुश सहन करने को विवश नहीं होते थे। अपनी सम्पादन-नीति की अनुकूलता के निर्वाह में वे कभी बेपरवाह नहीं होते थे।"*]

तत्रभवान् आचार्य नलिनजी की मृत्यु हो गई, इस बात की पुनरावृत्ति-मात्र से ही हृदय को एक जोरों का धक्का लगता है, भरता हुआ घाव जैसे छिल जाता है और नस-नस रिसने लगती है।

मैं जब (सन् १९५०-५१ ई०) पटना के पार्श्ववर्त्ती मसौढ़ी थाने के वीर-ओइयारा हाई स्कूल में संस्कृत का प्रधान अध्यापक था, तब से आज तक का मेरा जो जीवनोत्कर्ष हुआ है, उसके रेशे-रेशे में आचार्य नलिनजी का स्नेह और आशीर्वाद घुला हुआ है, किन्तु अब मैं उनके उस स्नेहाशीः से वंचित हो गया, यह सोचकर विचलित हो उठता हूँ। लगता है, जैसे मैं लहरों पर आनन्द से तैर रहा था और अचानक आवर्त्त में पड़ कर अकबका गया हूँ। मेरा किंकर्त्तव्यविमूढ़ मन हतप्रभ और हतज्ञान-सा हो गया है।

आचार्य नलिनजी के संपर्क में आकर मैंने बराबर ही कुछ पाया, खोया कभी नहीं। उनका व्यक्तित्व इतना उदार और सौम्य था, उनमें इतनी सुजनता और महत्ता थी कि उन्होंने मुझे आप्यायित कर दिया था आत्मीयता से ओतप्रोत कर—उपनेय बनाकर। वे मेरे मधुर अनुशासक, आदेशक और निदेशक थे। उनका आदेश मुझे निरन्तर गौरवान्वित और कृतकृत्य किये रहता था। उनका निदेश मुझे सांस्कृतिक निर्धनता से बचाये रखता था। उनके अनुशासन ने मुझे कभी उद्दण्ड और दम्भी होने का दुरवसर नहीं दिया। उन्होंने मेरी दिग्भ्रान्तता को एक राह सुझाई थी और गुमराह होने से मुझे सदा सचेत किया था।

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्यालय के संचालन के निमित्त मैं सन् १६५२ ई० के मार्च में पटना बुलाया गया था। उस समय आचार्य नलिनजी सम्मेलन के साहित्य-मन्त्री थे और सन् १६५६ ई० से आजीवन (१२ सितम्बर ६१ तक) प्रधानमन्त्री रहे। इस बीच (सन् १६५७ ई०) यद्यपि मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में एक सरकारी सेवक हो गया, तथापि मेरी सम्मेलन-सेवा पूर्ववत् अक्षुण्ण रही, और फिर आचार्य नलिनजी सम्मेलन और परिषद् दोनों जगह थे और दोनों के स्तम्भ-स्वरूप थे, इसलिए आचार्य नलिनजी के दुर्लभ आदेश की सुलभता मेरे लिए बराबर बरकरार रही।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अधीनस्थ होने पर भी कोई भी आचार्य नलिनजी के समक्ष अपने को संकुचित-सा अनुभव नहीं कर पाता था और न वे कभी किसी के व्यक्तित्व पर हावी होने की ही सोचते थे। वयः प्ररोहजटिल बरगद बनकर या गुरुडम की घन-घमण्डता लेकर वे कभी किसी को आतंकित या हीन कर देना जानते ही नहीं थे। उनकी भावना अपने पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती तथा समवर्त्ती साहित्यकारों तथा साहित्यकारेतरों के प्रति भी उत्कृष्ट आदर और विनम्र मैत्री की रहती थी। किसी के व्यक्तित्व की अवहेलना उनके स्वभाव के प्रतिकूल थी। इसलिए, जो भी उनके यहाँ पहुँच जाता था, धन्य-धन्य होकर वापस आता था।

आचार्य नलिनजी के पिता महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा, जिनका यश और वैदुष्य भारतीय सीमा को पार कर गया था, के समय उनके निवास पर विद्वानों की जो उपनिषद् बैठती थी, वह औपनिषदिक परम्परा अपने पिता के योग्य पुत्र आचार्य नलिनजी के जीवन-काल तक अप्रतिहत रही। हिन्दी और हिन्दीतर सभी प्रकार के विद्वानों की मण्डली आचार्य नलिनजी को परिवेष्टित किये रहती थी। कहना न होगा कि उस समय उनकी शोभा तारों की मण्डली में तारानाथ की तरह होती थी।

आचार्य नलिनजी बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शोध-समीक्षा-प्रधान त्रैमासिक

मुखपत्र 'साहित्य' के प्रधान सम्पादक थे और वर्त्तमान प्रधान सम्पादक आचार्य शिवपूजन सहाय को वे 'मास्टर साहब' कहते थे तथा इन्हें प्रधान सम्पादक से भी ऊँचा स्थान देते थे। इन दोनों सम्पादक-धुरन्धरों ने मुझ अल्पज्ञ को अपना सहकारी बना लिया, यह इनके सौजन्य का ही ज्वलन्त उदाहरण है।

सन् १६५२ ई० से ही मैं आचार्य नलिनजी के साथ 'साहित्य' के सहकारी के रूप में काम करता आया, परन्तु उन्होंने मेरी अल्पज्ञता से होनेवाली कठिनाई या झल्लाहट का मुझे कभी आभास तक न होने दिया। बराबर वे मेरी प्रशंसा करते रहे और निरंतर प्रेरणा तथा प्रोत्साहन देते रहे। कभी उन्होंने मेरे साथ झल्लाहट या चिढ़कर बात नहीं की। मैं उन्हें अपने प्रति सदैव स्निग्ध, प्रसन्न और स्मेराननन ही पाया। इसलिए, मैं उनके प्राधान्य में बड़ी निर्भीकता के साथ काम करता रहा और मुझे अपने आप पर आस्थावान् होने का अवसर मिलता रहा। उन्होंने मेरी संवर्धना में जितनी बातें यत्र-तत्र लिखी या कही हैं, वे दूसरों के लिए भले ही अलभ्य और ईर्ष्य हों, किन्तु उन बातों से मेरी जिम्मेवारी बढ़ती चली गई और मुझे 'साहित्य' के सम्पादन या यथादेश अन्यान्य विषयों के सम्पादन-कार्य में सतत सतर्क और सचेष्ट रहने का अभ्यास साधना पड़ा। 'साहित्य' के सम्पादन से प्रूफ-संशोधन तथा लेखकों के पत्राचरण तक के प्रत्येक कार्य में पहले भी और अब भी आचार्य नलिनजी की शान्त-शीतल छाया अचेतन अवस्था में जैसे मेरे साथ लगी रहती है और यह उन्निद्रता बनी रहती है कि मेरा यह कार्य उनकी सांस्कृतिक निष्ठा के विपरीत तो नहीं हो रहा है।

आचार्य नलिनजी के सम्पादन-कार्य में साथ रहकर मैंने उनकी सम्पादन-निर्भीकता देखी है। एक सम्पादक को अपने कार्य में किस प्रकार निर्मम और निर्भय होना चाहिए, इसका सजीव उदाहरण आचार्य नलिनजी थे। विषय-निर्वाचन, सम्पादन तथा आलोचन की उनकी एक अपनी सर्वविशिष्ट (मास्टरपीस) शैली थी, जो न जाननेवालों को अखरती थी, और अभिज्ञों को आनन्द देती थी। उनकी वह शैली अद्यापि अद्वितीय है और सर्वकाल अद्वितीय ही रहेगी।

'साहित्य' के लिए आनेवाले लेखों के लेखक प्रायः सभी कोटि के रहते हैं। किन्तु आचार्य नलिनजी लेखक का तनिक भी खयाल न कर केवल लेख की उच्चकोटिकता के अधिक आग्रही रहते थे। तात्त्विक शोध की सामग्री से युक्त रचनाओं पर उनकी सम्पादकीय दृष्टि बड़ी तलस्पर्शी होती थी। अपनी गलती पर झुक जाना और सही पर हिमालय की तरह उद्ग्रीव और अचल रहना आचार्य नलिनजी की वास्तविक विद्वत्ता की अनुकरणीय गरिमा थी। 'साहित्य' के वर्ष १० के अंक १ में लिखी गई उनकी 'गच्छतः स्खलनं

क्वापि' शीर्षक एक टिप्पणी मेरी उक्त बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। टिप्पणी का अंश है :—'साहित्य' के पिछले अंक में मेरे प्रमाद के कारण कुछ ऐसे स्खलन हो गये हैं, जिनके लिए मैं लज्जित हूँ; विशेष रूप से श्री शिवपूजन सहाय ‡ की एक टिप्पणी (पृ० ५) में 'रुफान' शब्द के स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग के लिए मैं उत्तरदायी हूँ। 'रुफान' पुंलिंग है, न कि स्त्रीलिङ्ग। उन्होंने पुंलिंग ही लिखा भी था; मैंने प्रूफ-संशोधन के समय सन्देह होने पर प्रेस-कॉपी न देखकर, जैसा मुझे करना चाहिए था, 'रसाल' जी के हिन्दी-कोश की सहायता ली और 'अन्धेनैव नीयमानो यथान्धः' की गति हुई !"

चूँकि, 'साहित्य' त्रैमासिक पत्र है, इसलिए उसमें स्वीकृत लेखों के भी छपने में विलम्ब स्वाभाविक है, किन्तु कतिपय लेखक महोदय इसका ध्यान न रखकर बड़े आक्रोशपूर्ण पत्र लिख दिया करते हैं। किन्तु, आचार्य नलिनजी को इससे उतावला होते कभी नहीं देखा। इसके लिए उन्होंने एक मार्मिक, किन्तु निर्भीक सम्पादकीय-टिप्पणी ही " 'साहित्य' के कृपालु लेखकों से" शीर्षक द्वारा उपन्यस्त कर दी थी, जो ध्यातव्य है—

" 'साहित्य' के उदार लेखकों के हम अधमर्ण हैं। हम तो उन्हें पत्र-पुष्प भी देने की स्थिति में नहीं है; उल्टे उनके बहुमूल्य लेखों को बहुधा महीनों क्या वर्षों के बाद हम 'साहित्य' में प्रकाशित कर पाते हैं। अपने ऐसे विद्वान् लेखकों से तो हमें केवल यही कहना है कि वे 'साहित्य' पर कृपा-भाव बनाये रखें।

'साहित्य' में हम किसी भी लेखक की रचना का स्वागत करते हैं, बशर्ते कि वह पत्र के अनुरूप हो, किन्तु कुछ लेखक अन्यत्र प्रकाशित या प्रेषित रचनाएँ भेजकर हमें बड़ी कठिनाई में डाल देते हैं। ऐसे लेखकों से हम अनुरोध करेंगे कि वे 'साहित्य' को अपनी कृतियों से वंचित ही रहने दें। 'साहित्य' के लिए स्वीकृत रचनाएँ देर-सबेर अवश्य छपती हैं। इस पत्र के कृपालु लेखकों को विलम्ब के लिए तैयार होकर ही रचनाएँ भेजनी चाहिए—अपनी ओर से तो हमारा यही प्रयास रहता है कि कम-से-कम विलम्ब हो, किन्तु हमारी विवशताएँ भी तो हैं।"

आचार्य नलिनजी अपने सम्पादन-कार्य में किसी का अंकुश सहन करने को विवश नहीं होते थे। अपनी सम्पादन-नीति की अनुकूलता के निर्वाह में वे कभी बे-परवाह नहीं होते थे। 'साहित्य' में पुस्तकों की समीक्षा वे प्रायशः स्वयं करते थे। फलतः,

‡ आचार्य शिवपूजन सहायजी का विशेष निर्देश है कि 'साहित्य' में कहीं भी उनके नाम में 'आचार्य' न जोड़ा जाय, इसीलिए 'श्री' का प्रयोग किया है।—ले०

'साहित्य' पुस्तकों की समीक्षा का मानदंड उपस्थित करता था। तात्त्विक शोध की विशिष्टता से सम्पन्न एक लेख से ही 'साहित्य' के पूरे अंक को समाप्त कर देना उन्हें अधिक पसंद था, बनिस्बत अनावश्यक लेख-वैविध्य या विषय-बाहुल्य के। इस दृष्टि से निकले 'साहित्य' के कई अंक शोधक सुधी-समाज में प्रर्याप्त आदृत हुए। आचार्य नलिनजी तथा आचार्य शिवजी दोनों महानुभावों से 'साहित्य' को प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य की विचार-सरणियों का अपूर्व सामंजस्य प्राप्त था। दोनों सुधियों के सत्प्रयास से 'साहित्य' को अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा मिली है।

आचार्य शिवजी आचार्य नलिनजी को 'पण्डितजी' कहा करते थे और उनके नाम को 'आचार्य' से विभूषित कर लिखते थे। दोनों एक दूसरे के आदर करने में 'अहमहमिका' का भाव रखते थे। जिस दिन आचार्य नलिनजी का देहान्त हुआ था, आचार्य शिवजी फूट-फूट कर रोये थे और साश्रु कण्ठ कहा था—"आप क्यों उठ गये? उठना तो मुझे चाहिए था।' आचार्य शिवजी ने और भी बिलखते हुए कहा था—'यह हिन्दी इतनी अभागिन है कि इसको जो कोई सजाने-सँवारने आता है, उसी को खा जाती है।' आचार्य शिवजी का तात्पर्य भारतेन्दु और प्रसाद की तरह आचार्य नलिनजी के अकाल काल-कवलित होने से था। आज भी आचार्य शिवजी उनके बिना अपने को बड़ा अकेला अनुभव करते हैं।

किन्तु, आचार्य नलिनजी के ही जीवन-काल में मैंने कतिपय ऐसे व्यक्तियों को देखा, जो उन्हें 'आचार्य' मानने को तैयार नहीं थे और जिन्होंने अपने हाथों उनके नाम के आगे से 'आचार्य' शब्द को काटकर हटाया। परन्तु, आचार्य नलिनजी तो अजातशत्रु थ, जो उनसे अकारण मात्सर्य मोल ले लेते थे, उनके प्रति भी वे कदापि असहिष्णु नहीं होते थे।

मेरे कतिपय मित्रों ने मुझे उनके अन्धभक्त होने का लांछन लगाया, किन्तु मैंने यही खयाल किया कि उन मेरे मित्रों ने आचार्य नलिनजी को निकट से नहीं देखा, अन्यथा वे वैसी बात नहीं कहते। सचाई तो यह है कि जो विद्वान् आचार्य नलिनजी की बौद्धिक प्रतिभा से कायल नहीं होते थे, उन्हें उनकी विशाल मानवता से तो प्रभावित होना ही पड़ता था। रहस्य तो यह है कि आचार्य नलिनजी छोटे या बड़े प्रत्येक विद्वान् की विद्वत्ता की अपेक्षा और आदर करते थे, इसलिए वास्तविक विद्वान् उनसे कभी असन्तुष्ट नहीं होते थे। अब तो आचार्य नलिनजी जैसे विद्वान् प्रायः दुर्लभ हैं, जो नई पीढ़ी के साहित्यकारों के प्रणाम भी प्रसन्न मन से ग्रहण कर सकें। 'ते हि नो दिवसा गताः!'

✣

स्वधा तुभ्यम् !

श्रुतिदेव शास्त्री
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—६

[शास्त्रीजी निकट निरीक्षण द्वारा नलिनजी के एक निराले स्वभाव की ओर अपना प्रकाश-प्रक्षपण कर रहे हैं—"....*किन्तु जहाँ औचित्य की रेखा पार करके इनको धोखे में रखा जाता था, वहाँ वे इसके प्रकट होने पर यदि कुछ नहीं बोलते थे, तो भीतर से आरोषयुक्त अवश्य हो जाते थे, किन्तु शालीनता के साथ उस तितास को भी पी जाते थे।*"]

छह फीट की ऊँचाई। उन्नत ललाट की सीमारेखा-सी खिंची भ्रूयुगों के ऊपर उभरी बलियाँ। आँखों के कोयों में चिन्तन की धारियाँ। दोनों ओठों के पीछे छिपी स्मिति और गम्भीरता के अन्तराल में पड़ी "गोल्डफ्लेक" सिगरेट से अनवरत निकल रही धूम-मालाओं का शारद मेघ-खण्डों-सा झीना आवरण। कुर्ते के भीतर से झाँक रही शरीर की अप्यायित मांसलता। देह की पीवरता के साथ मिली विनयस्निग्धता की गुरु गरिमा से किंचित् आनम्र शरीर का पूर्वार्ध। और अभिन्न सखा की भाँति साथ लग चमड़े का अनुरूप बैग।

यह चित्र है कीर्त्ति-शेष मनस्वी श्री नलिन विलोचन शर्माजी का। उनके ओठों पर हँसते-से स्वागतिक वचन सबके लिए सदा प्रस्तुत रहते थे। उनके लिए अपरिचित परिचित-से, परिचित घनिष्ठ-से और घनिष्ठ अभिन्न-से रहते थे।

'अयं निजः परोवेति' यह लोकोक्ति उनके लिए सत्ताहीन थी। उनका सौम्य सुषम मानस 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनाहत नाद से आप्लावित रहता था।

अपरिचितों के साथ बात-चीत करने में भी उनकी बोली के साथ मन्द हास का पुट रहता था, किंतु घनिष्ठों के साथ संलाप-क्रम में कभी-कभी वे मुक्त हास भी किया करते थे किन्तु वह मुक्त हास भी अपनी परिधि को नहीं पार कर पाता था।

श्री नलिनजी व्यक्तिगत विचार और शिष्टाचार में जितने ही विनम्र और साधु थे, अपने अभिमत सिद्धान्त में उतने ही पक्के। अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में कभी-कभी वे भीतर से आरोषयुक्त भी हो जाते थे। एक बार की बात है कि वे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के वार्षिक अधिवेशन के समय हिन्दी-साहित्य पर निबन्ध-पाठ कर रहे थे। निबन्ध पढ़ने के बाद जब वे बैठे, तब उन्हीं के एक शिष्य ने, प्रो० प्रभाकर माचवे से, जो स्वयं निबन्ध-पाठकों में अन्यतम थे, विचार-विमर्श किया और श्री नलिनजी के निबन्ध में खामियों की चर्चा करते हुए कहा कि इसमें हिन्दी-साहित्य की सभी प्रवृत्तियों पर विचार नहीं किया गया है। श्री बच्चन जैसे अनेक महाकवियों का उल्लेख नहीं किया गया है। श्री नलिनजी ताड़ गए कि यह प्रश्न पटना का नहीं, दिल्ली का है। उन्होंने तुरत उठकर उत्तर देते हुए कहा कि 'मैं हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल की परम्परा में जिन प्रवृत्तियों को मानता हूँ उन्हें मैंने लिख दिया है, किन्तु जिन्हें नहीं मानता उनके विषय में कुछ कहना उपयुक्त नहीं समझता। बच्चनजी को मैं मूलतः कवि और एक प्रवृत्ति का आधायक नहीं मानता।' उस समय उनकी वाणी में सात्विक रोष की झलक दीखती थी। निबन्ध-पाठ के बाद वे फिर मुक्त-हृदय से ही श्री माचवे और दूसरे लोगों से मिले।

मेरा उनसे व्यक्तिगत सम्पर्क उनके परिषद् में शोध-निदेशक होकर आने के बाद ही हुआ। जाने कैसे उन्हें भान हो गया कि मैं भी कविता करता हूँ और गोष्ठियो में भाग लेता हूँ। यद्यपि कभी-कभी कविता अवश्य लिखता हूँ, किन्तु न तो गोष्ठियों में सुनाता और न कहीं प्रकाशित ही कराता हूँ। हाँ, तो परिषद् में आने के समय आरंभ में मुझे अपने साथ वे गोष्ठियों में चलने को प्रवृत्त करते थे और मैं कभी-कभी जाता भी था। किन्तु, वहाँ उन्हें यह जानकर निराशा हुई कि मैं कविता नहीं सुना सकता। वे अपने साथ और आसपास रहनेवालों को बढ़ावा देने के पक्षपाती थे।

कभी-कभी, जैसा कि प्रायः सभी बड़े लोगों के साथ होता है, इनके आसपास के कुछ लोग इनके नाम पर अपना उल्लू सीधा कर लिया करते थे और वे जानकर भी शालीनता के कारण कुछ नहीं बोलते थे। जहाँ तक औचित्य की सीमा-रेखा के अन्दर स्वार्थ-साधन की बात है वहाँ तक तो क्षम्य है, किन्तु, जहाँ औचित्य की रेखा पार करके इनको धोखे में रखा जाता था, वहाँ वे इसके प्रकट होने पर यदि कुछ नहीं बोलते थे तो भीतर

से आरोप-युक्त अवश्य हो जाते थे किन्तु, शालीनता के साथ उस तितास को भी पी जाते थे। हाँ, उसकी घुटन बनी रहती थी, जिसका आभास कम लोगों को ही मिलता था।

१२ सितंबर को अभी हम सभी कार्यालय में प्रतीक्षा कर रहे थे कि श्री नलिनजी ३ बजे तक यहाँ आयेंगे। इसलिए श्री राधावल्लभ शर्मा ने कहा था कि हमलोग जरा पहले ही चाय पी आवें। जैसे ही चाय पीकर हमने शरीफ़ मंजिल के प्रांगण में पैर रखे थे कि पुस्तकालय के बाहर लोग विषण्ण खड़े दीखे और श्री परमानन्द पाण्डेय जी ने कहा, 'शास्त्रीजी, गजब हो गया! अघटित घटना घट गई!' हमारे तो होश उड़ गए! हम सभी भौंचक-से स्तब्ध खड़े हो गए। उन्होंने कहा—'श्री नलिनजी अब नहीं रहे! अकस्मात् दो बजे हृदय की गति रुक गई!'

यह अनभ्र वज्रपात! हम भागे-भागे एक्जिबीशन रोड गये। वहाँ तबतक कुछ व्यक्ति आ पहुँचे थे। जाकर अन्तिम दर्शन किये। मुख पर वही सौम्यता, वही गम्भीरता और वही सुप्त ओज। ओठ कुछ खुले हुए, मानो, श्वास लेने में संभवतः कष्ट होने के कारण अपने आप खुल गए हों, या अपना अन्तिम संदेश कहने के लिए खुल रहे हों। सभी की आँखों में आँसू और मुख पर विषाद की रेखायें। किन्तु उनकी आकृति पर स्थितप्रज्ञता की-सी स्थिरता और नश्वरता का उपहास-सा अंकित था!

हमारे श्रद्धेय नलिन जी! हमारे धुरि-कीर्तनीय विचक्षण! आपका अनास्थेय भौतिक पिण्ड भस्मसात् हो गया! अब वह हँसता-सा गंभीर शरीर हमारे सामने नहीं आ सकेगा, किन्तु आपका यशःशरीर अनेकविध नवीन शब्दों और भावों की पच्चीकारी से चमत्कृत साहित्य-रथ पर चढ़कर सदा हमारे सामने विद्यमान रहेगा! आप्तवाक्, श्रद्धा की निवापाञ्जलि के साथ 'तुभ्यं स्वधा!'

[···वेश्या को अपने शरीर पर विश्वास रहता था। इन्हें आत्मविश्वास रहता है। आत्मा ने देह को दबोच लिया।

(अप्रकाशित)— —न० वि० श०

प्रेरणा-पुंज

सत्यदेव शांतिप्रिय

लोहानीपुर, पटना—३

["साहित्य के नवीन युग-पथ पर नलिनजी की संस्मृति गहरी, भास्वर और लक्ष्यनिष्ठ रहेगी। इस मार्ग के हर फूल पर उनके चरणों के चिह्न और हर शूल पर उनके रक्त का रंग है।" सत्यदेवजी का यह सत्यान्वेषण अपनी घोषणा की पृष्ठभूमि में तर्क और श्रद्धा दोनों का सन्तुलन रखता है।"]

एक पूरी परम्परा—जो अपनी शक्ति और धारणा के प्रकाश में अपना प्रतियोगी नहीं रखती थी, हमारे लिए कुछ दिन ही हुए, पुरानी हो गई। नलिनजी हमारे बीच नहीं रहे। श्रद्धा और विचारणा का कोई आश्लिष्ट तर्पण हम कैसे दें? इस परिव्याप्त शोक और रिक्तता के सम्बन्ध में कुछ भी हठात् कह देना, लगता है, कथन का अधर्म होगा। शीघ्रता में हम जो कुछ कहेंगे—वह मात्र-औपचारिता के, उस बड़े व्यक्तित्व के सम्बन्ध में, और क्या होगा।

हम हतप्रभ हैं। हमारी चलिष्णुता क्षण भर के लिए चरमरा गई है। हमारी पूरी विचार-शक्ति और अहंमन्य सांस्कृतिक संयोजन के समर्थ संस्कार जो नलिनजी में प्रतिफलित हुए थे, आज कहाँ खो गए? साहित्य-चिन्ता की एक पूरी सम्भावना, उसकी परिणति, उसके व्यक्तित्व को सदल अपने साथ ले चलनेवाला एक महान् साहित्यकार नलिनजी के साथ चला गया क्या? ऐसे प्रश्नों के मूक सिलसिले आज हमारे मन-मस्तिष्क को हरदम आन्दोलित करते हैं और हम सही उत्तर की तलाश में हैं।

वस्तुतः वे हमारे तीर्थ थे। उनके व्यक्तित्व की शारदीय गरिमा में हम आश्वस्त थे। हमें चिन्ता थी। हम जानते और मानते थे कि हमारा सांस्कृतिक सत्व, उसके हाथों

में सुरक्षित है। हमारी निष्ठा और शक्ति के वे प्रतीक थे। उनकी स्थापक मान्यताएँ, चर्चित विचार-धारायें, नियोजित अभीत शैली, उनकी बारीक दूराकर्षणी चिन्तना—इन सभी के प्रति अपने दायित्व का ज्ञान और निर्वाह : ये सब हमारी उपलब्धि, अपनी नहीं, के रूप में वे छोड़ गए।

साहित्य के नवीन युग-पथ पर नलिनजी की संस्मृति गहरी, भास्वर और लक्ष्यनिष्ठ रहेगी। इस मार्ग के हर फूल पर उनके चरणों के चिह्न और हर शूल पर उनके रक्त का रंग है—इसे सभी स्वीकारेंगे। इस वास्तविक सौंदर्य का दर्शन हम उनके सम्पूर्ण आयाम में कर सकते हैं, खण्ड में नहीं।

नलिनजी के सौहार्द और विरोध दोनों एक आत्मीयता के वृन्त पर खिले दो फूल थे। वे खिलकर वृन्त का शृङ्गार करते और झड़कर उसे अकेला और सूना कर देते थे। मित्र का तो प्रश्न ही क्या, ऐसा कोई विरोधी भी नहीं जिसका अभाव उन्हें विकल न कर देता।

अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों से उन्होंने कभी ऐसी हार नहीं मानी जिसे साध्य बनाने के लिए हम समझौता करते हैं। स्वभाव से उन्हें निश्छल वीरता मिली थी। उनकी वीरता राजनीतिक कुशलता नहीं, वह तो साहित्य की एकनिष्ठता का पर्याय थी। छल के व्यूह में छिपकर लक्ष्य तक पहुँचने को साहित्य-महाचेता लक्ष्यप्राप्ति नहीं मानता। जो अपने पथ की सभी प्रत्यक्ष-परोक्ष बाधाओं को चुनौती देता हुआ, सभी आघातों को हृदय पर झेलता हुआ लक्ष्य तक पहुँचता है, उसी को युग-स्रष्टा साहित्यकार कह सकते हैं। नलिनजी ऐसे ही अश्वत्थ साहित्यकार थे। जिन अनुभवों के दंशन का विष साधारण मनुष्य की आत्मा को मूर्च्छित करके उसके समस्त जीवन को विषाक्त बना देता है, उसीसे उन्होंने सतत जागरूकता और मानवता का अमृत प्राप्त किया था।

जीवन की दृष्टि से नलिनजी सीप में ढले हुए ऐसे मोती नहीं थे, जिसे अपनी महार्घता का साथ देने के लिए स्वर्ण और सौंदर्य-प्रतिष्ठा का अलंकार चाहिए था। वे तो पारस के प्रशस्त शिलाखण्ड थे। वह जहाँ था, वहीं उसका स्पर्श सुलभ था। यदि स्पर्श करनेवाले में मानवता के लौह परमाणु हैं तो किसी ओर से भी स्पर्श करने पर वह स्वर्ण बन पाता है। पारस की अमूल्यता दूसरों का मूल्य बढ़ाने में है। उसके मूल्य में तो न कोई कुछ जोड़ सकता है, न घटा सकता है।

नलिनजी अपने शरीर में ही नहीं, जीवन और साहित्य सभी में असाधारण थे। उनमें विरोधी तत्वों की सामंजस्यपूर्ण सन्धि थी। उनका विशाल डीलडौल देखनेवाले के हृदय में जो आतङ्क उत्पन्न करता था—उसे उनके सामीप्य की सरल आत्मीयता दूर

करती चलती थी। ऐसा था उनका शारदीय शीतल साहचर्य। नलिनजी के साथ हमारा बहुचर्चित वह तीन 'द' (दिल, देह, दिमाग) वाला संयोग नहीं रहा, जिसके सम्बन्ध में हम कहा करते थे—तीनों होड़ में हैं! क्या सचमुच ऐसा था—? हम सोचें, विचारें और अगर समर्थ ढंग से कर सकें तो उसका काल-सिद्ध मूल्यांकन करें।

कहते हैं नश्वर शरीर उठ जाता है, आत्मा नहीं उठती। वह रहती है शाश्वत, चिरन्तन। हम उसे पहचानते हैं, देखते नहीं। परसते हैं, पाते नहीं। ऐसा क्यों—? उसके चले जाने के बाद रह जाती हैं उसकी प्रतिभा-आभा, प्रशस्तियाँ और उसके बहु आयामिक कार्य! और, इसी रूप में उसकी आत्मा हमारे बीच शाश्वत-अक्षुण्ण रहती है। आज नलिनजी की आत्मा हमारे बीच सम्पूर्ण प्रतिभा और प्रेरणा-पुञ्ज के रूप में विद्यमान है। वे बराबर कहा करते थे, 'प्रेरणा के क्षण लिखने के नहीं, जीने के होते हैं।' इसका व्यापक अर्थ करें तो स्पष्ट होगा कि अपने 'स्व' के लिए जीना क्रूर अहंवाद है। केवल किसी एक व्यक्ति के लिए जीना नीचता है। और, केवल अपने लिऐ जीना निर्लज्जता है। आदमी कितना ही योग्य क्यों न हो, जो योग्यता और शक्ति समूह में है वह अकेले काम करने में नहीं! और नलिनजी का जीवन, जीने के लिए ही था।

नलिनजी के उस मनीषियों वाले कमरे में, उनका विराट्-अध्ययन, उनके दिल और देह की गन्धवई उपस्थिति, उनका 'दृष्टिकोण', 'साहित्य का इतिहास दर्शन', प्रपद्य और पसपशा, सम्पादित-शोधित ग्रन्थ, पूरे शिष्य-वर्ग (स्टाफवाले) को निर्देशित करने-वाली टिप्पणियाँ, सम्पादकीय, अपूर्व दृष्टियाँ, एक पूरा नियोजन, एक पूरी संस्कृति, एक पूरा तीर्थ ब्रजकिशोर पथ-स्थित निवास पर आपको मिलता था। आपको एक घूमती हुई, काँपती हुई 'करुणा' और विषाद की वास्तविक प्रतिकृति आज भी मिलेगी। आप वहाँ वह पायेंगे जो पूरे जीवन में भी नहीं पायेंगे। इसीलिए मैं वहाँ अक्सर जाता हूँ। जाता रहूँगा। वहाँ मुझे एक अव्यक्त प्रेरणा मिलती है। लगता है, वे चादर में लिपटी अपनी विशाल काया लिए ड्राइङ्गरूम में चले आ रहे हैं। हम सब उठकर खड़े हो गये हैं। विहँसते हुए वे बैठ गये हैं। कुशल-क्षेम के बाद वे बताने लगे हैं— "सम्भव है कल हम न रहें........जब तक हमारे पास समय है, काम करते जाएँ, करते जाएँ। अपने स्वास्थ्य के बारे में सोचना छोड़ दें। काम करने लगेंगे तो स्वास्थ्य ठीक हो जायगा......।"

✠

साँवलिया बिहारी लाल वर्मा
कोर्ट सीतामढ़ी (मुज्जफरपुर)

प्राचीन संस्कृति की प्रतिमूर्त्ति

[पितृवत् वात्सल्य लेकर जिसने नलिनजी को शैशव से देखा, वही अन्त-काल में उनका दुर्योगवश अन्तिम दर्शन नहीं कर सका।—*"स्वप्न में भी आभास नहीं मिला कि उनका संस्मरण लिखने के लिए मैं जीवित रहूँगा। नियति को कौन जानता है!"*]

❋ ❋ ❋

नलिनजी के पूज्य पिता जगत्-प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा का मुझे प्रिय-पात्र रहने का सौभाग्य प्राप्त था। जुलाई १९१४ में मैं मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास करने के बाद भूमिहार ब्राह्मण-कॉलेज, मुजफ्फरपुर में भर्ती

हुआ था। प्रायः एक वर्ष तक आचार्य कृपलानी का शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। दूसरे वर्ष १६१५ में जब पटना कॉलेज आया तो शर्माजी का शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ। शर्माजी को घूमने का बहुत शौक था और रविवार तथा छुट्टियों में दूर-दूर पैदल घूमने कुछ शिष्यों के साथ निकल जाया करते थे। संयोगवश मुझे तथा कनिष्ठ चचेरे भाई श्री गोविन्दशरण (अवकाशप्राप्त जिला जज) और हमारे स्कूल के सहपाठी खादी के वरिष्ठ कार्यकर्त्ता और श्री विनोबा भावे के भूदान-कार्य में संलग्न कर्मठ-सेनानी के रूप में कार्य करते-करते जीवन की आहुति देनेवाले स्वर्गीय श्री लक्ष्मी-नारायण को घूमने का काफी शौक था। प्रायः हमलोग छुट्टियों में दानापुर, खगौल अथवा नाव से पार होकर सोनपुर की पैदल यात्रा करते थे। प्रसंगवश जब इसकी सूचना शर्माजी को मिली तब आपने हम घुमक्कड़ों को अपने घूमने के दल में मिला लिया। इसके बाद हमलोगों का शर्माजी के निवास-स्थान पर आना-जाना काफी बढ़ गया और हमलोगों को उनके निकट-सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। रविवार अथवा छुट्टी के दिनों में जब उनके वासस्थान पर पहुँचने में विलम्ब होता तो स्वयं हमारे होस्टल में आ जाते। इस प्रकार हमलोगों को सिर्फ उनका स्नेह ही नहीं मिला, अनेक प्रकार के पकवान खाने का अवसर भी मिलता रहा क्योंकि शर्माजी को बच्चों को खिलाने में विशेष आनन्द मिलता था। उनका स्नेह हमारे प्रति इतना बढ़ा कि जब मैं १६२१ में पटना कॉलेज में अर्थशास्त्र का अध्यापक हुआ तो शर्माजी ने एक ही जगह पर अपने, मेरे तथा स्वर्गीय प्रोफेसर राधाकृष्ण झा के मकान बनाने की योजना बनाई और जमीन के लिए बातचीत चली किन्तु इसी बीच घटनावश—जिसका जिक्र यहाँ आवश्यक नहीं है—मैंने अप्रैल १६२३ में छपरे में वकालत आरम्भ करने का निश्चय किया। अतः शर्माजी तथा झाजी ने एक्जिबीशन रोड पर भूमि पास-पास खरीदी और मैं वंचित रहा। इसी बीच शर्माजी कुछ काल के लिए हिन्दू विश्वविद्यालय में चले गये। जुलाई १६२३ से छपरा में वकालत आरम्भ करने के बाद छुट्टियों में प्रायः शर्माजी हमारे वासस्थान पर आते और मुझे उनके साथ मीलों टहलने का तथा सदुपदेश सुनने का अवसर प्राप्त होता रहा।

आज वे दिन भी याद आ रहे हैं जब नलिनजी का जन्म हुआ था। चूँकि नलिनजी शर्माजी के ज्येष्ठ पुत्र थे और वर्षों की प्रतीक्षा के बाद पुत्ररत्न हुआ था, शर्माजी के परिवार, मित्र-मंडली तथा हमलोगों के सदृश स्नेही छात्रों को अपार हर्ष हुआ। हमने नलिनजी को खेलते-कूदते और लोगों को अपने बाल-सुलभ चंचलता से प्रफुल्लित करते देखा। नलिनजी को अपने कन्धे पर चढ़ाकर अमरकोषको रटाते अनेक बार देखनेका मुझे अवसर प्राप्त हुआ था।

शाय द १६२३ की बात है, एक दिन मैं शर्माजी से पूछ बैठा कि इस कच्ची उमर में अमरकोष को रटाने का क्या मतलब ? हँसते हुए शर्मा जी ने उत्तर दिया—"तुम शिक्षा की नयी पद्धति से पढ़े हो और मैं पुरानी पद्धति से। विषय की जैसी वास्तविक योग्यता, पुरानी पद्धति से अध्ययन करनेवाले संस्कृत विद्वान को होती है, नयी पद्धतिवाले एम० ए० पास को भी नहीं होती। मैं तो इसे सारा अमरकोष रटा दूँगा ताकि शिक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व इसे संस्कृत शब्द-भण्डार का ज्ञान हो जाय।" इस अवसर पर हठात् मुझे भूमिहार-ब्राह्मण कॉलेज के संस्कृत अध्यापक-द्वय प्रोफेसर राम झा और प्रोफेसर नगेश कृष्ण ओक एम० ए० का स्मरण हो आया और शर्माजी की बात मुझे यथार्थ जान पड़ी।

प्रोफेसरी छोड़ने के बाद मुझे नलिनजी को यदाकदा फलते-फूलते देखने का अवसर प्राप्त होता रहा। छुट्टियों में जब शर्माजी छपरा आते तो मिलने का दुर्लभ अवसर प्राप्त होता। शर्माजी के निधन के बाद तो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा अन्य साहित्यिक सभाओं में ही नलिनजी को देखने का अवसर मिलता था, किन्तु बातें करने का बहुत कम ही अवसर मिलता था क्योंकि गुरुजनों के प्रति सम्मान की भावना नलिनजी में उच्चस्तर की थी। अतः जब कभी हम मिलते नलिनजी अपनी स्वाभाविक नम्रता और शिष्टता के कारण बहुत आदर से मिलते और सम्भवतः संकोचवश—चूँकि मैं उनसे प्रायः २२ वर्ष बड़ा था और मुझे जन्म से ही फलते-फूलते देखने, दुलार और प्यार करने का अवसर प्राप्त हुआ था,—बहुत कम बोलते थे। थोड़े शब्दों में, नलिनजी प्राचीन संस्कृति की प्रतिमूर्ति थे।

नलिनजी के विशाल शरीर को देखकर हठात् वे दिन याद हो जाते थे जब शर्माजी के कन्धे पर बैठकर घूमते उन्हें देखा था। प्रसंगवश उनको देखकर मित्रों से इसका उल्लेख भी कर दिया करता था। स्वप्न में भी कभी आभास नहीं मिला कि उनका संस्मरण लिखने के लिए मैं जीवित रहूँगा। नियति को कौन जानता है!

अतः जब मृत्यु के दूसरे दिन पत्रों में वह दुःखद समाचार देखा तो अवाक् रह गया। बालकाल की घटनाएँ, उनकी नम्रता और शिष्टता आँखों के सामने नाच गयी। सूचना के अभाव में उनके अन्तिम संस्कार के समय उपस्थित भी नहीं हो सका।

✠

सिद्धनाथ कुमार
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, सहसराम कॉलेज, शाहाबाद (बिहार)

श्रद्धा के शत-शत फूल

[प्राध्यापक श्री सिद्धनाथजी का यह सोचना कितना सही है कि—"......वे अपने *समसामयिक साहित्यों की अधुनातन प्रवृत्तियों से अपने परिचय के प्रकाश में अपने विचारों को इसलिए व्यक्त करते थे कि साहित्य और साहित्यकारों को विचारोत्तेजना मिलती रहे, उनकी जागरूकता बनी रहे, चेतना सजग रहे।"*]

नलिनजी का निधन, जैसे निरभ्र आकाश से वज्रपात! हम सभी स्तब्ध हैं!

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा का निधन हुआ, और हिन्दी ने अपना एक तेजस्वी सपूत खो दिया—ऐसा सपूत जो केवल प्रकांड पंडित ही नहीं, क्रान्तिकारी विचारक भी था, जो बनी लीक से हट कर चलता था और अपने विचारों से लोगों को समय-समय पर झकझोरता भी था; ऐसा सपूत जो केवल आलोचक ही नहीं, साहित्य-स्रष्टा भी था, जो कविता, कहानी और काव्य-नाटक के क्षेत्र में प्रयोग कर उनकी नयी दिशाओं की ओर संकेत किया करता था; ऐसा सपूत जो केवल स्रष्टा ही नहीं, कुशल सम्पादक भी था, जिसने अपने सम्पादन द्वारा साहित्यिक पत्र एवं ग्रन्थ-सम्पादन का एक उच्च मान

स्थापित किया। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा का निधन हुआ, और मैंने तथा मेरे जसे कितने ही लोगों ने एक योग्य आचार्य खो दिया—ऐसा आचार्य जिसने केवल विश्व-विद्यालय में ही शिक्षा नहीं दी, बल्कि जो उसके बाद भी मार्गनिर्देशन करता रहा !

नलिनजी मेरे आचार्य थे। पहली बार उनके सम्पर्क में मैं आज से १२-१३ वर्ष पहले आया था—पटना विश्वविद्यालय के एम० ए० क्लास में। यह सम्पर्क निकट का नहीं, दूर का था। वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति में प्राध्यापक और छात्र का सम्पर्क अधिकतर दूर का ही रहता है—निकट का होने में देर लगती है। नलिनजी पढ़ाने आते—विशाल व्यक्तित्व, गहन अध्ययन, सुलझे विचार और स्पष्ट व्याख्याएँ, सन्तुलित वाक्य, सरल किन्तु चमत्कारयुक्त भाषा-शैली! मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। भाषण सुनते समय लगता—इस व्यक्ति का अध्ययन कितना व्यापक है! विदेशी साहित्यों से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, और उनकी नवीनतम कृतियों एवं प्रवृत्तियों से यह किस प्रकार अपना परिचय बनाये रखता है! उनके अध्ययन से अध्ययन की प्रेरणा मिलती। वे प्रेरणा के स्रोत थे। आज वे नहीं हैं, पर उनकी प्रेरणा बनी रहेगी।

एम० ए० पास करने के बाद मेरा गीतिनाट्य 'कवि' प्रकाशित होने को हुआ। उसके सम्बन्ध में मैंने श्रद्धेय नलिनजी से अपने विचार लिखने का विनम्र आग्रह किया। उन्होंने पुस्तक रूप में प्रकाशित होनेवाली उस पहली कृति पर कुछ लिखना स्वीकार कर लिया। मुझे उनकी सहृदयता एवं उदारता से परिचित होने का अवसर मिला। उन्होंने विस्तृत सम्मति लिखी, जो पुस्तक में प्रकाशित हुई। उनकी सम्मति मेरे मन के बहुत अनुकूल नहीं थी। मन को यह बात खटकी। बाद में उन्होंने मेरी दूसरी पुस्तकों की समीक्षा भी की—उनमें भी उन्होंने मेरे मन की बात न कह कर अपने ही मन की बात कही। तब मैंने समझा कि वे अपने विचार में कितने दृढ़ थे। उनके निर्णय निष्पक्ष होते थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता—आज निष्पक्ष कौन होता है? लेकिन, उन्होंने स्नेह और परिचय को अपने स्वतन्त्र विचारों की अभिव्यक्ति में कभी बाधक नहीं होने दिया। मुझे लगता है कि वे अपने समसामयिक साहित्यों की अधुनातन प्रवृत्तियों से अपने परिचय के प्रकाश में अपने विचारों को इसलिए व्यक्त करते थे कि साहित्य और साहित्यकारों को विचारोत्तेजना मिलती रहे, उनकी जागरूकता बनी रहे, चेतना सजग रहे।

बहुत बार उनके दर्शन के अवसर मिले—रेडियो-स्टेशन में, उनके निवास पर, कॉलेज में, सभाओं में, सड़क पर। सदा यह अनुभव होता रहा कि इस गम्भीर और दृढ़ व्यक्तित्व के भीतर कितनी कोमलता और स्नेहशीलता है! जब कभी अपनी कोई

नवप्रकाशित पुस्तक लेकर उनकी सेवा में गया, उनका प्रोत्साहन मिला। 'रेडियो-नाट्य-शिल्प' देखकर उन्होंने कहा—'मैं नहीं जानता था, रेडियो-नाटक पर इतनी बड़ी पुस्तक लिखी जा सकती है!' यह प्रोत्साहन के लिए नहीं, तो और क्या था? सम्मेलन में रेडियो-नाटक पर मेरे भाषण और दर्शकों के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर के बाद उन्होंने कहा—'बड़ी अच्छी स्पिरिट में आपने इस विवाद में भाग लिया।' उनके इस तरह पीठ थपथपाने से मन को बल मिलता था। उनकी उदारता के दर्शन तो बार-बार होते रहे। मैंने उनसे किसी विषय पर विचार माँगे, उन्होंने विचार दिये; मैंने निर्देशन माँगा, उन्होंने निर्देशन दिया; मैंने अध्ययन के लिए पुस्तकें माँगीं, उन्होंने पुस्तकें दीं। अभी उसी दिन वे रिक्शे पर कॉलेज जा रहे थे, रास्ते में सड़क पर मुझे देख साथ में मुझे भी ले लिया। मैंने जब कहा कि नाटक-सम्बन्धी कुछ पुस्तकें आपके यहाँ से चाहता हूँ, तो उन्होंने उत्तर दिया—'मेरे पास तो नहीं हैं, चलिए, विभाग के पुस्तकालय से दिलवा देता हूँ।' विभाग में पहुँचकर बहुत देर तक उन पुस्तकों की खोज करायी उन्होंने।

नलिनजी के अन्तिम दर्शन हुए एक नियुक्ति के सिलसिले में एक इंटरव्यू बोर्ड में। वे विशेषज्ञ बनकर आये थे। यह अन्तिम सम्पर्क भी फिर दूरी का था, निकटता का नहीं। वे परीक्षक थे, मैं परीक्षार्थी। वे प्रश्न पूछते जाते, मैं क्षमता भर उत्तर देता जाता। पन्द्रह-बीस मिनट तक वे प्रश्न पूछते रहे। कभी-कभी मुझे लगता, जैसे इस गम्भीर व्यक्ति से कभी का मेरा कोई सम्पर्क नहीं है। आज सोचता हूँ, तो लगता है, जैसे उस अन्तिम भेंट में वे मेरी परीक्षा ले रहे थे—अब तक उन्होंने जो कुछ दिया था, उसकी जाँच कर रहे थे।

नलिनजी के निधन से सभी दुःखी हैं। मेरा दुःख सबके साथ है। मैं अपने श्रद्धेय आचार्यजी की स्मृति में श्रद्धा के शत-शत फूल अर्पित करता हूँ।

✤

व्यक्तित्व के धनी

सियारामशरण प्रसाद
सराय सैयद अली, मुजफ्फरपुर (बिहार)

[सियारामजी के जिज्ञासा करने पर नलिनजी ने उनसे जो कुछ कहा था, क्या आज का साहित्यकार उसपर ध्यान देने की फुर्सत निकालेगा ?—*"साहित्यकार के लिए प्रचार नहीं, व्यक्तित्व-विकास आवश्यक है। बोलने से सोचना अधिक आवश्यक है।"*]

प्रभावपूर्णता और आकर्षण व्यक्तित्व के साफल्य के कुछ अनिवार्य तत्त्व हैं जिस माध्यम से कोई अधिक समय तक हमें अपने प्रति सोचने-समझने के लिए प्रेरित करने तथा स्मृति-पट पर गहरे अक्षरों को अंकित करने की सामर्थ्य रख पाता है। सुगठित शरीर, बाह्याकृति, आचार-विचार, व्यवहार-स्वभाव आदि अनेक तत्त्वों के सम्मिश्रण से व्यक्तित्व में यह गुण हो पाता है। यही मूल कारण है कि कई व्यक्ति सैकड़ों बार साक्षात्कार होने पर भी इस क्रिया से हीन रह जाते हैं और कुछ एक बार के मिलन में ही अपनी छाप छोड़ जाते हैं। स्व० नलिन विलोचन शर्माजी का व्यक्तित्व निश्चय ही इस दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली था। यही मुख्य कारण है, जब हम उनकी स्नेह-छाया से विहीन हो गए हैं तो बारम्बार आँखें भर आती हैं—हृदय में पीड़ा हो जाती है।

स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्माजी के दर्शन का सौभाग्य मुझे मात्र तीन बार ही मिला —एक बार सम्मेलन-भवन में और दो बार उनके निवास-स्थान पर। और तीनों ही

बार मेरी आँखों के सम्मुख उनके व्यक्तित्व के सौन्दर्य का नवीन आयाम दृष्टिगत हुआ।

सम्मेलन-भवन में विधाता द्वारा स्थापित केन्द्र जिनके सम्मुख सभी संयम और शिष्टाचार के साथ आते—जैसे सम्पूर्ण वातावरण पर उनका प्रभाव और दबदबा हो और प्रभाव बाह्य शक्ति नहीं, आन्तरिक महत्ता के बल पर। बाह्य प्रभाव से मनुष्य शीघ्र मुक्त हो जाता है और वस्तुतः आज के वैज्ञानिक, अहम्-केन्द्रित युग में ऐसे प्रभाव से मनुष्य सदैव सशंकित रहता है। नलिनजी के आन्तरिक सौंदर्य और उच्चता के कारण ही सभा में, स्पष्ट देखा, उनके समीप जो भी आते उनके प्रभाव से अभिभूत उनके प्रति निष्पक्षता से, मन से सम्मान प्रकट करते दीख पड़ते।

उनके निवास-स्थान पर एक बार लगभग १९५७-५८ के बीच अपने एक मित्र के साथ गया था। मेरे लिए उनका यह प्रथम दर्शन ही था। उनके प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व का मुझपर प्रथम साक्षात्कार में ही सम्मोहक असर हुआ। अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक बोलना, एक-एक शब्द में अर्थों का गांभीर्य रखना, उनके व्यक्तित्व की प्रखरता थी—आकृति से भी वे अत्यन्त प्रभावशाली लगे। यह साक्षात्कार कुछ मिनटों के लिए हुआ था परन्तु प्रभाव की गहराई की दृष्टि से अटूट रहा। पुनः सौभाग्य से मुझे १९६० की गर्मी के दिनों में उनके दर्शन का सौभाग्य मिला। यह भेंट मेरे लिए अन्तिम भेंट होगी, यह मैं नहीं जानता था। मैं क्या जानता था, आलोचना-साहित्य के मर्मज्ञ, देशी-विदेशी साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान, काव्य के नवीन प्रयोक्ता, हिन्दी-साहित्य के प्रतिष्ठित और मान्य आलोचक, अनेकों के निर्माता, हिन्दी इतिहास को नये संदर्भ से सुसज्जित करने को तत्पर्य प्रतिभा, अपने योग्य पिता (स्वर्गीय रामावतार शर्मा) के योग्य पुत्र हमें इस प्रकार निराश्रित कर जायेंगे, अपनी सुरक्षापूर्ण छाया से वंचित कर जायेंगे !

इस भेंट में मैंने उनसे कुछ प्रश्न किये थे···आह ! उन्होंने कितनी आत्मीयता एवं माधुर्य से शब्दों को भिगो कर गम्भीर चिन्तनपूर्ण उत्तर दिया था—"···साहित्यकार के लिए प्रचार नहीं, व्यक्तित्व-विकास आवश्यक है···बोलने से सोचना अधिक आवश्यक है।" और इसी क्रम में उन्होंने इसके उदाहरण में अनेक विदेशी कलाकारों के नाम भी बताये। उन्होंने आगे कहा—"···हमारे हिन्दी के साहित्यकारों की विचित्र दशा है। वे शीघ्र ही अपनी हीनता में फूटने लगते हैं। अध्ययन-मनन के अभाव में अपना विकास अवरुद्ध कर लेते हैं।" और जब मैं भावावेश में कुछ बोल जाता तो वे गम्भीरता से मुस्कुरा मात्र देते जैसे वे संयम की मौन शिक्षा दे रहे हों···और मैं पानी-पानी हो जाता।

हिन्दी-साहित्य के विषय में मेरे प्रश्नों का समाधान देते हुए उन्होंने प्रेमचंदजी

के "गोदान" उपन्यास को महाकाव्यात्मक गरिमापूर्ण, जैनेन्द्र की "सुनीता" को तथा मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से "नदी के द्वीप" को उल्लेख्य उपन्यास बताते हुए शैलीकार के रूप में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंहजी का नाम लिया। परन्तु अभी उन्हें हिन्दी की प्रगति और हिन्दी साहित्य के इतिहास के न्याय के प्रति पूर्ण सन्तोष नहीं था। इसी क्रम में उन्होंने संक्षेप में गुरुता से भरे अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक दायित्वों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जिसे वे हिन्दी की गौरवपूर्ण प्रगति के लिए आवश्यक मानते थे।

आज वे बहुत कुछ बिना कहे चले गए—उनकी प्रतिभा के प्रसाद से हम वंचित हो गए लेकिन उनका चरित्र, उनका साहित्य-चिन्तन, उनका साहित्यिक दृष्टिकोण हमारे समक्ष हैं, उनकी कृतियाँ "विष के दाँत" (कहानी-संग्रह) "साहित्य का इतिहास दर्शन" आदि, उनका दृष्टिकोण हमारे समक्ष हैं जो दीपावली के असंख्य दीपों की तरह प्रकाश दे रहे हैं, जिनपर ध्यान देने से बिहार-साहित्य का ही नहीं, सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का गौरव अभिवृद्ध होगा।

✠

....किन्तु इनमें कहीं थोड़ा तो ऐसा कुछ होगा ही, जो अच्छा हो। जो थोड़ा अच्छा है, उससे परिचित होना भी बुरा तो नहीं!

'नईधारा'—जून, १९६१ —न० वि० शा०

सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर
सहाय भवन, दुजरा, पटना—१

निष्ठावान और स्वस्थ विचारक

[सुरेन्द्रजी का यह सत्य नलिनजी के स्वभाव के विषय में तो है किन्तु क्या वह अनुकरणीय नहीं बनाया जा सकता, उनकी स्मृति को सँजोने के लिए भी ??? *"मैंने उनके विचार में सबसे बड़ी बात यह देखी कि वे किसी की निन्दा नही करते थे।"*]

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा से मेरा वैयक्तिक साहचर्य बहुत कम रहा। यों निकट से उन्हें देखने और उनके गम्भीर व्याख्यानों को सुनने का बहुत अवसर मिला। सन् १९५२ ई० की बात है, जब मैं मिलर उच्चविद्यालय, पटना में प्रवेशिका वर्ग का छात्र था। उक्त विद्यालय की हिन्दी-साहित्य-परिषद् द्वारा आयोजित साहित्य-समारोह

में नलिनजी, प्रो० हरिमोहन झा आदि दिग्गज विद्वान् पधारे थे। उस समय मुझे साहित्य के क ख ग का ज्ञान अत्यल्प था। पत्र-पत्रिकाओं में छिटफुट ढंग से चुटकुला लेख लिखा करता था। तो नलिनजी ने साहित्य-सम्बन्धी अपने विचार को जिस चित्ताकर्षक रीति से रखा उससे मैं विशेष प्रभावित हुआ। अपने जीवन में पहली बार यदि किसी साहित्यिक विद्वान् के व्याख्यान को सुनने का अवसर मिला तो आचार्य नलिनजी का ही। उसके बाद ही मुझमें कुछ लिखने की प्रेरणा जगी और साहित्य के प्रति मेरी अभिरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गयी।

विगत तीन वर्ष पूर्व, जब मैं पटना विश्वविद्यालय में एम० ए० (हिंदी) का छात्र था, आचार्यजी के निवास-स्थान पर अपने अभिन्न मित्र भाई राजनारायण वर्मा के साथ मुझे जाने का अवसर मिला था। गरमी का महीना और शाम का झुटपुटा। हम दोनों उनके डेरे पर पहुँचे। पहली बार उस दिन उनके डेरे पर जाने का मौका मिला था। यद्यपि बराबर मैं उनके रास्ते से होकर गुजरता था, उसके पहले उनके निवास-स्थान का पता मालूम नहीं था। उन्हीं के घर की बगल में मेरी बहन का घर था। एक दिन मेरे बहनोई ने आचार्यजी का नाम लिया और कहा—'यहीं पर ऊँचे डील-डौल वाले और चश्मा लगाए हिंदी के एक प्रोफेसर रहते हैं।' उनका संकेत आचार्यजी की ओर था। मैं समझ गया। मुझे अतीव प्रसन्नता हुई। हाँ, तो उस दिन अपने मित्र के साथ सायंकाल मैं उनके डेरे पर पहुँच ही गया। मेरे मित्र को उनसे कुछ जरूरी काम था। सोचा, इसी बहाने मैं भी आचार्यजी के दर्शन कर लूँ। पहुँचने पर हम दोनों को दो-दो ग्लास शर्बत दिया गया। दिन भर का थका मन प्रफुल्लित हो उठा और शरीर में नई ताजगी दौड़ गई। दस-पन्द्रह मिनटों में उसी धोती और मलमल के कुरते में आचार्यजी स्वागत-कक्ष में पधारे, जहाँ हम दोनों उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे हम दोनों को देखकर मन-ही-मन मुस्काए। प्रणाम-पाती हुई। वे कुर्सी पर विराजमान हुए। इधर-उधर की साहित्यिक चर्चाएँ हुईं। मैंने उनके विचार में सबसे बड़ी बात यह देखी कि वे किसी की निंदा नहीं करते, बल्कि जिसमें जो थोड़ी त्रुटि रहती उसे दूर करने का सुझाव देते। उनसे मिलकर—वह भी पहली बार—मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई और गौरवानुभूति भी। मैंने देखा है कि किसी परिचित व्यक्ति के डेरे पर जब मैं गया हूँ तो मुझे घण्टों उनका इन्तजार करना पड़ा है। बैठे-बैठे मन जब ऊब जाता, तो घर लौट आता हूँ। ऐसे तथाकथित सज्जनों से मिलकर बड़ा कड़वा अनुभव होता है और खीझ भी होती है। आचार्यजी से पहली बार मिलकर मुझे जो मधुर अनुभव हुआ था, उसकी स्मृति आज भी मेरे मानस-पटल पर व्याप्त है।

बच्चन देवी साहित्य-गोष्ठी के विचार-विमर्श-आयोजनों तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के वार्षिकोत्सव के अवसर पर आचार्यजी के सारगर्भित व्याख्यानों को सुनने का अवसर कई बार मिला है। पटना कॉलेज में, जहाँ मैं एम० ए० कक्षा में पढ़ता था, उनके दर्जनों 'लेक्चर्स' मैंने सुने हैं। भाषा-विज्ञान, काव्यशास्त्र और 'गोदान' का अध्यापन आप ही करते थे। 'गोदान' पर आपके अध्ययन की प्रगाढ़ता एवं सूक्ष्मता से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ।

एक दिन की बात है जब आचार्यजी प्रतिदिन सम्मेलन-भवन के 'सर्वभाषा विद्यालय कार्यालय'-कक्ष में नियमित रूप से शाम को बैठते थे। वे उस विद्यालय के प्रिंसिपल भी थे। मैं प्रतिदिन बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के अनुसन्धान पुस्तकालय में अध्ययन के निमित्त जाया करता था। उस समय परिषद् का कार्यालय साहित्य-सम्मेलन के दुमंजिले मकान में था। शाम को पुस्तकालय से निकलकर नीचे आता था और इष्ट-मित्रों से मिलजुलकर अपने घर लौट जाता था। एक दिन आचार्यजी उसी कमरे में बैठे हुए थे। मैं अपने एक मित्र के साथ उनके रूम में चला गया। यों ही बैठा रहा। गप-शप होती रही। इसी बीच श्री दिनकरजी पधारे। बातचीत का ताँता बँध गया। वार्त्तालाप के क्रम में आचार्यजी ने एक बात कही जो मुझे बहुत प्रिय लगी। वह बात थी—'साहित्यिक निष्ठा।' "किसी कार्य के प्रति निष्ठा-भाव दिखाए बगैर मनुष्य महान् नहीं बन सकता। साहित्यकार को निष्ठावान और स्वस्थ विचारक होना चाहिए।'

तीसरी बार आचार्यजी से मिलने का अवसर उस समय मिला, जब मैं अपने प्रस्तावित शोध-विषय की रूप-रेखा को स्वीकृत एवं अग्रसारित कराने के हेतु हिंदी-विभाग, पटना विश्वविद्यालय में गया था। उन्होंने हाल-चाल पूछा और निवेदन-पत्र को पढ़कर उसे स्वीकृत कर दिया। मेरा यह काम उन्होंने बड़ी आसानी से कर दिया। उन्होंने मात्र यही पूछा कि जिस विषय पर आप अनुसन्धान करना चाहते हैं, उस पर काम तो नहीं हुआ है अथवा उसपर कोई काम तो नहीं कर रहा है? मैंने कहा—'ऐसा नहीं है।' फिर उन्होंने पन्द्रह-बीस मिनट में ही मुझे छुट्टी दे दी। एम० ए० पास करने के बाद आपसे मिलना मेरे लिए दुष्कर हो गया, क्योंकि कॉलेज से मेरा सम्पर्क प्रायः छूट गया था। किरानी-गिरी के चक्कर में इधर-उधर जाने का बहुत कम अवसर मिलता है। दिल में साहित्य [illegible] भावनाओं को सँजोकर भी कुछ साहित्यिक-कार्य करना असम्भव हो गया था। कभी-कभी रिक्शा पर से जाते हुए आचार्यजी के क्षणिक दर्शन हो जाते। उनके व्यक्तित्व को देखकर मन में असीम हुलास जगता था। उनके चेहरे पर कभी उदासी की शिकन नहीं, किंतु शान्त और गम्भीर मुद्रा में मैंने उन्हें हमेशा देखा। कॉलेज,

क्लास, सभा, गोष्ठी या रिक्शे पर भी। मुझे ऐसा लगता है कि आपका स्मित हास्य आपके अन्तर में निहित गम्भीर चेतना और शालीन स्वभाव का परिचायक था। सज्जनता की जो सच्ची परिभाषा हो सकती है, उसकी आप प्रतिमूर्त्ति थे। सबके प्रति समान भावना आपकी प्रकृति रही। किसी का निरादर करना आपने कभी नहीं जाना। अवांछनीय बातों को लेकर जब आपको कभी क्रोध होता, तो उसका प्रत्युत्तर छिछले ढंग से नहीं, शिष्टता के स्तर पर देते थे, जो बड़ा सटीक होता था।

एक-डेढ़ माह पहले मैंने आपको कदमकुआँ से रिक्शे पर से गुजरते हुए देखा था। आपके उतरे हुए चेहरे को देखकर आश्चर्य और दुःख दोनों का अनुभव हुआ। मन में सोचा—आजतक आचार्य नलिनजी को इतने दुर्बल शरीर और पिचके हुए गाल जैसी अप्रत्याशित स्थिति में कभी नहीं देखा—आज मैं क्या देख रहा हूँ! ओह, प्रभु की लीला अपरम्पार है। शोध-सम्बन्धी काम को लेकर दूसरे दिन कॉलेज गया था। परदे से झाँक कर यों ही देखा तो झट आचार्यजी पर नजर पड़ी। उस दिन मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब मैं उन्हें कुर्सी पर चिपके हुए देखा। शरीर आधा हो गया था। पहली नजर से देखने पर विश्वास नहीं हुआ कि आचार्यजी बैठे हैं। गौरकर देखने से मेरी भ्रांति दूर हुई।

मैं १२ सितम्बर को परिषद्-पुस्तकालय अपने शोध-सम्बन्धी कार्यवश गया हुआ था। एक घण्टा भी नहीं बीता था कि आचार्यजी के मरने की अकस्मात् खबर एक सज्जन से मिली। पहले तो ऐसा लगा कि खबर गलत है। परिषद्-कार्यालय जब बन्द हो गया, तो विश्वास हुआ। उस दिन नौ बजे रात को मैं श्मशानघाट पर पहुँचा आपके अन्तिम दर्शन करने के लिए। तबतक आपका शरीर चिता की लपेट में राख हो चुका था। चिता की अग्नि घाट को आलोकित कर रही थी। आज आपकी स्मृति आते ही दिल फूट पड़ता है, लेखनी थर्रा उठती है। आपके अन्तिम दर्शन की लालसा मेरे मन में ही रह गयी, पर आपकी साधना की जोत आज भी मेरे मन में जगमगा रही है।

✠

बुजुर्गों और मित्रों के स्नेह-भाजन

'सुहृद'

सुहृद नगर, बेगूसराय (बिहार)

[सुहृदजी का यह स्नेहसिक्त उद्गार जितना मर्मस्पर्शी है, उतना ही कातर कर देनेवाला भी। —*"मैं यह नहीं चाहता कि मेरे किसी भी मित्र की बिदाई का काल, मेरी बिदाई से पहले आए।"*]

※ ※ ※

नलिनजी को मैंने पहलेपहल कब देखा, कब हमलोग एक दूसरे के साथ सौहार्द-बंधन में बँधे—इसकी मुझे याद नहीं है। एक सुदूर अतीत जिसमें न समय का बन्धन है

न स्थान का। उसी अतीत में शायद हम दोनों एक दूसरे से मिले थे और ऐसे मिले थे कि प्रतीत होता था, मानो हम दोनों कब के परिचित हों और कब की घनिष्ठता हम दोनों में रही हो। तब से बराबर नलिनजी से भेंट होती रही। कभी कवि-सम्मेलन में, तो कभी किसी सार्वजनिक सभा में, कभी रास्ते में, तो कभी घर पर। जब कभी भी हम मिले, मेरा दिल खुशी से खिल उठा।

सन् १६३६-३७ की बात है—नलिनजी (अपने विद्यार्थी जीवन में) जब कभी कालेज से आते, अपने सहपाठी जनार्दन के ही साथ रास्ते में मिल जाते। जनार्दन मुरली बाबू के दामाद होने के नाते मेरी काफी इज्जत करते थे। एक रोज ये दोनों आदमी कॉलेज से आ रहे थे। करीब चार बजे होंगे। मैं मुरादपुर में मिल गया। दोनों पकड़कर मुझे (जनार्दन के) घर पर ले गए और मेरा सम्मान किया। घण्टों कविता भी हुई। जनार्दन बड़े उदार और हँसमुख छात्र थे। दोनों में खूब पटती थी। लेकिन आज दोनों ही जीवन-सागर के पार जा चुके हैं। केवल एक स्मृति भर रह गई है दोनों की।

उन्हीं दिनों की बात है, श्री राधेश्याम ओझा (आई०सी०एस०, नलिनजी के बहनोई) और नलिनजी दोनों पटना लॉन में प्रदर्शनी में घूमते हुए मिल गए। नलिनजी वहाँ से मुझे अपने डेरे पर ले गए। ये दोनों आदमी ग्यारह बजे रात तक बातें करते रहे। ग्यारह बजे के बाद उनलोगों ने मुझे छोड़ा तब मैं डेरा आया। जब-जब मैं नलिनजी के यहाँ गया, बिना चाय-पानी के तो उन्होंने लौटने ही नहीं दिया।

१६४२ का जमाना था—राधेश्यामजी की पोस्टिंग मुँगेर में ही हुई। मुँगेर किले में उनका डेरा था। नलिनजी भी पटना से मुँगेर आए थे—सरयू बाबू (अब एम० एल० ए०), स्व० मिनटुन बाबू (एम० एल० ए०) और मैं उनके डेरे पर करीब आठ बजे रात में गये। नलिनजी तथा राधेश्यामजी बैठकर बातें कर रहे थे। अपने साथी से उन दोनों का परिचय कराया—मेरे साथ तो घरवाला बर्त्ताव था। बारह बजे रात तक हमलोग वहीं बैठकर बातें करते रहे। सभी लोगों का वहीं भोजन हुआ। उसके कुछ ही दिनों के बाद १६४२ का ६ अगस्त आया। राधेश्यामजी को अक्सरहाँ मुँगेर से बेगूसराय आना पड़ता था। यहाँ आने पर मैं कहीं भी रहता था, वे जरूर मिलते थे। नलिनजी के विषय में कुछ-न-कुछ अवश्य बातें हो जाया करती थीं। दुर्भाग्य कि आज हमारे बीच न राधेश्यामजी हैं और न नलिनजी। केवल उन दोनों की मार्मिक याद भर शेष रह गई है।

नलिनजी अवकाश पाकर कभी-कभी मेरे यहाँ आया करते थे। एक बार अपने मित्र को साथ लेकर वे मेरे डेरे पर (पटना में) आए। उनके लिए उन्होंने कुछ काम दिया। उनको मैंने कह दिया कि मैं अमुक तिथि को सात बजे सुबह आपके डेरे पर पहुँच जाऊँगा। ज्यों ही मैंने उनके मकान के अहाते में मोटर घुमाई कि मैंने देखा कि वे तैयार होकर मेरे यहाँ ही आ रहे थे। फिर हमलोग मोटर से उतरे (मेरे साथ श्री रवीन्द्र नारायण तथा अरविन्द कुमार 'अरविन्द' भी थे) हमलोगों को यह कहते अपने ड्राइङ्गरूम में ले गये कि "ई अगुता गइलन कि रउआ आइब कि ना आइब, एही से हमनी का रउए डेरा पर जात रहलीं हँ।'

नलिनजी को जो कुछ मैंने कहा—उन्होंने भरसक मेरी बातों को कभी उठाया नहीं।

नलिनजी से नवल बाबू को एक काम था, उन्होंने सुधांशुजी से जाकर कहा। सुधांशुजी ने मुझे पत्र लिखकर बुलाया—मैं पटना गया—सुधांशुजी ने मुझे नवल बाबू से मिलने को कहा। सुधांशुजी तथा नवल बाबू का डेरा आर० ब्लौक में अगल-बगल में ही है। नवल बाबू से जाकर मैं मिला। उन्होंने एक छोटा-सा काम फरमाया, जिसे नलिनजी के द्वारा होना था। नलिनजी के यहाँ मैं सुबह पहुँचा। उनको सारी बातें कहीं। काम हो जाने के बहुत दिनों के बाद उन्होंने सम्मेलन-भवन में पूछा—"काम हो गइल रहे न ?"

एक रोज सम्मेलन-भवन में बैठे-बैठे बातें हो रही थीं चट उन्होंने मेरे ऊपर दो लाइन श्लोक बनाकर दे दिया, साथ-ही-साथ उसका अर्थ भी बैठे हुए दोस्तों को समझा दिया।

नलिनजी आज हमारे बीच नहीं हैं पर अपने महान् कार्यों के रूप में जो कुछ भी वे दे गये हैं उससे आनेवाली पीढ़ियाँ, उन्हें कभी न भूल सकेंगी।

अपने बुजुर्गों और मित्रों के स्नेह-भाजन तो वे थे ही।

मैं नहीं चाहता कि मेरे किसी भी मित्र की बिदाई का काल, मेरी बिदाई से पहले आए!

✠

हरिमोहन झा

दर्शन-विभागाध्यक्ष, पटना विश्वविद्यालय, पटना—६

....कमल खो गया !

(दर्शन-शास्त्र के गहन-ज्ञाता और प्रसिद्ध मैथिली लेखक हरिमोहनजी 'परमार्थ दर्शन' पर अपने ग्रन्थ-निर्माण के सिलसिले में नलिनजी के क्या हुए, सो उन्हीं के शब्दों में सुनिए :—*"नलिनजी ने बड़ी प्रसन्नता से वह भाष्य मुझे देते हुए कहा—"मेरे पितृ-ऋण का शोधन आप कर रहे हैं। हम दोनों गुरु-भाई हो गए !"*

उस समय कौन जानता था कि पितृ-श्राद्ध पूरा होने के पहले ही मुझे भ्रातृ-तर्पण करना पड़ेगा !"]

विशालता के प्रतीक थे नलिनजी। जैसा विशाल शरीर, वैसा ही विशाल हृदय। चौड़ा मस्तक, प्रशस्त ललाट, मेघमन्द्र स्वर, उदात्त विचार। शिष्टता, सज्जनता एवं शालीनता उनमें उसी तरह समवेत थी जैसे कमल में सुगन्ध। उनके होठों पर सदैव खेलनेवाली या खिलनेवाली सहज मृदुल मुसकान ने अन्त तक उनका साथ नहीं छोड़ा समुद्र के समान गम्भीर और पर्वत के समान उत्तुङ्ग, गिरि-खण्ड के सदृश दृढ़ और श्रीखण्ड के सदृश स्निग्ध-कोमल—ऐसे अद्भुत थे नलिनजी, जिनका तन-मन किसी विशेष अलौकिक-साँचे में ढला जान पड़ता था। उनका दृष्टिकोण विलक्षण था। चिन्तन-धारा मौलिक थी। सामान्य धरातल से बहुत ऊपर। उनके व्यक्तित्व में एक अनोखी

चुम्बकीय शक्ति थी जो प्रथम साक्षात्कार में ही लोगों को बरबस आकृष्ट, प्रभावित और अभिभूत कर लेती थी। वे महाप्राण व्यक्ति थे, जो मरण के बाद भी स्मरण पर अपनी छाप छोड़ गए हैं।

नलिनजी के पिता स्व० म० म० रामावतार शर्मा प्रगाढ़ पाण्डित्य एवं बहुमुखी प्रतिभा के लिए प्रख्यात थे। वे नवीन सिद्धान्तों और प्रयोगों के प्रवर्त्तक थे। क्लिष्ट-श्लिष्ट शब्दों के द्वारा पाठकों को चकित करने में उन्हें आनन्द आता था। उन्होंने दर्शन-शास्त्र में एक नये वाद की स्थापना भी की और काव्य में 'मेघदूत' की अनुकृति (Parody) 'मुद्गरदूत' की रचना भी कर डाली। उनका व्यंग्य ऐसा सूक्ष्म होता था कि बहुधा यह पता नहीं चलता था कि गम्भीरतापूर्वक बोल रहे हैं अथवा परिहास में। ये पैतृक चमत्कार नलिनजी को प्रचुर परिमाण में प्राप्त हुए थे। उनकी काव्य-सर्जना उनके आलोचना-निबन्ध, उनकी कथा-कृतियाँ—सभी में कुछ-न-कुछ वह झलक अवश्य मिलेगी।

पं० रामावतार शर्मा के 'परमार्थ-दर्शन' पर मैं एक ग्रन्थ लिख रहा था। उसी सम्बन्ध में उनके हस्तलिखित संस्कृत भाष्य की मुझे आवश्यकता पड़ी। नलिनजी ने बड़ी प्रसन्नता से वह भाष्य मुझे देते हुए कहा—"मेरे पितृ-ऋण का शोधन आप कर रहे हैं। हम दोनों गुरु-भाई हो गए।" उस समय कौन जानता था कि पितृश्राद्ध पूरा होने के पहले ही मुझे भ्रातृ-तर्पण करना पड़ेगा!

नलिनजी को हास-परिहास में भी काफी रस मिलता था। कई साल पहले—होली के उपलक्ष्य में—मैंने कुछ मित्रों के ऊपर व्यंग्य-विनोद के छींटे डाले थे। नलिनजी पर ये पंक्तियाँ थीं—

श्री नलिन विलोचन शर्मा, माखन मिश्री के पाले,
जिनके डर से थर्राते, पटना के रिक्शावाले।

नलिनजी सुनकर मुसकुरा पड़े। एक बार मैंने पूछा—'नकेनवाद' का क्या अर्थ? 'न केनचित् बोद्धुं शक्यते' (किसी के द्वारा इसका अर्थ नहीं समझा जा सकता) इसीका संक्षिप्त रूप तो नहीं है? फिर उसी मुस्कुराहट से उत्तर मिला। मेरे मज़ाकों का उन्होंने कभी बुरा नहीं माना, बल्कि उन्हें इन बातों में मज़ा आता था।

× × ×

उन्हीं नलिनजी की आकस्मिक निधन-वार्त्ता सुनकर अवाक् रह गया। कल सायंकाल जो भाषण में मुसकान बिखेर रहे थे, आज नहीं रहे। अब उनकी सौम्य-मूर्त्ति कभी

देखने को नहीं मिलेगी; उनका संयत मर्यादित वार्त्तालाप कभी सुनने को नहीं मिलेगा। वे हर्षोत्फुल्ल लोचन सदा के लिए निमीलित हो गए। 'कुमुद' का चिर-सहचर कमल खो गया! जीवन की क्षणभंगुरता भीषण रूप में सामने आ गई! न जाने कितनी बार 'भज गोविन्दम्' वाला श्लोक पाठ किया होगा—

"नलिनीदलगत सलिलं तरलं
तद्वज्जीवनमतिशय चपलम्"

लगा जैसे नलिनजी को लक्ष्य करके ही उपर्युक्त पंक्तियाँ रची गई हों।

अभी केवल ४६ पँखुरियाँ लगी थीं। १४ गण्डे पँखुरियाँ लगना तो बाकी ही था इस शतदल कमल को। हिन्दी-साहित्य को, साहित्य-सम्मेलन को, राष्ट्रभाषा-परिषद् को, समस्त हिन्दी-जगत् को, नलिनजी से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। परन्तु किसी कवि ने कहा है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहार!

आज नलिनजी के असंख्य प्रशंसक, बन्धु एवं छात्र समुदाय रो रहे हैं—

हा हन्त! हन्त! नलिनं यम उज्जहार!

✠

दुनिया हर एक व्यक्ति के लिए शक्ति-स्वरूप है। उसे हरेक अपनी योग्यता, साहस, दुष्टता, कुटिलता के अनुसार खोल सकता है।

(अप्रकाशित) —न० वि० श०

✠

हरिहर प्रसाद उपाध्याय

अंग्रेजी-विभाग, पटना कॉलेज, पटना—५

विराट् व्यक्तित्व

[सुहृद् साथी के रूप में प्रोफेसर उपाध्याय ने नलिनजी को जैसा पाया वह औरों के लिए भी स्पृहणीय हो सकता है। —*"उनके व्यक्तित्व का ऐसा प्रभाव था कि विरोध करने का साहस साधारणतया किसी को नहीं होता था। और दूसरी बात देखी कि विरोध और खण्डन करनेवाले व्यक्ति के प्रति भी उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं झलकती थी।"*]

"Even so, in death the same unkown will appear as ever known to me. And because I love this life I know I shall love death as well.

गुरुदेव की इन सारगर्भित पंक्तियों की स्मृति इस अवसर पर बरबस हो आती है, जब हम नलिनजी के जीवन और मरण के प्रसंग को अपने विचार में लाते हैं। ऐसा

अवसर, 'मूड', या प्रयोजन नहीं आया या हुआ जब कि नलिनजी ने भी ऐसे ही उद्‌गार प्रकट किए होते। परन्तु निकट सम्पर्क में आने या रहनेवालों से यह सत्य कभी छिपा नहीं रहा कि उन्होंने जीवन से प्यार किया था और इसी बल पर मृत्यु से भी प्यार करने की क्षमता उन्होंने प्राप्त की। जिसके मुख पर कदाचित् ईषत् म्लान रेखा खिंची कभी न देखी गई, जिसके प्रशान्त नेत्र में वेदना की बूँद कभी नहीं झलकी, और जिसके उन्नत ललाट पर चिन्ता की शिकन नहीं पड़ी, उस व्यक्ति के जीवन-दर्शन को समझने में ऊर्ध्व-लिखित पंक्तियाँ बड़ी ही सहायक हो सकती हैं। आहार-विलासी के रूप में जीवन के ऐहिक सुखों की उपलब्धि-बेला में जो शौर्य और उत्साह देखा गया, पीछे चलकर विशेषज्ञ चिकित्सकों के आदेशानुसार कठोर संयम को जीवन में सहज रूप से अपनाने में वही शक्ति और शान्ति देखी गई। वास्तविक रुग्णावस्था में भी धैर्य और आत्म-बल-द्योतक मुद्रा ही सदा देखने को मिलती रही। आकुलता, संशय, आशंका और भय आदि विकारों से ग्रस्त, उन्हें कभी नहीं पाया गया। ऐसी ही आत्माएँ मरण के त्योहार को भी भली भाँति मनाने में सफल होती हैं। इन आत्माओं की विराटता ऐसे ही दृष्टिकोण से परिलक्षित होती है।

मेरा नलिनजी से व्यक्तिगत परिचय १९४५ से ही रहा परन्तु १९५० से अधिक-से-अधिक घनिष्ठ सम्पर्क होता गया। पटना कॉलेज में तो प्रायः नित्य ही भेंट हो जाती थी। साथ बैठने या बातचीत करने का मौका न भी मिलता तब भी शिष्टाचार-विनिमय तो हो ही जाता था। सामने होते ही नम्रता और सौजन्यपूर्ण भाव से ओत-प्रोत उनका मुखमण्डल और नेत्रों से झाँकती और अधरों पर खेलती हुई उनकी मृदु मुस्कान तुरत प्रभावित करती थी। जब कभी भी उनके कमरे में मुझे जाने का अवसर मिलता तो प्रत्येक बार एक विशेष प्रकार का आनन्द और सन्तोष लेकर मैं वहाँ से लौटता था। मुझसे उम्र में तो वे एक डेढ़-साल ही बड़े थे परन्तु नौकरी या पद में काफी 'सीनियर' थे। लेकिन ज्यों ही मैं कमरे में प्रवेश करता वे विभागाध्यक्ष की कुर्सी से उठ खड़े होते और अभिवादन करते। उनके इस सौजन्य से स्वयं हमलोगों का सर झुक जाता। फिर स्वाभाविक स्नेह-पगी वाणी में कुशल-क्षेम की जिज्ञासा होती और किसी-न-किसी विषय-पर वार्त्ता आरम्भ हो जाती। सबकी बातों को मनोयोगपूर्वक सुनते और अन्त में बहुत ही शालीनतापूर्वक उसका समर्थन या खण्डन करते। औरों के सामने वैसा होता था या नहीं किन्तु मेरे सामने तो ऐसा अक्सर होता कि बीच-बीच में वे अंग्रेजी के वाक्यों का भी प्रयोग करते थे। और उन चन्द अंग्रेजी के वाक्यों को सुनकर बड़ी खुशी

होती थी। सम्यक् शब्दों का प्रयोग और मुहावरों तथा आधुनिक प्रचलित प्रयोगों से सुसज्जित वाक्य बहुत ही मनोहारी प्रतीत होते थे।

मुझे शुद्ध उच्चारण, प्रांजल भाषा और कर्णमधुर ध्वनि के लिए बहुत ही कमजोरी है। मैं यह कहने में संकोच नहीं करता कि अपने राज्य या अपनी राजधानी के बहुत ही ऐसे कम साहित्यिक मित्र हैं जिनकी वार्त्ता या जिनके भाषण से मुझे परम सन्तोष मिला हो या मिलता हो। कुछ तो यहाँ की मिट्टी में ही यह दोष है और कुछ हमारे सामाजिक जीवन का वातावरण ही ऐसा है जिसमें अपनी बोली की शैली में परिमार्जन लाने की अधिक उत्सुकता नहीं पाई जाती। इसी कारण बहुधा यहाँ के विद्वानों और लेखकों को प्रांत से बाहर जाने पर कुछ असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। वे अपनी कथा-वार्त्ता की शैली से शीघ्र किसी को प्रभावित नहीं कर पाते। इने-गिने अपवादस्वरूप व्यक्तियों की श्रेणी में नलिनजी का स्थान अन्यतम था। मुझे ऐसा कोई भी अवसर याद नहीं आता जब उन्होंने अनजाने भी कोई ऐसी भूल की हो जो एक कुशल भाषा-विद् के लिए अनपेक्षित है। बल्कि सदा यही प्रभाव पड़ता रहा कि जो भी शब्द उनके मुख से निकल रहे हैं, केवल वे ही उस स्थान के लिए उपयुक्त हैं। वे अक्सर रुक-रुक कर बोलते थे। बहुत देर के बाद उनके भाषण में कुछ अधिक गति आ पाती, किंतु आश्चर्य है, उनका यह विलम्ब भी खटकता नहीं था। जब चुने हुए शब्द और प्रभावोत्पादक वाक्य-समूह सामने आते थे तो विलम्बजन्य आकुलता मिट जाती थी। यही भान होता था कि उचित, अनुपम शब्दों के विवेकपूर्ण प्रयोग के हेतु जो प्रयास अवश्यम्भावी था, उसी के कारण वह विलम्ब होता था। उर्दू के शब्दों का प्रयोग वे कम किया करते थे। विशुद्ध, परिनिष्ठित हिंदी ही उनके विचारों का माध्यम रहती थी। बीच-बीच में अंग्रेजी का पुट आ जाता था।

क्लास के भीतर, विभाग या कॉलेज के अन्दर, सभा-सोसाइटियों में, गोष्ठियों एवं कमिटियों में—सभी जगह एक समान अपने व्यक्तित्व की विशालता से प्रभावित करता हुआ विरला ही कोई व्यक्ति पाया जाता है। ऐसी बहूद्देशीय अथवा सर्वतोमुखी प्रतिभा बहुत कम व्यक्तियों को मिली होती है। नलिनजी इस पक्ष में बहुत ही भाग्यवान थे। विभाग में तो क्या विद्यार्थी और क्या सहकर्मी, प्रायः सभी को मैंने केवल प्रशंसक ही नहीं बल्कि कभी-कभी अन्धानुयायी तक पाया। "नलिनजी का ऐसा कहना है"—बस, यह एक वाक्य ही विचारधारा में पूर्णविराम का काम करता था। मस्तिष्क के स्वस्थ विकास के लिए ऐसी अन्ध धारणाएँ सहायक हैं या बाधक, इस जटिलता को मैं मनोविज्ञानशास्त्री के रूप में सुलझाने का प्रयास करना नहीं चाहता। यहाँ मेरा एक-

मात्र अभीष्ट यह सिद्ध करना है कि उस विद्वान प्राध्यापक का क्या रोब था। वास्तव में हम सबों को ईर्ष्यालु बना देनेवाला वह दबदबा था।

ऐसे-ऐसे अवसर भी आए हैं जब उन्होंने अपनी मौलिकता और निर्भीकता का ऐसा परिचय दिया है कि श्रोताओं को स्तम्भित रह जाना पड़ा है। दूसरों के मुँह से उन्हीं बातों को सुनकर हिन्दी-साहित्य की विद्वत्-मण्डली आक्रोश और अवहेलना के भावों से उद्वेलित हो जाती। मुझे ऐसे दो-तीन अवसरों पर उनके विचारों का बहुत ही तीव्र रूप में खण्डन करना पड़ा था परन्तु ऐसे सभी अवसरों पर मैंने दो बातें देखीं। एक तो यह कि उनकी बातों को बिलकुल नहीं पसन्द करते हुए भी श्रोताओं के वचन से या व्यवहार से कोई भी अवमाननापूर्ण प्रतिक्रिया कभी नहीं देखी गई। उनके व्यक्तित्व का ऐसा प्रभाव था कि विरोध करने का साहस साधारणतया किसी को नहीं होता था। और दूसरी बात देखी कि विरोध और खण्डन करनेवाले व्यक्ति के प्रति भी उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं झलकती थी। पूर्ववत् वैसे ही स्नेह और औदार्यपूर्ण व्यवहार से वे अपने विरोधियों का स्वागत करते थे। सच्चे अर्थ में व्यक्तित्व की विशालता इसे ही कहते हैं। कायिक, मानसिक, हार्दिक और नैतिक इन सभी स्तरों पर अलग-अलग और सम्मिलित रूप से भी देखने पर नलिनजी एक "विराट् व्यक्तित्व" के रूप में ही सदा दिखाई देते रहे। मुझे आशा ही नहीं, विश्वास भी है कि वह विराट् व्यक्तित्व आनेवाली अनेक पीढ़ियों के पथ-प्रदर्शन के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करता रहेगा।

✣

जीवन की रंगभूमि में अभिनेता के सिवा सभी हँस ले सकते हैं।

(अप्रकाशित) —न० वि० श०

हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—६

शीशा उनका : परछाईं मेरी

[नलिनजी की अनेक विशेषताओं के साथ असहमति प्रकट करते हुए भी विद्वान कवि 'सहृदयजी' को यह मानना पड़ा है कि—"*नलिनजी की टिप्पणी, कविता, कहानी, अथवा निबन्धों के वाक्य सब निराले और अपने हैं। उनकी एक पंक्ति भी दूसरे के वाक्यों में खपाये खप नहीं सकती। यहाँ तक कि उनके शब्द भी अपने हैं, जिनमें सर्वत्र नालिन्य अभिवाच्य है।*"]

※ ※ ※

आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा से मेरी पहली मुलाकात छपरा नगर के भगवान्

बाजार के धर्मशालावाले चौक पर हुई थी। यह सन् १६३६ ई० की बात है। श्री नलिनजी नौकरी की तलाश में थे और छपरा के राजेन्द्र कॉलेज में लेक्चरर के उमीदवार थे। श्री उमानाथजी उनके पैरवीकार थे और वे नलिनजी को किसी के पास लिए जा रहे थे। नलिनजी के लिए श्री उमानाथजी की असीम श्रद्धा और निर्लोभ सदाशयता जो उस समय जमी, मैं जानता हूँ, कभी हिल न सकी। इसीलिए नलिनजी उन्हें 'जननान्तर सुहृद' कहते थे। उस समय श्री उमानाथजी ने मुझसे नलिनजी का परिचय देते हुए कहा था—"ये महामहोपाध्याय पण्डित श्री रामावतार शर्माजी के सुपुत्र पण्डित श्री नलिन विलोचन शर्मा हैं।"

नलिनजी विशाल शरीर, प्रशस्त ललाट और भव्य आकृतिवाले व्यक्ति थे और श्री उमानाथजी अत्यन्त कृशकाय तथा औसत कद के। उस दिन मुझे पक्षिराज गरुड़ के साथ एक छोटे-से बाज को देखने का मौका मिला और बार-बार दोनों के साहचर्य्य की शक्ति को भी देखने का अवसर प्राप्त हुआ। मणि-कांचन-संयोग यदि कहीं था तो वह नलिनजी और उमानाथजी का था।

मैं उन दिनों पुस्तक-भंडार से प्रकाशित होनेवाले मासिक पत्र 'बालक' में था और आचार्य शिवपूजन सहायजी से मिलने छपरा गया था। जब श्री उमानाथजी ने नलिनजी को मेरा परिचय दिया, तब उन्होंने अपने प्रसन्न मुख-मण्डल और आह्लादमयी दृष्टिकिरणों से मुझे बरबस आप्यायित कर दिया। उस समय नलिनजी की आन्तरिक प्रसन्नता उनके मुखमण्डल से झरती दीख पड़ी। उनके निर्मल साधु स्वभाव की पहली झलक, प्रथम दिन के प्रथम दर्शन में ही मुझे प्राप्त हो गई।

बात यह थी कुछ ही मास पहले उनकी माँ का स्वर्गवास हुआ था। मैंने उनके देहावसान के अवसर पर फोटो के साथ एक टिप्पणी 'बालक' में लिखी थी। उस समय तक नलिनजी के परिवार को निकट से देखने-समझने का अवसर मुझे प्राप्त नहीं था। पर नलिनजी का कहना था कि आपने मेरी माँ के सम्बन्ध में ऐसी टिप्पणी लिखी है, जैसे आप मेरे परिवार के ही व्यक्ति हों और वर्षों से उन्हें देखने तथा समझने का अवसर आपको मिला हो।

बाद में नलिनजी आरा कॉलेज में प्रोफेसर हुए। सन् १६४२ ई० की क्रान्ति के पहले उनसे यदा-कदा मिलता रहा और दिन-दिन परिचय बढ़ता गया। किन्तु, सन्

१६४२ में मैं पूर्णरूप से आन्दोलन में सम्मिलित हो गया। पटने में आन्दोलन-संचालकों की एक टोली थी, जिनके द्वारा प्रान्त-भर में आन्दोलन का सूत्र-संचालन होता था। उस टोली में नलिनजी के एक सहाध्यायी और मित्र श्री अवधेशकुमार सिंह भी थे। अवधेश बाबू आज-कल 'दामोदर वैली कॉरपोरेशन' में किसी अधिकारी के पद पर हैं। नलिनजी की उनसे बड़ी घनिष्ठता थी और वे नलिनजी को आन्दोलन की गति-विधि से अवगत कराते रहते थे। अवधेश बाबू के साथ एक रोज मैं नलिनजी के यहाँ गया। उनको यह जानकर आश्चर्य और आनन्द भी हुआ कि मैं भी आन्दोलन-संचालकों के गिरोह में हूँ। इससे नलिनजी मेरे ऊपर और भी स्नेहवारि बरसाने लगे किन्तु, मुझे पीछे पता चला कि इन कारणों से वे मेरे ऊपर इतना स्नेहशील नहीं हुए थे। ऐसी बात तो उनके स्वभाव में ही निहित थी और सबके साथ वे वैसा ही बर्त्ताव करते थे। उस तरह का शीलनिष्ठ और शिष्टाचार-सम्पन्न व्यक्तित्व मुझे बहुत कम देखने को मिला है।

आन्दोलन के सिलसिले में मैं जब कभी आरा से गुजरता और वहाँ मुझे रुकना पड़ता तो मैं नलिनजी के यहाँ ही ठहरता था। नलिनजी आन्दोलन-सम्बन्धी बुलेटिनों को बड़े चाव से पढ़ते और जाननेलायक बातें मुझसे सुनते थे। सन् १६४५ ई० में मैं जब जेल से छूटकर आया, तब सोशलिस्ट पार्टी का बाजाब्ता सदस्य हो गया। उसके बाद भी नलिनजी से मिलता। आन्दोलन के सिलसिले में सोशलिस्ट पार्टी ने जो काम किया था, उसके प्रति नलिनजी बड़े श्रद्धालु थे और उसके प्रशंसक भी थे। पर जब सोशलिस्ट पार्टी ने पार्लमेंट्री नीति अपना ली और चुनाव जीतने के लिए अन्य पार्टियों से समझौता करने लगी, तब वे सोशलिस्ट पार्टी के कटु आलोचक हो गये थे। नलिनजी साहित्य और कला की तरह राजनीति में भी अपना एक अलग विचार रखते थे। वे अंगरेजियत विचार-धारा के भी घोर विरोधी थे। किन्तु, इन सारे प्रसंगों में भी औरों की तरह उत्तेजित होकर बहुत नहीं बोलते थे, दृढ़ता के साथ सूत्र रूप में ही अपना विचार व्यक्त करते थे।

सन् १६५३ ई० में जब मैं बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् में आया, तबतक वे पटना कॉलेज में प्रोफेसर होकर यहाँ आ गये थे। औरों की तरह मुझे भी उनका नियमित सत्संग प्राप्त होता रहा। अक्सर साहित्य के विविध पक्षों के सम्बन्ध में उनकी बातें सुनने को मिलती थीं। साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी मान्यता मौलिक और अपनी थी। पहले उन्होंने यूरोपीय साहित्य का खूब अध्ययन, चिन्तन और मनन किया, जिससे उनका विचार अत्यन्त आधुनिक हो गया। फलतः साहित्य-सृजन में वे प्राचीन विचार-धारा की

तिलांजलि देते-से लगे और मशाल जलाकर आगे बढ़े। किन्तु, इसी बीच उन्होंने संस्कृत-साहित्य का भी मन्थन किया, तब वे मध्यम मार्ग पर उतर आये। संस्कृत-साहित्य की सूक्ष्मता और मार्मिकता के बड़े ही प्रशंसक हो गये थे तथा अपनी नई कविता में संस्कृत के अर्थान्तरन्यासों का अनुवाद भी भर देते थे। वे कहते थे, संस्कृत-काव्य में जैसा मर्म-स्पर्शी व्यंग्य है, नई कविता में कहाँ देखने को मिलता है ! किन्तु, कुल प्राचीन को वे कदापि विशिष्ट मानने को तैयार नहीं थे और इसे भी कहते थे कि बात पुरानी है—'पुराण-मित्येव न साधु सर्वम् ।'

नलिनजी प्राचीन और नवीन—दोनों में परिष्कार के पक्षपाती थे। वे साहित्य की तरह चित्रकला में भी ऐसा ही विचार रखते थे। किन्तु, चित्रकला में वे अभी भी ज्यादा आधुनिक थे और रंगों से ज्यादा रेखा को महत्त्व देते थे। रेखाओं में भी अल्प और सूक्ष्म रेखा से ही कला की पूर्णता चाहते थे। इसी तरह भाषा के प्रयोग में भी परिष्कार का प्रयोग चलाते थे, जिनमें संस्कृत के अप्रचलित शब्दों के साथ उर्दू के शब्दों का गठबन्धन कराते थे। यही कारण था कि साहित्य के क्षेत्र में भारतीयता में वे यूरोपीय मिश्रण के पक्षपाती थे। कंट्रास्ट उनके विचार और स्वभाव दोनों में वर्त्तमान था। वाणी और लेखनी में ही नहीं, बल्कि व्यवहारपक्ष में भी प्रयोग करते थे। उनके जीवन का मुख्य अंग ही प्रयोग था। बोलने में, लिखने में, सिगरेट पीने में, बैठने-चलने में तथा पहनने-ओढ़ने में भी वे प्रयोगवादी थे। वे जाड़े में भी मलमल का कुरता पहनते थे और सिगरेट ऐसे झटके से जलाते थे, जिसमें दियासलाई की काठी की लपट अपने आप सिगरेट से छू जाय। इसीलिए वे अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में भी प्रयोगवादी हो गये थे। यह प्रयोग उनका पैतृक विरासत था। महामहोपाध्याय शर्माजी मकान बनवाने में तो प्रयोग चलाते ही थे।

नलिनजी के स्वभाव में जैसा शील, गांभीर्य, सौजन्य और औदार्य निहित था, वैसा प्राप्त करना कठिन ही नहीं, असंभव है। किन्तु, यहाँ भी कंट्रास्ट का रंग भरा था। उनके स्वभाव और विचार में एक गंभीर स्वाभिमान निहित था, जो कभी हिलाये हिल नहीं सकता था। हो सकता है, मैं गलत बोलता होऊँ, किन्तु ऐसी मेरी ही नहीं, औरों की भी परिछाईं दीख पड़ती थी। जैसे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में ही उनके हठी स्वभाव का ही प्रयोग चल रहा था। उनके अनेक मित्रों और हितैषियों ने भी उन्हें ऐसा न करने का आग्रह किया था, पर वे अन्त तक अपने ही प्रयोग को सही मानते रहे। इसी तरह उनके विचार और लेखन में भी कहीं से कुछ सुधार का सुझाव आता था, तो वे उस पर

हँसते-हँसते और बहुत ही कम बोलकर टाल जाते थे। जो उन्हें पहले से नहीं जानता था, वह समझता था, मेरा सुझाव मान्य हो जायगा। इतने पर भी यदि वह आग्रहशील रहा तो नलिनजी बहुत ही कम बोलकर दृढ़ भाव से अपनी बात रख देते थे। उनका यहाँ स्वाभिमान बिजली की तरह कौंधकर गहरा आघात कर देता था। इस प्रसंग में एक घटना शायद मेरे इस कथन को और स्पष्ट करे।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के एक वार्षिकोत्सव में उन्हें "हिन्दी भाषा और साहित्य" शीर्षक निबन्ध पढ़ना था। निबन्ध की पाण्डुलिपि तैयार कर मुद्रणार्थ उन्होंने परिषद्-कार्यालय में भेज दी। मैंने जब पाण्डुलिपि पढ़ी, तब मुझे भाषा और साहित्य का विवेचन हिन्दी-साहित्य की समृद्धि के अनुकूल नहीं जँचा। साथ ही विभिन्न विषयों के साहित्यकारों की नामावली में भी त्रुटि दीख पड़ी। उसमें कुछ तो ऐसे लोगों के नाम थे, जो उस निबन्ध के अधिकारी नहीं थे और कुछ ऐसों के नाम नहीं दिये गये थे, जो कीर्त्तिलब्ध और आजीवन साहित्य-सेवी थे। मैंने उसके छपने से पहले इस ओर नलिनजी का ध्यान आकृष्ट किया और अनुरोध किया कि निबन्ध को कुछ और गंभीर बनाया जाय और छुटी नामावली जोड़ दी जाय। पहले तो वे हँसने लगे और धीरे से कह उठे—"ठीक है। जो है, उसे छपने दीजिए। हाँ, अपने सुझाव में से "श्रीसुधांशुजी" का नाम जोड़ दीजिएगा।" मेरे विशेष जोर देने पर बाकी नामों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा—"ज्यादा लिखने से क्या होता है? मैं उन्हें उपन्यासकार और कवि नहीं मानता। जितना है, वही छपेगा।"

वह निबन्ध केवल सुधांशुजी का नाम जोड़ कर छपा और वार्षिकोत्सव में पढ़ा गया। उस समय उत्सव में ही कई लोगों ने निबन्ध पर हो-हल्ला मचाया। वहाँ भी उत्तर देते हुए नलिनजी ने वही बात दुहराई, जिसे उन्होंने मुझसे कहा था।

कई गोष्ठियों और अन्य बैठकों में भी एक बार जिस बात को पकड़ लेते थे, उसे छोड़ते नहीं थे। अक्खड़ लोगों की गोष्ठी में तो वे और भी दृढ़ता दिखलाते थे। किन्तु, ऐसा हठ अपने कुछ अन्तरंग मित्रों और भक्तों के साथ नहीं बरतते थे। उनके लिए तो वे नहीं करना चाहकर भी बहुत बातें करते थे, जिनके लिये वे आलोचना के पात्र भी बनते थे।

सच पूछा जाय तो यह नलिनजी का हठधर्म नहीं था, उनकी विशुद्ध ईमानदारी और उदारता थी। गलत अथवा सही, जो ठीक से समझते थे, वही अपने ढंग से रखते थे। सृजन अथवा आलोचना के क्षेत्र में आज कितने ऐसे साहित्यिक हैं, जो एक सच्चे

ईमानदार साहित्यिक का कर्त्तव्य निभाते हों ? किन्तु नलिनजी अपने आंतरिक भाव के प्रति सच्चे ईमानदार थे। हाँ, वे अपने अन्तरंगों के प्रति अवश्य ढीले पड़ते थे, पर वैसे अन्तरंग बहुत थोड़े थे। यहाँ उनके अभिभावकत्व की छत्रछाया प्रकट होती थी, जिसमें रईसी ठाट भरी होती थी।

गोष्ठियों में गलत और बेढंगी बातें उनके बर्दाश्त के बाहर थीं। एक बार साहित्य-सम्मेलन-भवन की एक गोष्ठी में, एक बेढंगी बात के लिए, अपने एक श्रद्धास्पद और बुजुर्ग व्यक्ति को बहुत ही कड़वी फटकार देनी पड़ी थी, जिसके लिए उन्हें मर्मान्तक दुःख भी हुआ था। यह काम उन्हें गोष्ठी की मर्यादा को ध्यान में रखकर करना पड़ा था। नलिनजी का ऐसा दृढ़ रुख देखकर मैं तो आश्चर्य में पड़ गया था। अपने स्वाभिमान की तरह दूसरे साहित्यिक का भी सम्मान वे उसी दृढ़ता से करते थे। यही कारण था कि साहित्य-सम्मेलन के प्रधान मन्त्रित्व-पद से उन्हें दो बार इस्तीफा देना पड़ा।

हिन्दी-भाषा और साहित्य के लिए उनके मन में बड़ा ही गौरवपूर्ण स्थान था। हिन्दीतर भाषा के बड़े-से-बड़े साहित्यिक जब कभी हिन्दी-साहित्य की असमृद्धता की चर्चा करते, तो नलिनजी का ब्रह्म जाग पड़ता था। उसी गोष्ठी में उसके समृद्ध साहित्य की वे धज्जी-धज्जी उड़ा देते थे और उसकी तुलना में हिन्दी की समृद्धता के अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर देते थे। हिन्दी के अन्य साहित्यिकों की तरह विदेशी विद्वानों के समक्ष वे कभी हीन भाव से ग्रस्त नहीं दीख पड़े। उनके समक्ष नलिनजी के व्यक्तित्व का तेज देखने-परखने लायक होता था। ऐसे स्थानों में नलिनजी का स्वाभिमान देखकर प्रत्येक हिन्दी-हितैषी का मन उत्फुल्ल हो जाता था। उस समय वे महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माजी के उत्तराधिकार का सच्चा प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते थे।

नलिनजी यों तो सभी विषयों के अधिकारी लेखक थे, पर, मेरी दृष्टि में वे सबसे ज्यादा कहानीकार थे। कहानी में मनोविश्लेषण का आधार उनकी कहानी का प्राण होता था, जिसके रखने का ढंग उनका अपना था। वे शरीर से जितना ही विशाल दीख पड़ते थे, विचार और बुद्धि से उतना ही सूक्ष्म थे। इसलिए बड़ी चीज लिखना उन्हें पसन्द न था। बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखनेवालों को वे ऊँचे कलाकार नहीं मानते थे। थोड़े में अधिक बातें कहने के वे प्रबल पक्षपाती थे। वे कला की तरह साहित्य को भी सूक्ष्म मानते थे। इसीलिए उनके निबन्ध भी सूक्ष्मातिरेक के प्रतीक हैं। उनके निबन्धों को, "निबन्ध-लिरिक" कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। बहुत-से लोग उनके प्रबन्धों को सम्पादकीय

टिप्पणियाँ कहते हैं। इसलिए भारी-भरकम ग्रन्थों को स्थूल भावना और स्थूल कल्पना की कृति समझ लेना उनके लिए स्वाभाविक था। इसी बात को नलिनजी अपने ढंग से यों कहते थे—"मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि कोई कैसे बड़ा-बड़ा ग्रन्थ लिख लेता है। मेरे तो चाहने पर भी मुझे ज्यादा मैटर मिलता नहीं।" इस तरह की व्याजस्तुति का ढंग उनका बड़ा निराला और चुटीला होता था। उनकी कृतियों में भी ऐसे गंभीर और तीखे व्यंग्य भरे हैं। अपनी इसी सूक्ष्मता के चलते एक बार वे बेतरह फँस गये। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के व्याख्यानमाला-कार्यक्रम में जो व्याख्यान दिए जाते हैं, उनकी पाण्डुलिपि कम-से-कम २०० पृष्ठों की होती है। नलिनजी ने व्याख्यान तो दे दिया, पर छपने पर सौ-सवा सौ पेज की पुस्तक मुश्किल से हुई। पीछे दो सौ पृष्ठ पूरा करने में उन्हें जैसा-तैसा मैटर भरना पड़ा और उसमें भी उन्हें बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी।

प्रयोगवाद के कारण नलिनजी के वाक्य-विन्यास मुझे उलझनपूर्ण और ऊबड़-खाबड़ लगते हैं। लगता है, बगैर गिलावे के रोड़े एक जगह इकट्ठे हों, जो स्पर्श करने पर खड़खड़ा उठते हों। उनके वाक्य अँगरेजी भाषा की प्रकृति के अनुकूल सोचे जाते थे, पर पंक्तिबद्ध हिन्दी भाषा में होते थे। किन्तु नलिनजी की कहानियों में ऐसी बात मुझे नहीं मिलती। वहाँ कहानी-विज्ञान के अनुसार वाक्य के प्रयोग पाये जाते हैं। जहाँ कहीं मनोविज्ञान की भाषा कहानी में मिलती है, वह कहानी की उत्तमता में चार चाँद लगा देती है। पर आलोचना में अथवा शास्त्रविवेचन में नलिनजी के वाक्य कई स्थलों पर मेरी समझ के परे हैं। इसलिए उनके आन्तरिक मर्म को पकड़ पाना मेरे लिए दुरूह हो जाता है। फिर कविताओं में तो अभिव्यंजना की ऐसी सूक्ष्मता भरते थे, जिसके सूत्र का ओर-छोर ढूँढ़े भी नहीं मिलता है। उनकी कई कविताएँ मुझे गद्य-सी ही नहीं, रूखे गद्य-सी लगी हैं।

नलिनजी की टिप्पणी, कविता, कहानी अथवा निबन्धों के वाक्य सबके सब निराले और अपने हैं। उनकी एक पंक्ति भी दूसरे के वाक्यों में खपाये खप नहीं सकती। यहाँ तक कि उनके शब्द भी अपने हैं, जिनमें सर्वत्र नालिन्य अभिवाच्य है। इसके बावजूद मुहावरेदार भाषा के वे बड़े ही पक्षपाती थे। आचार्य शिवपूजन सहाय के मुहावरेदार वाक्यों की वे भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे और सहायजी के स्वभाव और भाषा-भाव को अपने ढंग में ढालकर उतारना चाहते थे। अपना व्यक्तित्व उनका मौलिक था—पूर्ण था। यों तो नलिनजी न तो किसी की अनुकृति थे और न अनुकरणीय हैं।

अन्त में स्पष्ट कर दूँ कि आचार्य नलिन विलोचन शर्मा एक स्वच्छ निर्मल दर्पण थे, जिसमें हर व्यक्ति अपनी परिछाईं भली-भाँति देखता था। दूसरे लोगों ने जो कुछ देखा, अपनी परछाईं देखी होगी। मैंने केवल अपनी ही परछाईं का यहाँ चित्रण किया है।

✤

परिश्रम का फल स्नेह के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता।

(अप्रकाशित) —न० वि० श०

✤

पत्र-पुष्प

१—अमृतलाल नागर (चौक, लखनऊ)

"स्व० विद्वद्वर पण्डित नलिन विलोचन शर्माजी से प्रत्यक्ष में कभी परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला, उनके साहित्यिक व्यक्तित्व से निःसन्देह परिचित और प्रभावित हूँ। शर्माजी ऊँचे दर्जे के विद्वान् तो खैर थे ही, पर खरे और निर्भीक भी थे। शर्माजी हिन्दी के गद्य और पद्य-साहित्य के पण्डित होने के साथ ही साथ सृजनशील कलाकार भी थे।

शर्माजी आयु में मुझसे छोटे होते हुए भी विद्या में मुझसे कहीं अधिक बढ़े-चढ़े थे। दिवंगत आत्मा के प्रति सादर-सप्रेम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।"

२—उपेन्द्रनाथ अश्क (५, खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद)

"हमने उनके निधन की सूचना 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में पढ़ी थी। दिन भर तो विश्वास ही नहीं आया, क्योंकि कुछ ही महीने पहले इलाहाबाद में उनसे भेंट हुई थी और कुछ घण्टे हम साथ रहे थे। फिर 'लीडर' से तसदीक हुई। ......जाने क्या बात है, जब भी उनके बारे में सोचता हूँ, उनकी सूरत सामने आ जाती है और विश्वास नहीं होता कि नलिनजी अब नहीं रहे।"

३—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ('नया जीवन'-सम्पादक, सहारनपुर, उ० प्र०)

"......सचमुच नलिन विलोचन खूब थे। उनका अभाव तो घाव दे गया।"

४—कामता प्रसाद 'काम' (कामता प्रकाशन, बोरिंग रोड, पटना)

"आपका खत आया। नलिनजी के बारे में क्या लिखूँ? कान उनको मृत्यु का समाचार सुनने को तैयार नहीं थे और कलम कुछ लिखने को तैयार नहीं होती। मुझे तो वे अभी भी जीते-जागते, बातें करते नजर आते हैं।

आदमी की सबसे बड़ी खूबी यह है कि उसे हर कोई अपना समझे, उसके आलोचक और दुश्मन नहीं हों लेकिन प्रशंसक और दोस्त बहुतेरे हों—इस माने में नलिनजी पक्के आदमी थे।

आलोचक की हैसियत से उन्हें आलोचना करनी पड़ती थी पर कभी भी वे इससे विरस और सहानुभूति से विरत नहीं हुए। कृतियों की चाहे उन्होंने लाख आलोचना की पर कर्त्ता के प्रति अपनापन का भाव सतत् मौजूद रहा और यही सबब है कि लेखकों, साहित्यिकों और कवियों की एक बड़ी दुनिया बराबर उनका दोस्त बनी रही। आज के भाव-बट्टा के संसार में उस प्रेम के भाव का नितान्त अभाव प्रतीत होता है और इसीलिये उनका चला जाना और भी खलता है।

एक बार रेडियो पर उन्होंने मेरी 'आसपास की दुनिया' के निबन्धों की आलोचना की थी। मैंने आद्योपान्त सुना था। दो-तीन रोज के बाद मैं जब उनके पास गया मैंने उनसे पूछा कि आपने मेरी 'आसपास की दुनिया' कब पढ़ी? उन्होंने कहा कि आसपास की दुनिया तो आसपास में है ही, उसको पढ़ा तो क्या पढ़ा, मैं आपकी अब तक जो भी किताब निकली है सबको पढ़ गया हूँ और इतना कह कर वे एक एक का नाम गिना गये जैसे उन्होंने जुबानी कण्ठस्थ कर लिया हो।

काया उनकी स्थूल थी पर बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। गंभीरता के तो सागर थे ही पर संयत चुटकियाँ लेने में भी उनका मुकाबला मुश्किल था।

एक बार मैंने उनको खाने पर बुलाया था। राजनीति के दावपेंच और झमेले में से

निकल कर दो घड़ी साहित्यिकों के साथ काटने का अवसर मिलता है तो बड़ा आनन्द आता है। यों तो इस बात का सौभाग्य बराबर प्राप्त होता है कि बड़े-बड़े साहित्यिक मेरे टेबुल पर कृपापूर्वक आते हैं पर नलिनजी जब आते थे तो और भी आनन्द आता था। उस दिन उनके साथ थे केसरीजी और शिवचंद्रजी।

"बात ब्लडप्रेशर पर चल गयी क्योंकि मैं भी उसका रोगी हूँ। मैंने कहा, डाक्टर ने मुझको कम खाने की सलाह दी है।" उसके बाद मैंने नलिनजी से पूछा—"आप भी तो बड़े मोटे हैं, डाक्टर कुछ नहीं कहते?" "नहीं तो" उन्होंने कहा और इसके बाद वे गंभीर भाव से बोले—"मैं भी आपको एक सलाह देना चाहता हूँ।" "क्या?" मैंने पूछा। "यह कि जब आप किसी को खाने पर बुलाइये तो डाक्टर, वैद्य, रोग, दवा आदि की हवा बाँध के ऐसी कोशिश मत कीजिये कि वह कम खाये। इससे अच्छा है कि किसी को बुलाया ही नहीं जाये।"

उनकी बात पर हमलोग ठठाकर हँस पड़े।

इस प्रकार न जाने उनकी कितनी स्मृतियाँ याद हैं और आज भी मुझे हँसाती-रुलाती रहती हैं।"

५—किशोरीदास वाजपेयी (कनखल, उत्तर प्रदेश)

"श्री नलिन विलोचन शर्मा नाम ही हृदय को उद्वेलित कर देता है। वे तरुण थे, परन्तु गौरव परिवृद्ध था। ज्ञान का गौरव उनकी मुख-मुद्रा से टपकता था। लगभग दस वर्ष पहले मुझे ज्ञात हुआ कि महान् विद्वान् पण्डित रामावतार शर्मा के पुत्र श्री नलिन विलोचन शर्मा पटना कॉलेज में प्राध्यापक हैं।......

जब भी पटना जाता था, प्रायः मुलाकात होती थी। दो बार उनके घर भी गया। 'सम्मेलन' में तो कई बार भेंट हुई। वे बोलते कम थे। मेरे सामने तो कभी खुलकर बोले नहीं। मधुर स्मित बिखेरते रहते थे। बहुत गम्भीर थे। असमय चले गए। रहते तो बहुत कुछ उनसे हिन्दी का होता। पर बस किसका!"

६—कृष्णदेव प्रसाद गौड़ (बेढब बनारसी, बड़ीपियरी, काशी)

"इतना जानता हूँ कि वे गम्भीर विद्वान थे और साहित्यिक गतिशीलता उनका आवश्यक गुण था। उनके विचारों में साहित्यिक अध्ययन के साथ मौलिक तथा प्रगतिशील विचारों का सामंजस्य था। अभी तो वह समय आ रहा था जब उनके द्वारा साहित्य का भण्डार भरा जाता, और हिन्दी के पाठक उनके विचारों से लाभ उठाते। काल का क्रूर हाथ उनपर पड़ा, इसकी कल्पना किसको थी? उनकी अवस्था कुछ ऐसी थी नहीं कि वे संसार छोड़ जाते। अभी वे प्रौढ़ हो रहे थे। यों ही हिन्दी में विद्वान विचारकों की कमी है। फिर उस पर दैव का यह आघात हिन्दी के लिए दुर्भाग्य ही समझिए।

बिहार में तो वे जन्मे मात्र। वे तो हिन्दी-जगत् के थे। यहाँ जिससे चर्चा हुई वही इस नक्षत्र के अस्त हो जाने से दुखी है। यह घटना इतनी असामयिक थी कि दुख और तीव्र हो जाता है।"

७—गंगा प्रसाद पाण्डेय (साहित्यकार संसद भवन, इलाहाबाद)

"स्वर्गीय शर्माजी की साहित्यिक प्रतिभा और उनकी कृतियों की नूतन दिशा से तो मैं परिचित हूँ। भेंट भी उनसे हुई थी, पर कभी ऐसा सौभाग्य नहीं मिला कि संस्मरणों की स्मृति संचय हो।"

८—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ('आजकल'-सम्पादक, पुराना सचिवालय, दिल्ली—६)

"......उनकी रचनाओं से मैं अवश्य परिचित हूँ। यह आकस्मिक बात है कि उस शक्तिशाली कलाकार से कभी मेरी मुलाकात तक भी नहीं हो पाई।"

☼

९—जैनेन्द्र कुमार (पूर्वोदय प्रकाशन, फैजबाजार, दिल्ली--६)

"नलिन से पटना ही सूना नहीं बना है, बहुत कुछ उजाड़ हो गया है। मुझे तो लगता है कि अब किस विध पटना पहुँचना होगा! सुना था, साहित्य-क्षेत्र पटना में कुछ उनके लिए सोच रहा है। नलिन की महदाशयता को देखते जो हो, थोड़ा होगा।"

※

१०—मदन वात्स्यायन (टेकनिकल डिपार्टमेन्ट, फर्टिलाइजर फैक्टरी, सिन्दरी, बिहार)

"नलिनजी से मेरी मुलाकात सिर्फ एक बार हुई थी। मैं उनके घर पर गया था। वे अस्वस्थ थे।

नलिनजी के निधन की खबर पाकर दुखी हुआ था। दिवगंत नलिनजी के प्रति श्रद्धांजलि बतावें, निवेदित करूँगा।"

※

११—लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' (आर० ब्लॉक, पटना—१)

"नलिनजी साहित्य से ओतप्रोत थे। थोड़े ही समय में उन्होंने साहित्य-जगत् में अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर लिया था। वह व्यक्तित्व कुछ ऐसा था जिसकी स्मृति में 'नईधारा' का विशेषांक प्रकाशित करना सर्वथा प्रशंसनीय है।

नलिनजी, जैसा हमलोग स्नेह से उन्हें सम्बोधित करते थे, बड़े सरल तथा स्वाभिमानी व्यक्ति थे। हिन्दी-जगत् में उन्होंने अपना जो स्थान बनाया था, वह उनका अर्जित था। इसलिए उनके स्थान पर दूसरा कोई बैठ भी कैसे सकता है! नलिनजी हमारे बीच अब नहीं रहे, कभी आनेवाले भी नहीं हैं, यह बात केवल शोकजनक ही नहीं, बड़ी वेदना-पूर्ण भी है। विधि के विधान के सम्मुख किसका मस्तक नत नहीं है! नलिनजी अपनी कीर्त्ति के रूप में हिन्दी-जगत् में जीवित रहें, यही मेरी कामना है।"

※

१२—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (वाणी-वितान-भवन, ब्रह्मनाल, वाराणसी-१)

"श्री नलिन विलोचन शर्मा के आकस्मिक निधन से हिन्दी भाषा और साहित्य की बहुत बड़ी क्षति हुई है।"

१३—विश्वमोहन कुमार सिंह, ३ टेलर रोड, पटना--१

"नलिन-स्मृति-अंक के लिए आपका कृपा-पत्र मिला। मुझे विश्वास है, आपकी देख-रेख में 'नलिन-अंक' अपने ढंग की बहुमूल्य वस्तु होगा।"

१४—वृन्दावन लाल वर्मा (झाँसी)

"स्व० पं० नलिन विलोचन शर्मा को हिन्दी-पाठक-संसार में कौन नहीं जानता! लगन के सच्चे, बड़े गम्भीर विद्वान और विवेचक एवं प्रतिभा-सम्पन्न कवि और लेखक। उन्होंने अपने असंख्य पाठकों को प्रेरणा प्रदान की। उनके उठ जाने पर सभी को बहुत दुख हुआ।"

१५—शान्तिप्रिय द्विवेदी (लोलार्क कुण्ड, वाराणसी)

" 'नईधारा' कवि और आलोचक पं० नलिन विलोचन शर्मा की स्मृति को स्थायी करने जा रही है, इस स्तुत्य प्रयत्न के साथ मेरा भी हार्दिक अनुराग है। स्वर्गीय शर्माजी से मिलने का अवसर मुझे कम मिला है। मिलने पर उनका प्रसन्नता और स्फूर्ति से पूर्ण व्यक्तित्व मेरी आँखों में सजीव हो सका, वह सदैव जीवन्त बना रहेगा। स्वर्गवासी होकर भी वे मित्रों के हृदय में और साहित्य के पृष्ठों में अमर हैं।

शर्माजी नयी कविता में नकेनवाद के रूप में, प्रपद्य के प्रमुख प्रणेताओं में थे। इसमें उनकी मौलिकता का ही नहीं, उन्मुक्त उत्फुल्लता का भी परिचय मिलता है।

हिन्दी के समीक्षा-साहित्य को उन्होंने अपना गम्भीर अध्ययन, मनन, चिन्तन भी दिया है। बिहार के ही नहीं, अखिल हिन्दी-साहित्य के वे अतल स्पर्शी साहित्यकार थे। ऐसे कृतविद्य का अभाव अखरता है।"

✠

सच्चा बाबू से साक्षात्कार

नगेन्द्र वर्मा
अनुवाद-विभाग, बिहार-सरकार,
सचिवालय, पटना—१

[साहित्यकारों के शब्दब्रह्म में बँधे अनेक संस्कृत-परिष्कृत संस्मरण आपने पढ़े !

अब आप 'माध्यम' के माध्यम से ऐसे दो दुर्लभ संस्मरण सुनिए, जो वाणी से मुखरित होने के पश्चात् वाङ्मय में आबद्ध हुए हैं। ये साहित्य-संसार की हार्दिक कलाकारिता से दूर हैं और अपने आत्मिक उच्छ्वास को उद्भासित करते हैं !

पहली देन है श्री सच्चा बाबू की जो नलिनजी के ३५-३६ वर्षों के ऐसे बाल-साथी हैं कि दो देह एक प्राण !!!]

नलिनजी के घनिष्ठतम मित्र श्री पाण्डेय कपिलदेव नारायण सिंह उर्फ सच्चा बाबू से साक्षात्कार करने चला तो थोड़ी झिझक महसूस हुई। सोचने लगा, पता नहीं वह कैसे आदमी हैं। किस तरह पेश आयेंगे। लेकिन 'नलिन-स्मृति-अंक' के लिए विशेष रूप से

जब मैं उनके निवास-स्थान पर पहुँचा तो क्षण भर में ही मेरी झिझक जाती रही। मैं उन्हें प्रायः हमेशा नलिनजी के साथ धूप-छाया की तरह घुले-मिले देख चुका था और हमलोग एक-दूसरे का नाम-पता जाने बिना कई बार बातचीत भी कर चुके थे। मैंने जब अपने आने का उद्देश्य प्रकट किया तो वह एकाएक गम्भीर हो गए। बोले—'नलिन जी के निधन का घाव इतना गहरा और ताजा है कि उनके बारे में इस तरह जल्दबाजी में कुछ कहना बहुत कठिन है। हमलोग किसी रोज जमकर बैठेंगे तो कुछ बात निकलेगी। आप शायद जानते होंगे कि वह मेरे बालमित्र थे और मैं उनके साथ ३५-३६ साल गुजार चुका हूँ।'

मैंने निवेदन किया—'सच्चा बाबू, जितनी व्यथा आपको बोलने में होगी कदाचित् उतनी ही व्यथा मुझे भी लिखने में होगी, क्योंकि वह मेरे गुरु रह चुके थे और सन् '४६ से मेरा भी उनके साथ अविच्छिन्न और घनिष्ठ सम्पर्क रहा। लेकिन किया क्या जाय? जी मार के अपना कर्त्तव्य तो निभाना ही है। अब यही हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।'

सच्चा बाबू मेरी बातें सुनकर एकबारगी पिघल उठे। स्थिर होकर बोले—'ठीक है। लेकिन बात कैसे शुरू की जाय? कहाँ से शुरू की जाय? यही समझ में नहीं आता। उनकी याद आते ही मस्तिष्क में सैकड़ों बातें उमड़ आती हैं। यदि मैं लेखक होता तो अपने अनगिनत भावों को शब्दों में बाँध देता मगर यूँ बोलने में कई चीजें नहीं आ पाएँगी।'

मैंने जरा मुस्कराकर कहा—'सच्चा बाबू, यदि ऐसा होता तो मैं आपको कष्ट देने क्यों आता? फिर आप और लोगों की तरह स्वयं अपना संस्मरण लिखते। आप चिन्ता न कीजिए। किसी से बात निकालने की थोड़ी कला मुझे मालूम है। मैं पत्रकार रह चुका हूँ। मैं अभी एक प्रश्न रख देता हूँ। आप उसका उत्तर दीजिए। फिर आप-ही-आप एक सिलसिला बँध जाएगा और कितनी बातें खुद-ब-खुद निकल आयेंगी। फिर मैं मन-ही-मन कई प्रश्न तैयार भी कर चुका हूँ। क्रमशः उन्हें पेश करता चलूँगा।'

इस पर वे थोड़ा आश्वस्त हुए और बोले—'तो कौन-सा प्रश्न है आपके मन में?'

'यही कि आपका नलिनजी से कब और कैसे सम्पर्क हुआ?'

प्रश्न सुनते ही उनके चेहरे पर उत्साह की रेखा खिंच आयी। मैंने मन-ही-मन कहा, बचपन याद आ रहा है। अब बोलेंगे। बोले—'अच्छा प्रश्न किया है।' फिर रुककर बोले—'चलिए, ड्राइङ्गरूम में बैठा जाय। वहीं जमकर बाते होंगी।'

हमलोग ड्राइङ्गरूम में दाखिल हुए। सोफे पर बैठते ही उन्होंने नौकर को चाय लाने के लिए कहा और जम्हाई लेते हुए बोले—'कौन-सा प्रश्न किया था आपने?'

मैंने प्रश्न दुहराया। इस बार उनके चेहरे पर थोड़ी चमक दिखाई दी। बोले—'हाँ, नलिनजी से मेरा सम्पर्क बाल्यकाल से ही था। हमलोग बच्चे थे। यही दस-बारह साल की उमर रही होगी हम दोनों की। अगल-बगल रहते थे। आप देखते ही हैं, नलिनजी के मकान और मेरे मकान के बीच कितना कम फासला है।'

मेरे सिर हिलाने पर कहने लगे—'तो इसी कारण हमलोग शीघ्र घुलमिल गये और यों हमलोगों का सम्पर्क ३५-३६ वर्ष तक बिना टूटे, बिना छुए, चला आया। लेकिन काल को यह न देखा गया। उसने छू दिया और हमलोगों का सम्पर्क टूट गया।' अंतिम वाक्य समाप्त करते-करते उनकी आवाज भर्राने लगी और उनकी आँखें भर आयीं।

मेरा मन भी आर्द्र हो उठा। लेकिन क्षण में ख्याल आया कि यदि वक्ता और लेखक दोनों भावुक हो उठें तो यह इन्टरव्यू तीन काल में भी पूरा न होगा। मैं जी कड़ा करने के लिए कुछ कहने ही वाला था कि समय ने हमारी सहायता की। नौकर छोटी-सी मेज पर चाय और नाश्ता रख गया।

सच्चा बाबू ने कहा—'पीजिए चाय। सर्दी का मौसम है। ठंढी हो जायगी।'

मैंने चाय की एक चुस्की लेकर कहा—'नाश्ते की क्या जरूरत थी? चाय ही काफी थी।'

इतना कहना था कि वह विचलित हो उठे। बोले—'आपको मालूम है कि मैं नलिनजी का साथी हूँ। फिर आप मुझसे ऐसी बात करते हैं!'

मैंने तपाक से कहा—'भूल हो गयी। क्षमा कीजियेगा।' और सिर गड़ाकर चाय पीने लगा। थोड़ी चाय पीकर जल्दी-जल्दी नाश्ता समाप्त किया और शेष चाय समाप्त करके जमकर बैठ गया। जब वह भी चाय-नाश्ता समाप्त कर चुके तो मैं जेब से फाउंटेनपेन निकालने लगा। तब तक नौकर पान रख गया। हम दोनों जब पान खाकर स्थिर हो गए तो मैंने कहा—'थोड़ा जी कड़ा कीजिए और मेरे प्रश्नों के उत्तर देते जाइए। मेरे पास भी समय का अभाव है। वरना..........।'

बोले—'जी तो कड़ा नहीं कर सकता। हाँ, चाय पीने के बाद थोड़ा जी जरूर हल्का हो गया है। आप प्रश्नों का सिलसिला शुरू कीजिए। अभी मैं क्या कह रहा था?'

'यही कि पिछले ३५-३६ साल से नलिनजी के साथ आपका सम्पर्क चला आ रहा था।'

'हाँ, तो यह समझिए कि केवल उन्हीं के साथ मेरा सम्पर्क नहीं था। उनके पूरे परि-वार के साथ मेरा सम्पर्क चला आ रहा है और आगे भी बना रहेगा। इसे यों कह सकते

हैं कि मेरे परिवार के सभी सदस्यों का सम्पर्क नलिनजी के परिवार के सभी सदस्यों के साथ चला आ रहा है। एक ओर जहाँ मुझमें और नलिनजी में घनिष्ठता थी, वहाँ मेरे पिताजी और नलिनजी के पिताजी स्व० पं० रामावतार शर्मा में भी कम घनिष्ठता नहीं थी। और इसी प्रकार आज मेरे पुत्र और भतीजे की घनिष्ठता नलिनजी के पुत्र चिरंजीवी कुग्गू (राजीव शर्मा) के साथ है। यह पारिवारिक मैत्री कई पीढ़ियों से पिरो गयी है।'

मैंने कहा—'वाह ! क्या कहना है ! ऐसी मैत्री बहुत कम देखने में आती है।'

थोड़ा रुककर मैंने कहा—'थोड़ा अपने बचपन का संस्मरण सुनाइए न। बड़ा अच्छा रहेगा।'

कहने लगे—'बचपन में हमलोग साथ ही गोली, लट्टू, गुड्डी, कबड्डी, गेंद आदि खेल खेला करते थे। मैं स्कूल में पढ़ता था और नलिनजी घर पर ही अपने पिताजी की देखरेख में संस्कृत और अँग्रेजी पढ़ा करते थे... ......।'

इसी बीच मैंने टोका—'और हिन्दी ?'

बोले—'आज से तीस-पैंतीस साल पहले हिन्दी पढ़ने का चाव नहीं था। अधिक जोर संस्कृत और अंग्रेजी पर ही था या फिर फारसी-उर्दू पर। भी फिर नलिनजी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी पढ़ ही लेते थे। उनके पिताजी के यहाँ बहुत-सी पत्र-पत्रिकाएँ आया करती थीं।'

मैंने पूछा—'बचपन में नलिनजी कैसे थे ?'

कहने लगे—'नलिनजी शरीर से तो हृष्टपुष्ट थे ही। जिन खेलों में बल-प्रदर्शन की गुंजाइश होती उनमें तो हमलोगों से बाजी मार ले जाते लेकिन लम्बी दौड़ों में जी चुराते। गेंद खेलते समय यदि गेंद दूर चली जाती और उन्हें उसे लाना पड़ता तो चिढ़ जाते। यदि कोई एकाएक गेंद 'किक' कर देता तो बेतहर चिढ़ जाते। चाहते कि खेल स्थिर से और हिसाब से हो। यह नहीं कि जो पाये गेंद को यत्र-तत्र उछाल दे।'

मैंने कहा—'इसका मतलब यह हुआ कि वह बचपन से ही अनुशासनप्रिय थे और सब चीज नपी-तुली, यानी चुस्त-दुरुस्त देखना चाहते थे। साहित्य-क्षेत्र में भी उनकी ऐसी ही मनोवृत्ति देखने को मिलती है।'

'बिलकुल।' उन्होंने कहा—'उनकी इस मनोवृत्ति पर उनके पिताजी का भी प्रभाव था। उनके पिताजी स्पष्ट और शुद्ध उच्चारण पर बहुत जोर दिया करते थे। संस्कृत के सम्बन्ध में अपने पिताजी की तरह नलिनजी भी बचपन में कहा करते—यह कोई अंग्रेजी नहीं है कि लिखते हैं कुछ, पढ़ते हैं कुछ। संस्कृत में जो लिखा है वही पढ़ना होगा।

नलिनजी हिज्जे की भूल को बर्दाश्त नहीं करते थे और उसका कारण अशुद्ध उच्चारण ही बताते थे। वह शब्दों को खूब नाप-तौलकर, स्पष्ट और ह्रस्व-दीर्घ का विचार करके बोलते थे। उनके बोलने से ही ह्रस्व-दीर्घ का भान हो जाता था। उनकी यह आदत शनैः-शनैः पुष्ट और परिमार्जित होती गयी।'

मैंने कहा—'बचपन की बातें कितनी मीठी होती हैं।' फिर थोड़ा रुककर कहा—'बचपन में नलिनजी पर डाँट-डपट भी होती थी या सिर्फ दुलार ही होता था?'

सच्चा बाबू बोले—'साधारण। उनके पिताजी पं० रामावतार शर्मा प्रतिदिन प्रातःकाल पैदल गंगास्नान करने जाते। कभी-कभी आलस के कारण नलिनजी सुबह में उठने में कोताही करते लेकिन उनके पिताजी उन्हें नहीं छोड़ते। इस मानी में नलिनजी के पिताजी बड़े कठोर थे। अन्यथा खिलाने-पिलाने, पहनाने-ओढ़ाने में नलिनजी का बहुत आदर-मान करते थे पंडितजी। बचपन में नलिनजी को सिनेमा देखने को न मिलता। नाटक में या सभा-सोसाइटी में जहाँ पंडितजी स्वयं जाते वहाँ नलिनजी को भी साथ लिये जाते। इसी कारण शायद बाद में नलिनजी को नाटक से अधिक प्रेम हो गया।'

मैंने पूछा—'लेकिन नलिनजी सिनेमा भी तो देखते थे?'

'हाँ, देखते थे। बहुत कम। कोई उच्च-कोटि की हिन्दी, बँगला या अँग्रेजी फिल्म आ गयी और मित्रों की राय हुई तो देखने चले गए। कभी रद्दी खेल में फँस गए तो बीच में ही उठकर चल दिए।

बचपन की बात है। एक बार हातिमताई फिल्म आयी। यह फिल्म पाँच-छः सीरिजों में और सवाक फिल्म थी। तब सवाक फिल्मों का निर्माण शुरू ही हुआ था। नलिनजी ने पहले ही सभी सीरिजों का टिकट कटा लिया था। लेकिन जब देखने गए तो एकाध सीरिज के बाद उठकर चले आए।

मैंने कहा—'नलिनजी की रुचि बड़ी परिष्कृत थी। है न?'

बोले—'एकदम परिष्कृत थी, बल्कि यों कहिए कि बड़े ऊँचे स्तर की थी। उनकी यही रुचि पत्र-व्यवहार, प्रूफ-संशोधन या सम्पादन-कार्य में परिलक्षित होती थी। किसी पुस्तक में अशुद्धियाँ या अनर्गल बातें होतीं तो उन्हें सुधार देते या शुद्धि से परे रहने पर किताब ही फेंक देते।'

मैंने कहा—'किताबों के तो वह बड़े शौकीन थे। उनके पास प्रतिदिन लेखकों और प्रकाशकों के यहाँ से सम्मति-समीक्षा के लिए पुस्तकें आती रहती थीं। इसके अलावा वह पुस्तकें खरीदते भी तो थे?'

'हाँ, हाँ, खूब खरीदते थे। यही समझिए कि हर महीने चालीस-पचास रुपए की

पुस्तकें खरीदते थे । कोई बहुत धनी आदमी तो थे नहीं । प्रोफेसर थे । मध्यम वर्ग के आदमी थे । ऐसी दशा में हर महीने चालीस-पचास रुपए की किताबें खरीदना कोई मामूली बात नहीं है ।'

मैंने जरा हँसकर कहा—पुस्तकों के साथ-साथ वह सिगरेट के भी शौकीन थे । क्यों ?'

इस पर बोले—'सिगरेट के शौकीन नहीं, लेकिन उसके आदी जरूर थे और इसपर भी हर महीने चालीस-पचास रुपए व्यय कर डालते थे ।'

मैंने कहा—'आप टोकते नहीं थे ?'

बोले—'रुपए के लिए क्या टोकता ? वह तो पूरे शाहखर्च थे । जेब में सौ-पचास डाल दीजिए, सब खर्च कर डालेंगे । अलबत्ता अधिक सिगरेट पीने के लिए टोका करता था । जब-जब टोकता तो कहते—मैं सिगरेट पीता नहीं हूँ, जलाता हूँ । तुमलोग नाहक खफा होते हो । मैं कभी धुँआ गले के नीचे नहीं उतारता....इसके बाद फिर क्या कहता ? इतने सज्जन और प्रेमी थे कि उनके साथ हठ करते भी न बनता था ।'

मैंने कहा—'हठ शब्द के संदर्भ में मुझे नलिनजी के संबंध में भी एक प्रश्न करना है । उन्हें हठी तो नहीं कह सकता....लेकिन...लेकिन शायद आप सहमत हों कि वह कुछ धुनी या कुछ इसी तरह के व्यक्ति थे ?'

बोले—'हाँ, हाँ, कहिए । संकोच क्यों करते हैं ? वह हठी तो नहीं, परन्तु धुनी जरूर थे और पक्के धुनी थे । जो विचार मन में ठान लेते थे उसे करके ही छोड़ते थे । अपने दृढ़ निश्चय से कभी नहीं डिगते थे जिसका अंत में इतना दुखद परिणाम हुआ कि उनकी मृत्यु तक हो गयी । डॉक्टरों की हिदायत के अनुसार उनका आहार नियमित था । लेकिन उसमें तो इतनी अतिशयता कर दी कि अंत के दो-चार दिनों में सिर्फ एक पापड़ और एक प्याली चाय पर ही काट दी । जिन लोगों ने उन्हें बहुत निकट से देखा है और जो यह जानते हैं कि वह खाने-खिलाने के कितने शौकीन थे उन्हें यह जानकर मार्मिक कष्ट होगा ।'

इतना कहकर वे गम्भीर हो उठे । सिर पर हाथ फेरते हुए पलकें मूँद लीं । मैं भी थोड़ी देर तक ओठ से फाउंटेनपेन सटाए मौन रहा । क्षण भर के लिए उस सजे-सजाए ड्राइंग-रूम में एक हल्की उदासी व्याप्त हो गयी । मैंने अपनी घड़ी पर नजर डाली तो कुछ घबराहट मालूम हुई । मैं उनके घर पर करीब साढ़े पाँच बजे पहुँचा था । अभी नौ बज रहा था । मैंने मौन भंग करने का उपाय सोचा । बोला—'पान की पीक इस खिड़की से फेंक सकता हूँ ?'

बोले—'हाँ, हाँ, फेंक दीजिए।'

इसके बाद कुछ तसल्ली हुई तो बोला—'सच्चा बाबू, अंत के दिनों में अपनी धुन के चलते भले ही वह पापड़-चाय पर रहे हों लेकिन सुना है कि वे खाने-पीने और साथ ही पहनने-ओढ़ने के काफी शौकीन थे?'

कहने लगे--'ठीक ही सुना है आपने। खाने-पीने के सिर्फ शौकीन ही नहीं थे, अक्सर खुद बढ़िया भोजन तैयार किया करते थे और पाकशास्त्र में बराबर नए-नए प्रयोग भी किया करते थे। भिन्न-भिन्न चीजों के स्वाद अपने-अपने होते हैं यह उनसे बढ़कर कोई नहीं जानता थाँ। हरे मटर और टमाटर वह बहुत स्वाद से खाते थे और कई तरह मे उसकी तैयारी करते थे। मसाला बहुत कम खाते थे। आमिष पदार्थों में भी वह नाममात्र का मसाला पसन्द करते थे। कहते थे कि इनका अपना अलग-अलग स्वाद होता है जो कि मसालों से नष्ट हो जाता है। कोई-कोई इसे अँगरेजी नफासत भी कहते हैं लेकिन नलिनजी इससे बहुत दूर थे। न परम्परा, न संस्कृति, न विचार ही उनके अँगरेजी थे। यद्यपि कभी-कभी अँगरेजी शैली से सोचते थे लेकिन सब चीजों में वह अपना स्वतंत्र विचार रखते थे और बराबर कोई-न-कोई प्रयोग किया करते थे।'

इसपर मैं छूटते ही बोला—'जैसे साहित्य में प्रपद्यवाद और नकेनवाद का प्रयोग?'

बोले—'साहित्य-शास्त्र में उनके द्वारा किए गए प्रयोगों के बारे में तो आप ही लोग कह सकते हैं, लेकिन पाकशास्त्र में भी वे प्रयोग करते थे। क्षण भर रुककर वे फिर बोले—'तो यही समझिए कि वह सिर्फ प्रयोग ही करना नहीं जानते थे, बल्कि उसमें सफल भी होते थे।'

मैंने कहा—"उनके वस्त्रादि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा?"

"हाँ, हाँ। आप तो देखते ही थे कि वह बराबर धोती-कुरता पहना करते थे। ऐसे कॉलेज के दिनों में कभी-कभार सूट भी पहना था। जाड़े के दिनों में लौंगकोट पहनते थे। अधिक सर्दी पड़ने पर भीतर पुलओवर भी डाल लेते थे। ऐसे तो इसे सादी पोशाक कह सकते हैं लेकिन इसे वह सुचारु रूप से और करीने से पहनते थे। कपड़े सब दामी रखते थे और उन्हें अच्छे. नामी दर्जियों से सिलवाते थे। मामूली दुकानों में कभी भी कपड़ा नहीं सिलवाते थे। उनको कभी किसी ने गंदे वस्त्र में नहीं देखा। इसीलिए आपसे कहा कि वह कपड़े के बड़े शौकीन थे।'

मैंने कहा—'ठीक ही कहा।' थोड़ी देर सुस्ताने के बाद कहा—"देखा किस तरह प्याज के छिलके की तरह बात पर बात निकलती आ रही है! और फिर देखिए, कि

नलिनजी की शौकीनी की बात चली तो मैं पूछना चाह रहा हूँ कि नलिनजी की हॉबी क्या थी ? यानी उनके और कौन-कौन से शौक थे ?'

इसपर वे हँस पड़े। नलिनजी की तरह बड़े मिलनसार और जिंदादिल आदमी हैं बच्चा बाबू। बोले—'शौक से पूछिए, लेकिन जान लीजिए कि अब बारह बजेगा।'

मैंने भी हँसकर कहा—'रात के बारह से कोई भय नहीं, मैं घड़ी देख चुका हूँ। अभी साढ़े दस हुआ है। ग्यारह-साढ़े ग्यारह तक आपका पिंड छोड़ दूँगा। बारह बजे अपने घर पर ही रहूँगा।'

हम दोनों हँसने लगे। फिर मैंने कहा—'कृपया नलिनजी की हॉबी पर कुछ कहिए! कहीं यह बात छूट न जाय।'

इस पर वे इतमीनान से बोले—'सच पूछिए तो उनकी हॉबी थी पढ़ना। दिन-रात पढ़ने-पढ़ाने में ही लगे रहते थे। एक उदाहरण देता हूँ जिससे सहज में ही आप उनकी अध्ययन-प्रियता का अन्दाजा लगा सकते हैं। एक बार वह मियादी बुखार से पीड़ित थे लेकिन अध्ययन का सिलसिला वही था। हाँ, जहाँ पहले रात को दो-तीन बजे तक पढ़ा करते थे उसके स्थान पर बारह बजे तक पढ़ा करते थे। डॉक्टर ने मना किया, न माने। मित्रों ने डिगाया, न डिगे। जब मैंने सीरियस होकर कहा तो बोले—देखो, पढ़ना हमारा जीवन है। तुम्हारे या किसी अन्य व्यक्ति के कहने से मैं इसे नहीं छोड़ सकता। मैं लाचार हूँ। दवा करनी हो तो करो नहीं तो छोड़ दो। फिर मैं क्या करता ? चुप हो गया।'

मैंने कहा—'ठीक ही है।' थोड़ी देर रुककर बोला—'अच्छा, उन्हें चित्रकला वगैरह से भी तो शौक था ?'

बोले—'हाँ, चित्रकला से शौक था।' इसे उनकी दूसरी हॉबी कह सकते हैं। ऐसे वह चित्रकला के बड़े मर्मज्ञ थे। प्राचीन और आधुनिक चित्र-शैलियों के अच्छे पारखी थे।'

मैंने कहा—'वह किस शैली के चित्र बनाते थे ?'

बोले—'उनकी अपनी ही शैली थी। कहा न कि वह सब चीजों में प्रयोग किया करते थे। उनके चित्र कुछ विचित्रता, या कहिए विशिष्टता लिए होते थे।'

'पिकासो वगैरह टाइप की चीज ?' मैंने पूछा। 'नहीं।' बोले—'ऐसे पिकासो उनके प्रिय कलाकार थे पर कदाचित् वह पिकासो से प्रभावित नहीं थे।'

मैंने पूछा—'उनके चित्रों के विषय क्या होते थे ? यानी प्रकृति आदि का चित्रांकन करते थे या मनुष्य, पशु-पक्षी आदि का ?'

बोले—'प्रकृति का चित्रांकन तो कम ही करते थे, ज्यादा मनुष्य-जीवन का चित्रांकन

करते थे। ज्यादातर रेखाचित्र ही बनाते थे। उनमें आकृतियों को अपने ढंग से उभारते थे।'

मैंने हँसकर कहा—इसीसे उनकी चित्र-शैली पर थोड़ा प्रकाश पड़ गया। अच्छा, यह बतलाइए कि मनुष्य-आकृति के चित्रांकन में वह लाइफ का चित्रांकन करते थे या मूड्स का ?'

बोले—'मुख्यतः मूड्स का चित्रांकन करते थे। इसके अलावा उन्हें 'लेटरिंग' करने का बड़ा शौक था और अपने ढंग की अच्छी 'लेटरिंग' करते थे। आपने 'कविता' पत्रिका के कभर की 'लेटरिंग' तो देखी होगी। वह उन्हीं की की हुई है। वह पुस्तक के गेटअप आदि पर खास ध्यान देते थे और इस संबंध में लोगों को परामर्श भी दिया करते थे। इस संबंध में खास 'सेन्स' रखते थे। न भड़कदार, न रंगीन और न सादा। तीनों में किसी चीज की अति नहीं चाहते थे। साफ-सुथरा और परिष्कृत गेटअप पसन्द करते थे। उनकी अन्तर्दृष्टि बड़ी प्रखर और सौन्दर्य-बोध बड़ा परिष्कृत था। किसी चीज की विचित्रता देखकर आकर्षित होते थे और उसमें गुण की खोज करते थे। उनके साथ-साथ उनकी पत्नी भी चित्र बनाती हैं और यह तो इस कला में सिद्धहस्त हैं। और सजावट की कला में तो बहुत कुशल हैं। किसी चीज को करीने से सजाना उन्हें खूब आता है। नलिनजी के ड्राइंगरूम, बुकसेल्फ वगैरह को वही सजाकर रखती थीं। नलिनजी अपने साथ तरह-तरह के चिट-पुर्जे लिए चलते थे। उन्हें उनकी जेबों और हैंडबेग से निकालकर सहेजकर यथास्थान रखना, फिर नलिनजी द्वारा अस्त-व्यस्त छोड़ी हुई पुस्तकों को यथास्थान, सिलसिले से रखना उन्हीं का काम था। नलिनजी के ड्राइंगरूम में जो चित्र टँगे हैं उनमें से अधिकांश उनकी पत्नी की ही कृतियाँ हैं और शेष अन्य कलाकारों द्वारा भेंट-स्वरूप मिली हैं।'

मैंने कहा—'नलिनजी को चित्रकला की शिक्षा भी मिली थी या यों ही···।'

बोले—'जी नहीं, चित्रकला की शिक्षा तो नहीं मिली थी, पर संगीत-कला की शिक्षा तो जरूर मिली थी। उनके पिताजी ने संगीत-कला की ट्रेनिंग के लिए ट्यूटर भी रख दिया था, पर वह संगीत की शिक्षा न ले पाए। ऐसे संगीत सुनने के बड़े प्रेमी थे।'

मैंने कहा—'और कुछ ?'

बोले—'ऐसे तो उन्हें कल-पुर्जे ठीक करने का भी शौक था। यह इसलिए कह रहा हूँ कि आपलोग समझते होंगे कि वह कोरे साहित्यिक ही थे। साहित्यिक होने पर भी उन्हें मशीन के कल-पुर्जे ठीक करने, उनकी मरम्मत करने में बड़ा मन लगता था। अपनी मोटर बिगड़ने पर स्वयं ठीक कर लेते थे और स्वयं गाड़ी हाँकते भी थे। हाल में ही

अपने एक मित्र के यहाँ शादी में शरीक होने के लिए अपनी कार से आरा जा रहे थे। फुलवारी शरीफ के पास कार बिगड़ गयी। मूसलधार पानी हो रहा था, परन्तु जैसे ही पानी कुछ कम हुआ तो बॅनेट खोलकर गाड़ी का कल-पुर्जा ठीक करने लग गए। यद्यपि वह इधर काफी कमजोर हो गए थे और खान-पान पर कठोर नियंत्रण रखे हुए थे, फिर भी परिश्रम कर उसे ठीक ही करके छोड़ा और उस पानी में ही आरा गए और शादी में शरीक होकर रात में ही पटना लौट आए, क्योंकि सुबह में कॉलेज जाना था।'

अब समय काफी हो चला था इसलिए मैंने अत्यन्त संक्षेप में ही प्रश्न पूछना शुरू किया। 'नलिनजी का पारिवारिक जीवन कैसा था ?'

'बहुत 'अच्छा।' कहने लगे—'जो आदमी बाहर प्रेम और स्नेह लुटाता था उसके घर का क्या कहना ! वह सबसे स्नेह रखते थे। सबको प्यार करते थे।'

मुझे एक प्रश्न याद आया। अच्छा, यह बताइए कि आपसे उनकी कभी नोंक-झोंक भी होती थी ?'

हँसने लगे। बोले—'हाँ, होती थी। बाल्यकाल से ही। लेकिन बहुत मधुर। मुझे गणित से दिलचस्पी थी और उन्हें साहित्य से। इस पर वाद-विवाद चलता तो वे कहते—तुम बहुत 'हिसाबी' हो ! 'हिसाबी' पर क्यों जोर देते थे, यह आप समझ गए होंगे। इसके अलावा जहाँ मुझे शतरंज से दिलचस्पी थी वहाँ उन्हें ताश से थी। ताश मैं भी उनके साथ खेलता था, लेकिन कभी-कभी शतरंज में बुरी तरह फँस जाता था और उनके साथ घूमने-फिरने न जा पाता था तो खिसिया जाते थे और प्रेमचन्द के 'शतरंज के खिलाड़ी' का हवाला देते हुए कहते थे—'यह अफीमचियों का खेल है। अमूल्य समय का अपव्यय है।' कभी-कभी मैं उनकी स्थूलता पर व्यंग्य करता तो छूटते ही मेरी क्षीणता पर हँसते और मेरी उपमा 'जूड़ी-ताप' वाले पोस्टर या बंगाल के अकाल-पीड़ितों से दे डालते। नलिनजी हास-परिहास में बड़े सरस और हाजिरजवाब थे। कभी चूकते नहीं थे। प्रत्युत्तर बहुत ही परिमार्जित, मर्यादित और हास्योत्पादक होता था। बाहर से जैसे गम्भीर लगते थे उसके विपरीत भीतर से वह बड़े विनोदी थे।'

क्षणिक विराम देने के लिए हम दोनों चुप हो गए। इसी बीच मैंने घड़ी देखी तो अनायास थकावट और बेचैनी महसूस हुई। फिर सच्चा बाबू पर ध्यान गया। सोचा, अब इन्हें काफी कष्ट होगा। शरीर झाड़कर उठने का उपक्रम करते हुए मैंने कहा—'सच्चा बाबू, आपको बहुत कष्ट दिया। फिर दो-चार बातें पूछने का लोभ भी हो रहा है !'

बोले—'मुझे तो कोई कष्ट नहीं हो रहा है। आपके लिए चिंता हो रही है। आपको दूर जाना है। अब तो निश्चित ही बारह बज जायगा।' फिर रुककर बोले—'वह तो

कहिए कि नलिनजी न रहे वरना मैं अभी आपके साथ न होकर उनके साथ होता। मेरा तो आधा अंग ही कट गया.......।'

उनकी बात सुनकर मैं कातर हो उठा। मेरा सिर झुक गया। थोड़ी देर में सर उठाया तो उनकी करुणार्द्र मुद्रा देखकर मैं भी व्यथा से अभिभूत हो उठा। उनसे कुछ ज्यादा पूछने की हिम्मत न हुई। सच्चा बाबू मेरा भाव ताड़ गए। बोले--'ठीक है। पूछिए न, और क्या पूछते थे?'

मैंने कहा—'अब कुछ पूछना नहीं है। यों ही आखिरी टच देने के लिए एकाध और पूछना चाहता था।'

'पूछिए न, कोई बात नहीं है।'

मैंने कहा—'सच्चा बाबू, यदि संक्षेप में पूछा जाय कि उनके जीवन की कौन-सी मुख्य विशेषताएँ थीं, तो आप क्या कहिएगा?'

सच्चा बाबू बोले—'वे अत्यन्त सहिष्णु और उदार थे। इस सम्बन्ध में एक किस्सा भी सुनाऊँगा। वे बहुत मिलनसार, बड़े संकोची, प्रेमी, न्यायप्रिय, धैर्यवान् और अतिथि-सेवी थे। उनके घर पर अनेक गण्य-मान्य साहित्यिक आते रहते थे। ठहरते भी थे। सबका बहुत आदर-सत्कार करते थे।' इतना कह कर वह चुप हो गए तो मैंने कहा—'कौन किस्सा कह रहे थे आप?'

इस पर वे हँसने लगे। फिर गम्भीर हो गए। बोले—'मामूली बात नहीं। देखिए, उनके एक मकान में हाईकोर्ट के एक वकील रहते थे। पाँच-छः साल का करीब चार-पाँच हजार किराया बाकी था। हमलोगों ने बहुत तंग किया। कागज वगैरह तैयार करवाया और जब डिग्री हो गयी तो उनसे बिना एक पैसा लिए ही सुलह कर ली! हमलोगों ने कहा कि यह क्या कर दिया आपने? तो सहज भाव से बोले—'जाने दीजिए। मकान छोड़ दिया। यही बहुत है।'

मेरे मुँह से निकल पड़ा—'धन्य हैं वह!'

रात के लगभग बारह बजे जब मैं सच्चा बाबू के घर से विदा हुआ तो तबीयत कुछ अजीब-सी हो रही थी। सच्चा बाबू और नलिनजी की युगल-जोड़ी में काल ने जो व्यवधान डाल दिया था उसे सोचकर मैं मर्माहत हो उठता था। ऐसी मित्रता क्या आज चिराग-हूँढ़े भी मिल सकती है?

✱

पाण्डेय कपिल

सहायक अनुवादक, बिहार सरकार, सचिवालय, पटना-१

गंगा ने बताया

[यह दूसरी देन उस गंगा की है जो अपने उद्‌गारों में सुरसरि का पर्याय है और 'महतो' होकर महत्तम, केवल अपनी ममता के कारण !!!

कपिलजी की करुणाकुल जिज्ञासा और अपने असमर्थ समाधान की उर्मियों में तरंगायित 'गंगा' की ये लहरें किन-किन कगारों को आर्द्र करेंगी, कौन जानता है !!!]

गंगा महतो बीते दिनों की स्मृतियों से अभिभूत होकर कहने लगा—

"नलिन बाबू के पिता पंडित रामावतार शर्मा के मोटर-ड्राइवर मेरे बूढ़े उस्ताद थे ।

एक दिन वे पंडितजी के सामने मुझे ले आये और बोले—'बाबा, मेरा बूढ़ा शरीर काम नहीं दे रहा है। अब मेरे इस चेले को ही अपनी सेवा में रख लीजिए।' तब से मैं ही बाबा का मोटर-ड्राइवर हो गया, और उनकी जिन्दगी भर उन्हीं की सेवा में रहा।"

मैंने पूछा—"पं० रामावतार शर्मा को क्या तुम 'बाबा' ही कहते थे?"

गंगा ने कहा—"हम सभी उन्हें 'बाबा' ही कहते थे। नलिन बाबू भी उन्हें 'बाबा' ही कहते थे। यहाँ तक कि माताजी भी उन्हें 'बाबा' ही कहा करती थीं।

मैंने जिज्ञासा की—"तब नलिनजी की उम्र क्या थी? उनके बचपन के बारे में तो तुम बहुत-सी बातें बता सकते हो?"

गंगा ने छूटते ही कहा—"नलिन बाबू तो हुजूर, तब छः-सात साल के बच्चे ही थे। जब आपस में झगड़ा होता था तो हम बाबा से रिपोर्ट करते थे, और जब उनसे मार पड़ती थी तो हम्हीं बचाते भी थे हुजूर!"

"आपस में किससे झगड़ा होता था?" मैंने पूछा।

गंगा बोला—"झगड़ा नहीं होता था हुजूर! बबुआ लट्टू का खेल खेलते थे। दिन-भर लट्टू। बाबा कालेज गए नहीं कि बस लट्टू लेकर तीनों साथी खेल में जुट पड़ते थे। एक थे मुरारी बाबू, बाबा के नाती यानी बड़ी बेटी के बेटा। दूसरे थे बाबा के भतीजे लल्लन बाबू, जो आजकल भागलपुर में डाक्टर हैं। और तीसरे थे हमारे बबुआ—नलिन बाबू। ये तीनों लगभग एक ही उम्र के थे और आपस में दिन-भर लट्टू का खेल खेलते थे। खेल-खेल में कभी-कभी झगड़ा हो जाय, तो हम बाबा को बोल देते थे। बस, बाबा तीनों को दुरुस्त करना शुरू कर देते थे।"—कहते-कहते गंगा न जाने क्यों रुक गया।

उसकी वाग्धारा को पुनः प्रवाहित करने के लिए मैंने पूछा—"क्या बाबा बच्चों को बहुत मारते थे?"

गंगा दोनों हाथ जोड़कर सिर से लगाते हुए बोला—"ना सरकार, ना। बाबा तो देवता थे। वे बच्चों को बहुत मानते थे। मिठाई और फल खिलाते थे। लड़के लोग जब पढ़ने से जी चुराते थे या खेल-खेल में झगड़ते थे, तभी मारते थे। बाबा बड़े कड़े

गार्जियन थे हुजूर ! जो उनमें साथ में नहीं सुधरा, वह कभी नहीं सुधर सका हुजूर !" गंगा की आँखें गीली हो गई थीं।

थोड़ी देर रुक कर वह फिर बोला—"नलिन बाबू को तो वह बहुत मानते थे। जी-जान से भी ज्यादा। उन्हें कभी-कभी अपने साथ घुमाने के लिए भी ले जाते थे। गंगा-स्नान के लिए रोज सबेरे उन्हें अपने कंधे पर बिठाकर ले जाया करते थे।"

"क्या बाबा गंगा-स्नान को रोज जाते थे ?"—मैंने पूछा।

"रोज, नियम से, पैदल जाया करते थे। एक हाथ में लाठी, दूसरे में ताँबे का गगरा। कंधे पर नलिन बाबू। साथ में दो-चार चेले-चटिए। कभी-कभी माताजी भी साथ जाती थीं।"

मैंने पूछा—"लाठी क्यों ले जाते थे ? क्या बराबर लाठी लेकर ही चलते थे ?"

गंगा हँसते हुए बोला—"एक दिन यही सवाल मैंने भी बाबा पूछ दिया। बाबा भोजपुरी में बोले—'रास्ता में कुक्कुर बड़ा तंग करेलेसन हो। एही से लठिया ले लीहीले।' इस पर मैंने बाबा से पूछा कि पटना से बाहर जाते समय भी लाठी क्यों ले जाते हैं, तो बाबा बोले—'बाहर शास्त्रार्थ में पंडितन के दुरुस्त करे खातिर लाठी ले जाइले'।" कहते हुए गंगा ठठाकर हँस पड़ा।

मैं नलिनजी के बचपन से सम्बन्धित प्रश्न पूछने ही वाला था कि गंगा ने 'बाबा' के किस्से सुनाने शुरू कर दिए। और, मैंने भी उसे अप्रासंगिक होने देने में बाधा नहीं उपस्थित की। सोचा, नलिनजी के ही माध्यम से गंगा के मुँह से 'बाबा' के विषय में भी कुछ जान लेना एक सौभाग्यशाली सुयोग ही है।

गंगा ने कहा—"एक बार, सिर्फ एक बार बाबा मुझसे नाराज हुए थे। बात ऐसी हुई कि उनके कालेज से लौटने के समय मैं दस मिनट के लिए अपने घर चला गया था, जो कालेज के सामनेवाली गली में पड़ता था। आने में सिर्फ पन्द्रह मिनट की देर हो गई। बाबा टाइम पर कालेज से आकर गाड़ी में बैठ गए और पन्द्रह मिनट तक बैठे रहे। लेकिन जब तक मैं पहुँचूँ तब तक, बाबा गाड़ी से उतर कर पैदल ही घर चल पड़े। मैंने पहले पिंटू होटल के सामने, फिर खुदाबक्श लाइब्रेरी के पास और उसके बाद बी० एन०

कालेज के सामने तीन बार गाड़ी से उनका रास्ता रोका। मगर बाबा कतरा-कतरा कर निकल गए। पैदल ही घर आए। उसके बाद, तीन दिनों तक मैं कालेज चलने के समय गाड़ी बाहर निकालता रहा, मगर वे चुपचाप पैदल चले जाते थे। चौथे दिन से मैंने गाड़ी निकालना बन्द कर दिया। इस पर नलिन बाबू बोले—'आज हमरे अइसन तुहूँ खूब पिटइब'। माँ ने भी समझाया—'तू आपनो फजीहत करइब, आ बाबा घर-भर के सिर पर उठा लीहें।' मगर मुझे भी जिद हो गई थी। तीन-चार दिन के बाद एक दिन बाबा ने मुझे बुलाया और कहा—"गंगा! जे भइल, से भइल। निकालऽ गाड़ी।' हम दोनों की जिद जाती रही और बाबा के लिए मेरे दिल में पहले से भी ज्यादा 'सरधा' बढ़ गई।"

यह किस्सा खत्म होते ही, मैंने नलिनजी के बारे में प्रश्न किया—"नलिनजी की पढ़ाई-लिखाई का क्या सिलसिला था? किस स्कूल में वे पढ़ते थे? बाबा उन्हें पढ़ाते थे या नहीं?"

गंगा बोला—"बाबा को सात बजे शाम को टाइम मिलता था। उसी टाइम में वे लगभग डेढ़-दो घंटे नलिन बाबू को पढ़ाते थे। संस्कृत और अंगरेजी की पढ़ाई पर विशेष जोर बाबा देते थे। नलिन बाबू स्कूल में पढ़ने के लिए नहीं जाते थे। धर्मेन्द्र ब्रह्मचारीजी, जो बाबा से पढ़ने आते थे, वे भी नलिन बाबू को पढ़ाया करते थे। बाबा दिन-भर की पढ़ाई नलिन बाबू को समझा देते थे, और जब उतना काम वे पूरा नहीं करते थे तो उनकी पिटाई होती थी। एक बार मैं गाड़ी साफ कर रहा था। थोड़ी दूर पर बाबा नलिन बाबू को पढ़ा रहे थे। कोई पाठ याद नहीं था। बस, बाबा ने उन्हें बेंत से पीटना शुरू किया। तीन बेंत लगते-लगते मैं दौड़कर पहुँचा और नलिन बाबू को छापकर बैठ गया। इसी में मुझे भी जोर से एक बेंत लग गई। बाबा ने कहा—'छोड़ गंगा! पंडित के घर में इहे जनमे के रहले ह!'

मैंने पूछा—"क्या नलिनजी बचपन में बहुत खिलाड़ी तबीयत के थे?"

"नहीं हुजूर, बिलकुल नहीं"—गंगा बोला—"वे तो बड़े शांत और सुशील स्वभाव के थे। मगर खेल के आगे पढ़ाई में मन लगता नहीं था, इसीलिए पिटाते भी थे। और बाबा तो क्रोध में आने पर बड़े-से-बड़े लोगों को भी डाँट देते थे। धर्मेन्द्र ब्रह्मचारीजी को भी उनकी डाँट जब-तब सुननी पड़ती थी। मगर ब्रह्मचारीजी को वे अपने बेटे की तरह मानते थे। उनके असली चेले तो ब्रह्मचारीजी ही थे। बाबा तो···"

गंगा अपने बाबा की यादगार सुनाने को बेचैन था, और उसे रोकना भी मुश्किल था। वह बोलता गया—"बाबा तो अजीब तबीयत के आदमी थे। दिन-भर कालेज में जो किताब-लेख वगैरह लिखते या मोटर में बैठे-बैठे लिखते, वह गाड़ी में तितर-बितर कर छोड़ देते। मैं सब कागज सहेजकर रखता था, और शाम को धर्मेन्द्र ब्रह्मचारीजी उन लेखों को अलग कागज पर साफ-साफ उतारते थे।"

मौका मिलते ही मैंने नलिनजी से सम्बन्धित प्रश्न किया—"नलिनजी कभी मोटर पर चढ़ाने का आग्रह तुमसे करते थे या नहीं ?"

हँसते हुए गंगा बोला—"बहुत बार हुजूर! जब गाड़ी पर चढ़ने की इच्छा होती तो कहते—'गंगा! मोटर पर ना घुमइबऽ ?' कभी-कभी कोई मशीन-पुर्जा छूते या कोई खुरचाली करते, तो मैं उनपर घुड़कता था और कहता था—'बदमाशी करबऽत उतार देब' या 'बाबा से बोल देब'। बस, बबुआ डर जाते। कहने लगते—'ना हो, अब बदमाशी ना करब।'"

मुझे हँसते देख गंगा गर्व से बोला—"हुजूर, उनको हमने कई बार डाँटा है। अभी हाल तक हमने उनको डाँटा है। मगर वे हमारी डाँट का कभी बुरा नहीं मानते थे। लगभग साल-भर पहले की बात है, नलिन बाबू को मोटर गाड़ी खरीदनी थी, तो हमको बुला भेजा। हम दूसरे दिन सबेरे आठ बजे पहुँचे। दरवाजे पर पुकारा तो मेमसाहब बाहर आईं। हमने पूछा—'नलिन बाबू कहाँ हैं ?' तो मेमसाहब बोलीं—'अभी सो रहे हैं।' इस पर हम बोले—'सो रहे हैं ? यह सोने का कौन टाइम है ? सोने से काम नहीं चलेगा। जाकर बोल दीजिए कि गंगा आया है।' मेमसाहब मुझको पहचानती नहीं थीं, इसलिए मेरी ढिठाई पर हक्का-बक्का होकर ताकने लगीं। मैं फिर बोला—'जाकर बोल दीजिए न, कि गंगा आया है।' तब मेमसाहब गईं। थोड़ी देर में नलिन बाबू आँख मलते हुए बाहर आए। उनको देखते ही मैं बोला—'यह तो नई आदत लगा ली है आपने। बाबा के टाइम में हम्हीं जबर्दस्ती उठाए हुए हैं इसी घर में सो हमको देर तक आपका सोना अच्छा नहीं लगता। इससे क्या काम होगा ?' इस पर नलिन बाबू बोले—'बाबा के कहल साँच भइल हो गंगा! आदत खराब भइल आ तन्दुरुस्ती भी खराब भइल'।"

मैंने गंगा से पूछा—"तुम नलिन बाबू को क्या कहकर पुकारते थे ?"

गंगा बोला—"हुजूर, मैं उनको पहले तो 'बबुआ' ही कहा करता था, बचपन में, मगर इधर उनके बड़े हो जाने पर 'नलिन बाबू' कहकर पुकारता था। 'साहब-वाहब' नहीं

कहता था। 'साहब' क्यों कहता हुजूर ! वे तो हमारे सामने बच्चा ही थे। अब साहब हो गए थे, तो भी वे हमारे लिए तो छोटे भाई की तरह ही प्यारे थे। सो मैं उन्हें प्यार से हल्के-हल्के डाँटता भी था, और 'नलिन बाबू' ही कहता था। और, वे भी मुझे बड़े भाई की तरह ही मानते थे।"

"तब तो उनपर तुम्हारा अच्छा रोब रहता था गंगा !"—मैंने कहा।

गंगा बोला—"हुजूर, पहले का संयम अगर वे रखते तो उनका स्वास्थ्य खराब नहीं होता। रात को देर तक जगना, सबेरे देर से उठना, खान-पान में परहेज नहीं, पिछले दिनों जरूरत से ज्यादा परहेज, लगातार सिगरेट पीना—इन्हीं सब बातों से इतनी जल्दी उनका स्वास्थ्य गड़बड़ा गया। और इन सब बातों को देखकर मुझे दुख होता था तो मैं उन्हें हल्के-हल्के खरी-खोटी सुना देता था हुजूर !"

बातों-बात में गंगा ने नलिनजी के साहित्य पर भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर दी—"वे बाबा की ही तरह विद्वान निकले, और उन्होंने एक-से-एक किताबें लिखीं। मगर उनका एक ही लेख (कहानी) मुझे पढ़ने को मिला। वह लेख तो मुझे तनिक भी नहीं रुचा। उस लेख में उन्होंने एक बदचलन लड़की का लम्बा-चौड़ा किस्सा लिखा था। मैंने पढ़ा तो बहुत दुख हुआ। भेंट होने पर उनसे कहा—'आप इतने विद्वान होकर यह क्या रद्दी चीज लिखते हैं ? दुनिया-भर में आपको किसी अच्छे आदमी का किस्सा लिखने के लिए नहीं मिला ?' इसपर नलिन बाबू हँसने लगे। बोले—'जनलऽ गंगा ! एह लड़की के चाल पर हमरा एतना खीस बरल कि ई किस्सा लिख देलीं, जेमें लोग अइसन लड़कियन से बच के रहे।"

नलिनजी के बचपन की ओर गंगा का ध्यान खींचते हुए मैंने कहा—"गंगा ! यह तो बताओ कि नलिनजी बचपन में क्या पहनते थे, कैसे रहते थे, क्या खाना पसन्द करते थे ?"

"बाबा के घर में तो खादी का ही राज था"—गंगा बोला—"बबुआ भी खादी की धोती और खादी की ही गंजी पहनते थे। कहीं बाहर जाने के समय खादी का ही कुर्ता पहनते थे।"

"कभी पैंट नहीं पहनते थे ?" मैंने पूछा।

"कभी नहीं हुजूर !"—गंगा बोला—"मगर कपड़े बराबर साफ रहते थे। बबुआ घर पर नंगे पाँव रहते थे। बाहर जाते समय रबर का चप्पल। पंडितजी भी रबर का

ही चप्पल पहनते थे। धर्मेन्द्र ब्रह्मचारीजी तो बराबर नंगे पाँव ही रहते थे। नलिन बाबू को एक चुटिया भी रखनी पड़ती थी, जो न बहुत लम्बी होती थी, न बहुत छोटी। सिर अक्सर उस्तुरे से ही घोंटा जाता था। धर्मेन्द्रजी के सिर की भी यही हालत थी। बाबा के सामने किसी की भी नहीं चलती थी।"

बाबा की चर्चा आते ही गंगा आकंठ गद्‌गद्‌ हो गया। बोला—"एक बार तीन-चार औरतें लड़ रही थीं। बाबा बोले—'उन्हीं के पास गाड़ी रोको।' मैंने गाड़ी रोक दी। बाबा गालियों को बड़े ध्यान से सुनते रहे और उनको कागज पर नोट करते रहे। मैंने कुतूहलवश बाबा से पूछा—'ई सब का होई बाबा?' बाबा बोले—'ई सब काम दी।"

गंगा बाबा की बातों में अधिक रस ले रहा था। बोला—"एकबार बाबा को कालेज जाने की जल्दी थी। कुर्ता पहनते हुए वे ऊपर से उतरे और गाड़ी में बैठ गए। मैंने देखा, कुर्ता उल्टा था। आगे का हिस्सा पीछे हो गया था। मैंने टोका, तो बाबा बोले—'ई त पाकटवे पीछे चल गइल हो। अच्छा, आज अइसहीं सही।' और बाबा वैसे ही कालेज चले गए।"

बाबा की याद में मग्न गंगा से मैंने कहा—"सचमुच, बाबा के बारे में तुमसे बहुत-सी बातें मालूम होंगी। तुम चाहो तो बाबा पर किताब लिखा सकते हो। कभी यह काम भी होगा। अभी यह तो बताओ कि नलिनजी बाबा का सामना पसन्द करते थे या नहीं?"

"बाबा से तो हुजूर, सभी डरते थे। नलिन बाबू भी डरते थे। वे उनके सामने आने में हिचकते थे। एक कमरे की तीन खिड़कियों को तार की जाली से बंद कर दिया गया था। उसी में नलिन बाबू को रहना, सोना और पढ़ना पड़ता था। बाबा जब कालेज से आते तो मोटर का हार्न सुनते ही नलिन बाबू दौड़कर अपने कमरे में जा बैठते और किताब खोल लेते थे। बाबा की गार्जियनी इतनी कड़ी थी कि बिना उनके या माँ के हुक्म के नलिन बाबू अहाते से बाहर नहीं निकलते थे। कहीं बाहर जाना भी हुआ तो अकेले नहीं। नलिन बाबू अपने-से सबेरे उठना नहीं चाहते थे। मगर बाबा का 'आर्डर' ऐसा था कि उठना ही पड़ता था। मगर फिर भी नलिन बाबू यह जानते थे कि बाबा उन्हें बहुत मानते हैं।"

मैंने पूछा—"माँ पर नलिनजी की कैसी श्रद्धा थी?"

गंगा ने कहा—"माँ को वे बहुत मानते थे हजूर! माताजी भी उन्हें बहुत मानती थीं। माँ ने नलिन बाबू को कभी भी डाँटा न होगा। माताजी तो देवी थीं। बहुत ही

मिलनसार और दयालु। वे हम सबको एक-जैसा मानती थीं। वे अपने हाथों चक्की से आटा पीसकर भोजन बनाती थीं और हम सबको बड़े प्रेम से खिलाती थीं। कोई भेद-भाव किसी के लिए उनमें नहीं था। माँ के चेहरे से नलिनजी का चेहरा बहुत मिलता-जुलता था। शरीर की बनावट भी। वही श्याम रंग, भरी देह, मीठा स्वभाव।"

मैंने पूछा—"नलिनजी माँ को क्या कहकर पुकारते थे? भाई-बहनों को क्या कहते थे? भाई-बहनों से उनकी कैसी पटती थी?"

गंगा बोला—"माँ को नलिन बाबू 'माई' कहा करते थे। दो बड़ी बहनों को 'बेनू दीदी' और 'मेसू दीदी' कहकर पुकारते थे। भाइयों को 'बाबू' और 'पन्ना' कहते थे। सभी भाई-बहनों में बहुत प्रेम रहता था।"

गंगा ने बताया—"नलिन बाबू से छोटा उनका एक भाई करीब ढाई साल का होकर मर गया। उसके मरने पर नलिन बाबू भी बहुत रोये थे।"

मैंने पूछा—"क्या नलिनजी बचपन में कभी बाहर भी जाते थे, या पटने में ही रहते थे?"

गंगा बोला—"कभी-कभी माँ के साथ अपने पुराने घर छपरा जाया करते थे। मगर ज्यादातर तो पटने में ही रहना होता था।"

मैंने गंगा से पूछा—"आखिरी बार तुम नलिनजी से कब और कहाँ मिले थे?"

गंगा बोला—"उनके मरने के लगभग महीना-दिन पहले, एक दिन मैं उनके घर गया था। उन्हें जमाल रोड किसी से मिलने जाना था। देखा, पैदल ही निकल रहे हैं। मैंने पूछा—'गाड़ी क्यों नहीं निकाल लेते?' उन्होंने कहा—'पैदल चलकर स्वास्थ्य बना रहा हूँ।' मगर एक दिन पैदल चलने से स्वास्थ्य थोड़े ही बनता है?"

"और भी इधर तुमसे उनकी कोई मुलाकात हुई थी?"—मैंने पूछा।

"मरने के लगभग दस रोज पहले भी।"—गंगा बोला—"मैं डा० नायर की गाड़ी लेकर अशोक राजपथ से जा रहा था। अस्पताल के सामने पहुँचा तो बगल में एक दूसरी गाड़ी खड़ी देखकर 'स्पीड' धीमी कर ली। दूसरी गाड़ी में गियर की आवाज बड़े जोर-से हुई। मैंने देखा, यह तो नलिन बाबू की गाड़ी थी। मैं जोर से बोला—'बड़ी अच्छी ड्राइवरी सीखी है!' नलिन बाबू ने मुझे देखा और बोले—'गियर में गड़बड़ी बा'। मैंने कहा—'ऐसी गाड़ी क्यों ले ली?', तो बोले—'का कहीं, साथ में पड़के ले लेलीं।'

मैंने गंगा से अन्तिम प्रश्न पूछा—"तुम्हें नलिनजी की मृत्यु का पता कब चला ?"

गंगा ने डबडबा कर कहा—"१२ सितम्बर की शाम को जब उनकी अर्थी लान के सामने गुजर रही थी, तब मैं डा० नायर की गाड़ी लेकर उधर ही जा रहा था। देखा, बड़ा हुजूम था। हजारों-हजार लोग। मगर मैं अभागा यह न समझ पाया कि यह हमारे बबुआ नलिन बाबू की ही अर्थी है। दूसरे दिन सबेरे अखबार में उनकी तस्वीर और समाचार देखकर पता चला कि 'बबुआ' हमलोगों को छोड़कर चले गए। मैं अभागा पटने में रहते हुए भी उनके आखिरी दर्शन न कर सका।"—कहते-कहते गंगा की आँखें गीली हो आईं।

जब मैं गंगा के कमरे से उठा तो देखा, गंगा कोने में खड़ा होकर धोती की छोर से अपन आँखें पोंछ रहा है। मुझे कुछ ज्यादा पूछने की हिम्मत न हुई। बहुत कुछ पूछने की इच्छा के बावजूद मेरी करुणाकुल जिज्ञासा ने मुझे रोककर कहा—'अब लौट चलो, ज्यादा जानने की जरूरत अभी नहीं है!'

✣

काव्यांजलि

एक श्रद्धानुशीलन

अरुण

[*कविनिवास : समस्तीपुर (बिहार)*]

समझ में नहीं आता कि क्या लिखूँ,—
क्या न लिखूँ ।
काव्य-स्वत्व की नई धारा पर
शब्द-प्रस्फुटित नलिन की गंधाकुल भाव-भाषा
कला का उन्मुक्त उच्छ्वास लेकर तैर रही थी—तैर रही थी ।
उस तिरोहित प्राण-चित्र के बौद्धिक प्रवाह ने
हिन्दी में मौलिक 'एलियट' की रसात्मक ध्वनियाँ दीं ।
सतर्क और कुशल ब्रह्मा की भाँति
छन्द के सहज प्रलय में
उस काल-कुसुम ने नवीन गति की हिलोर से—
एक ऋचात्मक कम्पन का सृजन किया :
साहित्य के भावी सौभाग्य के हरित पृष्ठ पर
मस्तिष्क के जल से धौत जो हृदयाक्षर अंकित हुए
उनकी ऐतिहासिक महिमा का मूल्याङ्कन समय तो करेगा ही,
क्योंकि स्रष्टा का सारस्वत न्याय होता अवश्य है ।

जीवन की यौवन-सीमा में विद्युत्-प्रयोग की कल्पनातीत महत्ता—
स्थापित करना स्वत्व-योग का ही प्रतिफल है।
मनीषी की मानवीय सिद्धि की प्रभात-ऋद्धि ने
काव्य-वृद्धि की दार्शनिक विधु-व्याख्याएँ कीं
और प्रशस्त आलोचना का मापदण्ड स्थिर कर
मुखर किया स्वयंशैली की असीमित सीमा को।
नूतनता के आगामी वसन्त के प्रथम छन्द-कोकिल की तरह
काल-रन्ध्र से उगे रक्त किसलय पर
शब्द-पुष्प की छाया रखकर
प्रकृति की माया में विलीन हो गया वह नकेन-द्रष्टा।
नयन-क्रौंच से द्रवित वाल्मीकि-दृष्टि की उस प्रपद्यात्मक सौन्दर्य-सृष्टि में
अमरता का प्रसाद अक्षुण्ण है, अक्षुण्ण है।

आज उनकी याद की लहरों पर
अनन्त अश्रु की फेनिल करुणा
अतीत के सर्वचित्रों को ढोकर बह रही है।
सुधि की अंजलि में श्रद्धा-कुटज की अणिमा लेकर
मैं भी काल-सिन्धु के एकान्त तट पर खड़ा हूँ।
देखता हूँ :
उनका मध्यवर्गी मकान,
अधसजा ड्राइंग रूम,
कुछ सोफे,
टेबुल,
सिगरेट का धुआँता वातावरण,
परिचित-अपरिचितों की उपस्थिति,
धीर-गंभीर वार्तालाप से अभिव्यंजित श्रोता-मुख,

और उनकी सुविशाल आकृति :
मुस्कानसिक्त, प्राणसिक्त, ज्ञानसिक्त—अव्यक्त स्वाभिमानसिक्त !
सर्वसिक्तता की उस साहित्यिक समाधि में
कभी-कभी मैं भी
अनुमति-हीन प्रवेश पाता रहा।
लगा
कि उस मंगलमूर्त्ति में किसी के लिए अमंगल नहीं,
आरण्यक आशीर्वाद की अश्वत्थ छाँह में
सबके लिए राह है !
इसी अमिट चाह की जिज्ञासा लेकर
न मालूम कहाँ छिप गया वह आलोक,
कहाँ मुरझा गया वह नलिन,
कह उड़ गई वह सुगंध
कौन कहे ? कौन कहे ?

× × ×

आह ! यह श्रद्धा-छन्द लिखते-लिखते
आज : पन्द्रह अक्तूबर के दोपहर में
विश्वकवि
महाप्राण निराला के निधन का क्रूर समाचार सुना
और अनायास नयनों से झरझराहट प्रारंभ हुई !
अनवरत सिसकियों की असह्य बेला में
नलिन की शाश्वत गंधात्मा बोली :—
"आपके स्वर्गीय स्वागत के लिए
मैं कुछ पहले से ही उपस्थित था निरालाजी !
राजनीति के रोगी युग में
विशुद्ध भारती-पुत्रों को

समय के पूर्व ही धरती को छोड़ देना चाहिए··· ·····
और आपने तो
कबीर की काव्य-चदरिया को बड़े जतन से उतार दिया·······!"
आकाशवाणी के इस संकेत को समझने में
कुछ भी देर न लगी—न लगी !!

किसने टोका ?

अवधेश कुमार

[*पारिजात प्रकाशन, डाकबंगला रोड, पटना—१*]

तुम
जब लिए दृष्टिकोण
बढ़े पथ पर
तब तुम्हें किसने रोका ?
वह चिंतामणि था या
हिन्दी-साहित्य का आदि-काल ?
तुम
जब प्रपद्य पथ पर चले
तब तुम्हें किसने टोका ?
जब नए पथ पर बढ़े
तब तुम्हें जिसने रोका—?
वह कुछ नहीं था, कुछ भी नहीं !
केवल मृत्यु ने तुम्हें टोका !

असामयिक !

केसरी

[प्राचार्य, समस्तीपुर कॉलेज समस्तीपुर, बिहार]

ओ दुर्दांत कृतांत पाशविक !
 रे असामयिक !
जाने कहाँ छिपा बैठा था
 पथ पर तू बटमार !
जिस पथ, बैठ कीर्ति के रथ पर—
 वह साधना-कुमार
 बढ़ा जा रहा था दुर्गम—
 प्रांतर पर्वत कर पार
काल-पृष्ठ पर चरण-चिह्न से
 रच-रच छवि-संसार
बढ़ा जा रहा था अचूक
 जैसे आलोक-प्रसार
जीवन-गंगा के पावन तट कला-तीर्थ की ओर !
 नातिदूर जब रहा—
 सिद्धि-मंदिर का ज्योतिर्द्वार
 तभी अचानक रे घातक बटमार !
उसकी साँस-सुरभि की माला
 झट दी तूने तोड़
जैसे फूल-भरी गुलाब की टहनी कोई—
 झंझा का झोंका दे तोड़-मरोड़
किंतु मिला क्या तुझे ?
 पचा पाएगा क्या तू सुरभि-कोष ?
रे पामर ! असमर्थ !! अरे गरीब !!!

टूटे धागे पर चाहे जितना तू कर ले आत्म-तोष
किंतु अछेद्य अभेद्य अमर वह सुरभि-सार
वह नलिन हिंद-हिंदी का हृदय-हार
तेरे हाथ लगा रे निष्ठुर !
वह जो मात्र विनश्वर कायिक
रे असामयिक !
रे दुर्दांत कृतांत पाशविक !!

✣

मधुमास नहीं है

चन्द्रेश्वर 'नीरव'

[बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—६]

साहित्य के बरगद की मधुर छाँव कहाँ है ?
दनुजता की लंका में अंगद का अटल पाँव कहाँ है ?
जो स्नेह से सबों को बसाता रहा सदा
हिन्दी का शान्त शीलवान गाँव कहाँ है ?

जो उठ गया स्वयं ही लोगों को उठाकर
जो बुझ गया विभा की नई ज्योति जलाकर
वह आज भी हजार प्रेरणाएँ दे रहा
हम जिसको चिताग्नि पर आये हैं सुलाकर।

इन्सानियत का वह धवल आकाश नहीं है
जो मन को खींच ले सरल विश्वास नहीं है
जो सुरभि दे रही थी नई चेतना हमें
साहित्य के इतिहास का मधुमास नहीं है !

✣

अश्रु-अर्घ्य

परमानन्द पाण्डेय

[*बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—६*]

सूर्य अस्त होने के पहले
नलिन विलोचन मुंदे अचानक
आह ! पूर्ण विकसित होने के पूर्व
मृत्तिका आशाघट कर चूर्ण-चूर्ण
दुर्दैव कुचक्री ! क्रूरकर्मप्रिय !
हा, असंख्य व्याकुल मधुलोभी
मधुकर मंडराते गुण गाते
निरवलम्ब असहाय हवा में
मार रहे सर खोज रहे हैं

व्याप्त वायु में
यत् किंचित् सौरभ बिखरा है
अदलवृन्त होने के पहले ।
यद्यपि यह यत् किंचित् भी जो
अल्पकाल में दिया विश्व को
अतुल ज्योतिमय, विस्मयकारी
कीर्त्ति चकित करनेवाली औ'
कृतियाँ शुभ्र अभूतपूर्व हैं
अंश लघुत्तम अक्षय सौरभ-पुंज पुष्प का
अब न खिलेगा, फिर न खिलेगा
हाय, भुवन में !

चन्द्र टूट कर गिरा, भाल शिव का सूना है
फफक-फफक कर रोता भोला बालक-जैसा

कुमुद म्लान म्रियमाण प्राण
बोझिल मृणाल अगणित स्मृतियाँ
बहु तापशोक दारुण झकोर
उच्छल जल-कंपित-तन समूल !
प्रेम-मुद्रिका का नग टूटा
अतल मृत्यु-सागर में खोया !
हा, रत्ना का रत्न लुट गया !

दिनकर कर-विहीन-सा लगता
प्रतिदिन रुदित प्रभात-हीन-सा
भरा मोतियों से विकसित
अब नलिन कहाँ है ?
वाणी-वेनी प्रभाहीन है
कंठ रुद्ध कविता-वल्लभ सुमधुर कवियों के—
कालसर्प दंशित मृत गौ के
कोटि वत्स ये हेर-हेर कर दशो दिशाएँ
तड़प रहे हैं निस्सहाय, बेबस हतभागे,
शिष्यवृन्द हा, हुए हैं टूअर ।

उनके ही उपवन में पुष्पित
अरुण सुमन अंजलि भर लेकर
कातर हृदय नमित मस्तक हो
युग चरणों पर अर्पित करके
भक्त अकिंचन लुप्त हो गये जन-समूह में —
वज्रपात यह ही अनभ्र है
सुबह विहँसते ही देखा था
और शाम होने से पहले
भरी हुई फूलों से अर्थी !

आगे-पीछे करुणा का सागर लहराता
मर्माहत सब मूक चल रहे
"रामनाम है सत्य" बोलता कोई-कोई
सभी करुणा ही लगती है
भूल गईं सब परम्पराएँ
जातिधर्म की परिधि छिन्न कर दी करुणा ने
अति करुणा ने, अतिमानव की अर्थी का जो साथ दे रही
"सत्य" या कि "मिथ्या" जो कुछ है
अभी "शोक" है मात्र "शोक" है।
राह पूछती किसकी अर्थी
"नलिन विलोचन ...."
"हैं, क्या कहा ? नलिन जी की। यह।... ... ."
तुरत हो गए साथ पूछते अघटन घटना
जैसे मृग को लगे व्याध का तीर अचानक
मूक वेदना से फिर व्याकुल !

तप तेज पुंज गरिमा विशाल
कंचन-सी काया भस्मसात्
संसार-बद्ध माया विमुक्त
चैतन्य महाचैतन्य-लीन।

बीते पन्द्रह वर्ष अचानक पन्द्रह क्षण-से
किन्तु अभी का एक निमिष भी
कोटि कल्प-सा दुर्वह लगता।

विदा हुए हे देव, न तुम्हारी व्याकुल स्मृतियाँ
कभी मिटेंगी जनगण-मन से।
वाणी की शुभ चरण पीठिका
पर अंकित है नाम तुम्हारा
चिरदिन भक्त विकल आयेंगे
अश्रु-अर्घ्य श्रद्धया समर्पित कर जायेंगे।

हे आचार्य, विद्वान वरेण्य!
तुमको प्रणाम, युग का प्रणाम,
सबका प्रणाम, शत-शत प्रणाम !!!

✣

हा हन्त हन्त, नलिन :........

(एक प्रपद्यवादी तिलांजलि)

प्रभाकर माचवे

[२२, यार्क होटल, कनाट सर्कस, नई दिल्ली]

'गंगा'...रामावतार...दृष्टिकोण...तमामशुद .....
कोश...फ्रेंच साहित्य...इतिहास...कदमकुआँ...डेथ, दि लेवलर...
संस्कृत (इ.)...विचारों का साहस, निर्भीकता...कृतान्त
कहकहे...विशालकाय मेधा चेस्टरटनी...
ज्ञानघन डाक्टर सा अड्डा...*जम*-ता अखाड़ा उखड़ा
मौलिकता...अद्यतन, अत्याधुनिक, कर्मिग्ज्ञ प्राय,
विद्या ही एक मात्र मूल-धन, मान-धन, सा-धन
धन्य था बिहार...छवि-हार, कवि-हार, हार; हा...

'गुन ना हिरानो गुन-गाहक हिरानो है !'
हिन्दी के अखबार अब जो श्राद्ध-तर्पण में
छापते हैं लेख, नहीं एक बार पूछा उन्होंने तुम्हें
जब तक तुम जीवित थे—
किया था 'नकेन' का मज़ाक़
'पशुपशा' की उड़ाई बड़ी खिल्ली (खिसियानी बिल्ली)
कहा : यह तो विदेश की नकल है, नहीं 'भारतीय'
इनको कौन समझाय
हिन्दी नहीं बरसाने की—बलिया की बकरी-गाय
हिन्दी अब अन्तर्राष्ट्र, आधुनिकतमता की वाहिनी
विचारों में, शिल्प में, प्रयोगों में, नवीना बड़ी
प्रगति-प्रवाहिनी, नहीं 'तोता-काहिनी' !
मुझे याद आता है कहा था, आपने :
"क्यों यह माचवे डाक्टर की उपाधि के चक्कर में
नाहक है ? यह तो डाक्टरों को बनाये—
सिखलाये—यह 'कम्फाउंडर' नहीं है !"
जवानी में यह क्या सूझा
दुबलाने का आत्यन्तिक उठाया बोझा
और ठिठक गये, रुक गये हृद्गति के स्मरण-मणि
वीणा की झंकृति की अन्तिम गमक सम तक
पहुँच भी न पाई । (बिब्बो बिब्बोक रही करती)
चित्र अधूरा ही रह गया, पैलेट पर रंग रहे
| बिखरे
खिलने नहीं पायी प्रतिभा की नलिनी कि आह

काल-गज शुण्डा प्रचण्ड—

न—	स्ट्रोक
LEAN	बिला-रोक-टोक
वि-'लोच'	जातस्य हि ध्रुवोमृत्युः....
न	'कविता' है अ-मरण
शर्मा (ये)	पांडित्य नहीं अर्थ-शरण
तुम-सा न....	शून्य = सम्पूर्ण

'उत्पद्यते कोऽपि समानधर्मा' !

✠

डूबनेवाली नावें

(नलिन विलोचन शर्मा की मृत्यु पर)

बच्चन

[*१३, विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली—११*]

......और यह तो बहुत पहले सुन चुका था
इस नदी में हर तरी का भाग्य है यह
कभी चलते हुए सहसा डूब जाना,
फेफड़े, पर, पाल के फूले-भरे थे,
डाँड़ के भुजदंड गहरे पैठकर
अनुकूल औ' प्रतिकूल धारों को
चुनौती दे रहे थे,
फार-सी पतवार पानी चीरती थी ;

और लहरों के थपेड़े चाल पर थे ताल देते :
हर्ष या कि विमर्षमय अज्ञात आकर्षक बड़ा था;
अनसुना करके युगों का सत्य
जल-थल-नभ-बवंडर-बिजलियों से निडर खेला;
ज़िन्दगी क्या थी कि मेला।

और यह भी देखकर
यह नाव डूबी, और वह भी, और वो भी
और उनके लिए करके हाय, आँसू भी बहाकर,
की न मैंने पाल ढीली,
औ' न मैंने डाँड़ छोड़ी;
खासियत मेरी नहीं थी;
सभी बढ़ते चल रहे थे;
ज़िंदगी की इस नदी में कौन रुकता,
भले ही खेवे न खेवे ?
कौन पीछे लौटता, चाहे अगर भी,
साथ हो या हो अकेला,
लाद ली हो नाव या
रक्खा अलग हो सब झमेला ?

और क्या डूबी हुई नावें रुकी हैं ?
रुकी हैं तो किस प्रतीक्षा में रुकी हैं ?
यान पर निर्भर नहीं गति;
साहसी मल्लाह क्या सब
तैरते-बहते बराबर आ रहे हैं ?

क्या नदी यह दो तरह से पार होती—
यान पर कुछ दूर आओ,
तैरकर कुछ दूर जाओ ?

क्या कहीं पर बाजुओं का भी सहारा छूटता है ?
क्या दहाने पर पड़ा है द्वीप कोई
पा जिसे विश्राम करना—सुप्त चिर या जागरित चिर ?
या कि सागर बाँह फैलाए खड़ा है,
सफ़र आगे भी बड़ा है ?
इन सवालों का जवाब नक़ाब में अपने
छिपाए क्या खड़ी जल-मग्न-बेला ?

✣

जो कल था वह आज नहीं है !

मीनाक्षी तिवारी

[नलिन-निवास, ब्रजकिशोर-पथ, पटना]

जो कल था वह आज नहीं है
दुनिया का यह खेल सही है
बाहर से यह हरी-भरी है
लेकिन रोता अंतस्तल है !

महापुरुष एक चला गया है,
रोता सबको छोड़ गया है,
क्या सच में वह चला गया ?
मुझको तो विश्वास नहीं है।

करनी उसकी बहुत बड़ी है,
लेकिन धरती पर वह नहीं है
मिट्टी फूलों के बीच पड़ी है।
विधि का खिलवाड़ यही है

कल तक थी जो हवा सुहानी,
आज सुनाती विरह-कहानी
दिखते सब के सब लुटे-लुटे,
कैसी दुख से भरी घड़ी है!

मरने पर कुछ जी जाता है
शेष बचा कुछ रह जाता है,
यही सोच दुख कम जाता है,
फिर भी गला रुँधा जाता है।

✣

यह उदास शाम!

यज्ञदेव पण्डित

[नलिन-निवास, ब्रजकिशोर-पथ, पटना]

यह उदास शाम!
क्या गति का विराम?
या समय का आयाम?
नहीं, मृत्यु का आह्वान
या विदा की वेला में
कोई कर रहा प्रणाम!

× × ×

सुबह के वियोग में
दुपहर बहुत रोयी है
धूप के उजाले में
छाँह बहुत रोयी है

शून्य में निहारती
आँख बहुत रोयी है

× × ×

प्रलय के किनार पर
सृष्टि खड़ी रोती है
देखना पल भर में
रात अभी होती है।
प्रभु के वियोग में
प्रिया का पीला मुख।
पीले फूल
तुम्हें बहुत प्रिय थे न!

✣

यह धूमिल क्यों ?

रघुनाथ 'विकल'

[किदवईपुरी, पटना]

पटने का साहित्य-गगन यह धूमिल क्यों लगता है ?
कहो बन्धुओ ! तुममें नव उल्लास न क्यों जगता है ?
क्यों ऐसा गत्यावरोध ? पथ रुद्ध जान पड़ता है !
विषम-काल में हिन्दी से प्रभु क्रुद्ध जान पड़ता है !
प्रोफे० नलिन विलोचन शर्मा रहे नहीं भूतल पर !
भू से अधिक स्वर्ग में ही थी उनको स्यात् जरूरत !

✣

नलिनविलोचनजी !

रामगोपाल 'रुद्र'
[१३/२, गर्दनीबाग क्वार्टर्स, पटना—१]

नहीं कर सके रोध, क्रूर काल-विषकीट का,
लिख रहे जो शोध, स्निग्ध कीर्ति बन, आमरण।
नश्वर जान शरीर, वागर्थे हुत कर दिया;
विकच हुए वानीर, पाटल अपत करीर में।
लोहकान्त नररत्न, संजीवन साहित्य के,
चर्चित किया सयत्न, समालोचना-अंग को।
नया दृष्टिसंयोग, हिन्दी-कविता को दिया;
जीवन शुद्ध प्रयोग, सिद्ध किया मरकर सहज।

✣

उभर-उभर आती हैं धुँधली-सी तस्वीरें

संतकुमार वर्मा
[प्रधान-मंत्री, सारन जिला हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, सीवान, बिहार]

सारन-जिला-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का
नवम अधिवेशन था महिमा-महिम्न हुआ

जिसकी अध्यक्षता से, उसी आचार्य के
दिव्य-भव्य-उद्भट-दुर्धर्ष व्यक्तित्व को,
कविमनीषी को, कोटिशः नमस्कार!

कोटिशः नमस्कार उस व्यक्तित्व को
असमय ही छोड़ जो पार्थिवता की काया
यशःकाय होकर अब हिन्दी के आँगन में
पावन संस्मृतियों का दीप बन जलता है!

साहित्यालोचन के पल्वल के नलिन' के
विकीर्ण पराग के सौरभ से अभी-अभी
सुरभीकृत होने लगा था साहित्य-वन
काव्य-सलिल होने लगा था पुलकायमान!
हाय, किन्तु इसी बीच, काल-गजराज के
शुण्ड में आ गया, आ गया 'नलिन' कुसुम!

प्रथम-प्रथम जिनके सम्पर्क-सामीप्य का,
उक्त सम्मेलन का अधिवेशन व्याज हुआ,
याद आते ही उस स्मृतिशेष प्रतिभा की
श्रद्धा से मस्तक यह झुक-झुक जाता है,
कातरता अन्तर में व्याप्त हुई जाती है,
उधर-उभर आती हैं धुँधली-सी तस्वीरें!

✠

दिवंगत गुरुदेव से !

सर्वदेव मिश्र

[मंडल-निवास, भिखना पहाड़ी, पटना–४]

हे देव, तुम्हें क्या मोह हुआ,
उस इन्द्रलोक के राज्यों का ?
जो असमय में ही छोड़ चले—
सुख इस मायावी दुनिया का ?

साहित्यानन्द क्या कम उससे
जो ब्रह्मानन्द-सहोदर है ?
क्या सूर्य, चन्द्र के बिना आज,
'राजीव', 'कुमुद' खिल सकते हैं ?

आधुनिकता का प्रिय पक्ष तोड़
क्या अभी तुम्हें ले जाना था ?
निर्देश बिना ही वज्रपात,
हम सबके ऊपर करना था ?

बस करता हूँ हे देव !
हृदय के तार नहीं झंकृत होते;
सब एक-एककर टूट गए,
है गूँज शेष, पर तुम न रहे !

✠

तुम कहाँ अचानक चले गये ?

सुरेन्द्र कौण्डिण्य

[गोलघर, पटना—१]

हे निरभिमानी !
अतिशय उदार
तुम सदा रहे
चिन्तना, मनन
विश्वास, धैर्य
के चिर प्रतीक !
हे कलाकार !
आजन्म रहे
हिन्दी भाषा के उन्नायक !
तुम-सा महान माली पाकर
हिन्दी-उपवन था इठलाता।
क्यारियाँ सजीं
मिट्टी में नवजीवन आया !
साधना-फूल नित मुस्काए
मधुकर अनजाने मुग्ध हुए !
पर हे माली !
उस उन्नत, मधुमय उपवन को
असहाय बना
तुम कहाँ अचानक चले गये ?

✣

हस्ताक्षर

[अनुशीलन-विभाग] **बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन**
कदमकुआँ, पटना—३

प्रियवरेषु !

कृपा-पत्र मिला। आपकी अनुपस्थिति की नगण्य-क्षतिपूर्ति। द्विवेदीजी को पत्र लिखा है, जिसमें आपके लिए सम्वाद है। दुहरा दूँ : 'नकेन' फिर बढ़ निकला है। मैं *'क्लास वन' के लिए दरख्वास्त नहीं दे रहा—अब ये हाथ फैलते नहीं।*

आपने छुट्टियाँ खूब बिताईं। यह सरासर अन्याय है। कॉलेज खुले इसके पहले यहाँ जरूर पधारें। आशा है, आप प्रसन्न हैं।

सप्रेम

नलिन

[प्रो० केसरी कुमार जी को लिखे गए एक पत्र की कतिपय पंक्तियाँ]

✣

ब्रजकिशोरपथ
पटना
१३/३

प्रियवर,

लेख अबतक नहीं मिला।

नरेशजी यहाँ आ गए हैं। सुना भर है। उन्होंने दर्शन नहीं दिए हैं। शिवचन्द्रजी हैं। अभी बहुत व्यस्त। सो, जैसे-तैसे गाड़ी आगे बढ़ाता जा रहा हूँ।

पुनश्च

काम ऐसा जरूरी है कि शिवचन्द्रजी को तकलीफ करनी पड़ रही है। अब क्या कहूँ ?

और, कल तो आपने ऐसा धोखा दिया कि हम याद रखेंगे।

पुनरपि

प्रगतिवाद पर की सभी किताबें भेज देंगे। होली में जरूर आएँ।

आपका

नलिन

[प्राध्यापक केसरी कुमार जी को प्राप्त दूसरा हस्ताक्षर]

वृत

स्वर्गीय पं० नलिन विलोचन शर्मा

जन्म—१८ फरवरी, १९१६

मृत्यु—१२ सितम्बर, १९६१

(दिन में करीब १॥ बजे)

भारद्वाज-गोत्र के सरयूपारीण ब्राह्मणकुल में उत्पन्न। पिता महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्माजी की तीसरी पत्नी से। जन्म—विक्रम संवत् १९७२, माघ शुक्ल पूर्णिमा (प्रातःकाल दंडादि ०।८ तक चतुर्दशी) शुक्रवार को सन्ध्या समय छह बजे अश्लेषा के चतुर्थ चरण में बदरघाट पटना में। जन्म-लग्न—सिंह, राशि—कर्क। तदनुसार १८ फरवरी, १९१६ ई०।

तेरह साल की उम्र में पिता का देहांत—३ अप्रैल, १९२९ को। दो छोटे भाई—विजयसुन्दर (बाबू) और चाँद (पन्ना)। छह बहनें। अब पाँच जीवित। अपनी माँ से एक और बहन और एक और भाई किन्तु बचपन में ही स्वर्गवासी।

पिता की मृत्यु के बाद पटना-कॉलेजियट स्कूल में दाखिल। मैट्रिक के बाद पटना-कॉलेज में। १६३८ ई० में संस्कृत में एम० ए०। हिन्दी में एम० ए० १६४२ में आरा-जैन-कॉलेज में अध्यापन-कार्य-काल में।

संस्कृत में एम० ए० करने के बाद कई वर्षों तक डॉ० अनन्तप्रसाद बनर्जी शास्त्री की देख-रेख में पटना-विश्वविद्यालय में रिसर्च-कार्य। रिसर्च का विषय —'कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दंड-विधान'।

१६४२ में जब आरा में हरप्रसाद-दास-जैन-कॉलेज खुला तो नियुक्ति संस्कृत-विभाग में। वहाँ १६४६ के सितंबर तक। २४ सितम्बर, १६४६ को पटना-कॉलेज में। अक्टूबर, १६४७ में राँची-कॉलेज में। अप्रैल, १६४८ में पुनः पटना-कॉलेज में। अंत तक यहीं।

माँ की मृत्यु १६४० में।

१६४१ के जून महीने में विवाह— स्वर्गीय पं० अमरनाथ शर्माजी की ज्येष्ठा कन्या कुमुद शर्मा से। सं० १६६६ पौष शुक्ल दशमी, शनिवार (१६ जनवरी, १६४३) को उनके एकमात्र पुत्र राजीव (कुग्गू) का जन्म। परिवार में अब कुग्गू, उसकी माँ और कुग्गू के दो चाचा—बाबू और पन्ना। बाबू और पन्ना का परिवार भी। बाबू उड़ीसा के पास बदमपहाड़ नामक स्थान पर वेलफेयर-अफसर और पन्ना दिल्ली में विमान-चालक।

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित होनेवाले मासिक पत्र 'साहित्य' तथा मासिक 'कविता' के सम्पादक। श्री बदरीनाथ सर्व-भाषा-महाविद्यालय के प्राचार्य तथा बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के महामंत्री।

✠

प्रकाशित मौलिक ग्रंथ—

(१) **दृष्टिकोण**— प्रकाशन-वर्ष—१९४७, पुस्तक-भंडार, पटना

(२) **विष के दाँत**—(कहानी-संग्रह)—प्रकाशन-वर्ष—१९५१,

अमिताभ प्रकाशन, ब्रजकिशोर-पथ, पटना—१

(३) Jagjivan Ram—(जीवनी, अँगरेजी में)—प्रकाशन-वर्ष—१९५४

(४) **नकेन के प्रपद्य**—(प्रपद्य-संग्रह)—प्रकाशन-वर्ष—१९५६,

मोतीलाल बनारसीदास, पटना।

(५) **साहित्य का इतिहास-दर्शन**—(साहित्येतिहास का दर्शनालोचन-ग्रंथ)—

प्रकाशन-वर्ष—१९६०, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्।

(६) **सत्रह असंगृहीत पूर्व छोटी कहानियाँ**—(कहानी-संग्रह)—

प्रकाशन-वर्ष—१९६०, अभिज्ञान प्रकाशन, पुस्तक-भवन, राँची।

प्रकाशित संपादित ग्रंथ—

लोक-कथा-कोश—	बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्।
लोक-साहित्य-आकर (साहित्य-सूची)—	,, ,, ,,
लोक-गाथा-परिचय—	,, ,, ,,

प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ।
,, ,, ,, ,, (दूसरा खंड) ,, ,, ,,
,, ,, ,, ,, (तीसरा खंड) ,, ,, ,,
सदल मिश्र ग्रंथावली— ,, ,, ,,
हरि-चरित्र— ,, ,, ,,
गोस्वामी तुलसीदास (स्व० शिवनंदन सहाय) ,, ,, ,,
भारत की प्रतिनिधि कहानियाँ— पुस्तक भंडार, पटना ।
हिंदी की उत्तम कहानियाँ— मोतीलाल बनारसीदास, पटना ।
उपन्यास-कथा-कुंज— अशोक प्रेस, पटना ।
रूपक-कथा-कुंज— ,, ,, ,,
निबंध-मानस— पुस्तक भंडार, पटना ।

[उपर्युक्त प्रकाशित ग्रंथों के अतिरिक्त अन्यान्य विषयों पर लिखी नलिनजी की अनगिनत रचनाएँ हैं, जो यथासमय प्रकाशित होने के क्रम में उनकी पत्नी के पास हैं ।]

✠
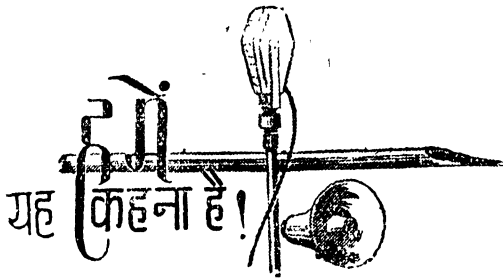
❀ नश्वरता सभी क्षणभंगुर तत्त्वों से टकराती है और उन्हें अपनी प्रखर-प्रबल धारा में आसानी से बहा ले जाती है। किन्तु उसे कभी-कभी ऐसी चट्टानों से भी टकराना पड़ता है जो उसकी उच्छल उर्मियों को चीर कर अपने उन्नत मस्तक के इंगित से घोषित करती हैं कि हम ऐसी काया हैं, जो अन्तर्धान होकर भी अपनी छाया छोड़ जाती हैं! नलिनजी इस वेगवान मर्त्य-निर्झर की ऐसी ही चट्टान सिद्ध हुए हैं। अचंचल! अमिट!! अमर!!!

✠ ✠ ✠

❀ उनके पंचभौतिक अस्तित्व को आकस्मिक और असामयिक रूप से तिरोहित होते हुए देखकर उनके परिवेश का सम्पूर्ण वायुमण्डल आज वाष्पाकुल हो उठा है। यह स्मृति-अंक उसी आकुलता का एक श्रद्धालु अभिव्यंजन है। इसमें त्रुटियों और अभावों की कमी नहीं। फिर भी

अत्यन्त ही अल्प काल में यह जो बृहत् कार्य सम्भव हो सका है, उसके पीछे इस अंक के रचनाकारों और शुभेच्छुओं का ही एकमात्र हाथ है। अन्यथा तीस-चालीस दिनों में, लगभग चार सौ पृष्ठों का यह नियोजित असाधारण अध्यवसाय कभी भी कार्यान्वित नहीं हो पाता।

✣ ✣ ✣

❀ यह स्मृति-अंक वीर-पूजा की अभिव्यक्ति नहीं है। यह मानवीय उदात्तता की आत्मिक अर्चना है। इसकी प्रेरणा में वन्दना कम, आराधना अधिक है। इसे इस रूप में इसलिए निकाला गया है कि हम यह अनुभव करें कि उपस्थिति की अभ्यर्थना से अनुपस्थिति की स्मृति कितनी पवित्र और शान्तिप्रद हो सकती है! हमें विश्वास है कि हमारा यह दृष्टिकोण सात्विक क्षेत्रों से साधुवाद का आशीर्वाद पाएगा।

✣ ✣ ✣

❀ अन्त में, इस अंक को विशेष रूप से सहयोग देनेवाले भाई उपेन्द्र महारथीजी का हम हार्दिक आभार मानते हैं जिन्होंने मुखपृष्ठ से लेकर आन्तरिक रेखांकन की सभी कलाकृतियों का निर्माण, बहुत बड़ी व्यस्तता के बावजूद स्वयं किया है। हम श्रीमती कुमुद शर्माजी के भी कम ऋणी नहीं हैं जिन्होंने आवश्यकतानुसार हमें हर तरह से सहयोग दिया है। 'नई धारा' के प्रधान सम्पादक बेनीपुरीजी ने अस्वस्थता के बावजूद हमें जो चन्द पंक्तियाँ लिखकर भेजी हैं, उसके लिए हम उनसे अत्यधिक उपकृत हैं। प्रबन्ध-सम्पादक भाई उदयराज सिंहजी के विषय में तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यदि 'नई धारा' किसी और व्यक्ति की सम्पत्ति होती तो यह महत् आयोजन कभी भी इस रूप में साकार नहीं हो पाता!! श्री सुरेशजी की साहित्यिक-सहायता भी चिर-स्मरणीय है। इत्यलम्!!!

—ब्रजकिशोर 'नारायण'

७, एम० एल० ए० फ्लैट,
पटना—१

संशोधित विज्ञप्ति

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का ग्रंथ-पुरस्कार

(सन् १९६१-६२ ई०)

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से वर्त्तमान आर्थिक वर्ष (१९६१-६२) में एक हजार रुपये के छह ग्रंथ-पुरस्कार, उसके आगामी वार्षिकोत्सव के अवसर पर निम्नलिखित विषयों के श्रेष्ठ मौलिक हिन्दी-ग्रंथों के लिए दिये जायेंगे।

इन छह पुरस्कारों में एक पुरस्कार अहिन्दी-भाषाभाषी हिन्दी लेखकों के लिए होगा और शेष पाँच पुरस्कारों में से तीन बिहार के ग्रंथकारों के लिए तथा दो पुरस्कार अखिल-भारतीय स्तर पर हिन्दी-लेखकों को दिये जायेंगे।

(१) अहिन्दी-भाषाभाषी लेखकों के लिए पुरस्कार-विषय—कथा-साहित्य (हिन्दी मौलिक उपन्यास अथवा कहानी-संग्रह)।

(२) बिहारी लेखकों के लिए पुरस्कार-विषय—(क) आदिवासी संस्कृति (ख) शिकार (ग) नीतिशास्त्र (Ethics)।

(३) अखिल भारतीय स्तर के पुरस्कार-विषय—(क) तंत्र-विज्ञान और (ख) सैन्य-विज्ञान।

उपर्युक्त पुरस्कार-प्रतियोगिता के लिए जनवरी, १९५० ई० से दिसम्बर, १९६१ ई० तक की अवधि में प्रकाशित पुस्तकें ही स्वीकृत होंगी। पुरस्कार के लिए भेजी जानेवाली प्रत्येक पुस्तक की सात-सात प्रतियाँ परिषद्-कार्यालय में ५ जनवरी, १९६२ ई० तक अवश्य ही पहुँच जानी चाहिए। पुरस्कार मिलने या न मिलने की दशा में पुस्तकें लौटाई नहीं जायेंगी। प्रत्येक पुस्तक पर यह लिखा होना चाहिए कि वह किस विषय की प्रतियोगिता में भेजी गई। प्रत्येक पुस्तक के साथ एक स्पष्ट लिखित पत्रक संलग्न रहना चाहिए, जिसमें पूरा विवरण अंकित हो—पुस्तक और प्रकाशक के नाम और पते, प्रकाशन-वर्ष, लेखक का वर्त्तमान पूरा पता, विषय आदि।

परिषद्-नियमावली, संख्या ४ के अनुसार बिहार-सरकार की विशेष अनुमति के बिना इस प्रतियोगिता में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के संचालक-मण्डल तथा सामान्य-समिति के सदस्य भाग नहीं ले सकेंगे।

रेलवे पार्सल से भेजी जानेवाली पुस्तकों के लिए पता—

(१) ईस्टर्न रेलवे : पटना जंक्शन और नॉर्थ ईस्टर्न रेलवे : महेन्द्रू घाट।

डाक से भेजी जानेवाली पुस्तकों के लिए पता—

(२) संचालक, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—६।

—अजित नारायण सिंह 'तोमर'
प्रभारी संचालक

खाद्य के विषय में आत्मनिर्भरता के लिये
बिहार की योजनाएँ

कृषि के विकास पर ही सब प्रकार की उन्नति आश्रित है। बिहार में उद्योग के विकास के लिये कृषि का दृढ़ आधार अपेक्षित है, इसलिये कि प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त अन्न अवश्य उपलब्ध रहे। जन-संख्या की वृद्धि की दर को देखते हुये, बिहार राज्य में, प्रति व्यक्ति १७.५ औंस खाद्य-सामग्री के आधार पर, कुल ८६ लाख टन अन्न की जरूरत पड़ेगी। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में, बिहार में लगभग २० लाख टन की अतिरिक्त उत्पादन-क्षमता बढ़ी। तृतीय योजना में २०'२७ लाख टन अतिरिक्त उत्पादन-क्षमता का लक्ष्यांक रखा गया है।

'अधिक अन्न उपजाइये' योजनाओं की सफलता लाखों-लाख कृषकों के ही प्रयास पर आश्रित है। रासायनिक उर्वरकों, सुधरे हुए बीज आदि का उपयोग ही योजना के लक्ष्यांक की सिद्धि का सूचक होगा।

किसानों के लड़कों को कृषि-शिक्षा देने के लिये सबौर, राँची और ढोली में कृषि-महाविद्यालय स्थापित किये गये हैं। कुल सत्रहों जिलों में कृषि-विद्यालय खोले गये हैं। ग्रामस्तरीय कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण के लिये दो वर्षों का डिप्लोमा कोर्स चालू किया गया है। प्रगतिशील किसानों को सुधरी कृषि-प्रणाली के आधुनिक तरीकों से परिचित कराने के लिये प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी है।

तृतीय योजना में खाद्योत्पादन के कार्यक्रम में ग्राम-पंचायतों के माध्यम से लोगों का सहयोग प्राय: निश्चित है। किसानों के लिये ऋण की व्यवस्था करने के निमित्त सहकारिता संस्थाओं को और अधिक शक्तिसम्पन्न किया जा रहा है।

—जन-सम्पर्क-विभाग, बिहार, द्वारा प्रसारित

आपके बच्चों के लिये विद्यालय

भारतीय संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि विद्यालय जाने योग्य सभी बालक-बालिकाओं के लिये निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रबंध सरकार द्वारा किया जाना चाहिये।

यह अनुमान लगाया गया है कि बिहार में ६ वर्ष से ११ वर्ष की उम्र के ५६ लाख ६ हजार बच्चे हैं। इनमें से ३२ हजार तो विद्यालयों में शिक्षा पा रहे हैं और शेष बालक-बालिकाओं को विद्यालय में भेजने की व्यवस्था करनी है।

बिहार में प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये, नये विद्यालय खोलने के निमित्त जनता को भूमि, श्रम, धन तथा अन्य सामान देकर यथेष्ट सहयोग प्रदान करना चाहिये।

यह संतोष की बात है कि बालक-बालिकाओं की इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये बिहार की जनता ने काफी उदारता दिखाई है। केवल १९५९ में, इस राज्य की जनता ने उक्त कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये जो सहयोग दिया, उसका मूल्य ३७ लाख रुपये से अधिक था।

जन-सम्पर्क विभाग, बिहार द्वारा प्रसारित

तृतीय पंचवर्षीय योजना में बालिका-शिक्षा

बिहार राज्य में तृतीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में १८ लाख बालिकाओं को प्राथमिक कक्षाओं में भरती करने की व्यवस्था की गयी है।

बालिका माध्यमिक [मिडिल] विद्यालयों में पढ़ने वाली सभी बालिकाओं के लिये निःशुल्क शिक्षा करने की योजना है।

बालिका प्राथमिक विद्यालयों में नियमित उपस्थिति के लिये पुरस्कार को व्यवस्था की जायगी ताकि बालिकाएँ अधिक से अधिक संख्या में नियमित रूप से विद्यालयों में जा सकें।

शहरी क्षेत्रों में गैर-सरकार बालिका माध्यमिक विद्यालयों को विशेष अनुदान दे की व्यवस्था की जायगी।

माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा पाने वाली बालिकाओं को वृत्तियाँ दी जायँगी।

जन-सम्पर्क विभाग, बिहार द्वारा प्रसारित

जमशेदपुर कारखाने की स्टील मेल्टिंग शाप मे यह घटना कुछ वर्ष पहले हुई थी। ७५ टन पिघले लोहे से भरा एक बड़ा लैडल ऊपर के क्रेन से छूट कर भयानक आवाज के साथ जमीन पर गिरा। फिर तो उसकी चिनगारियों और पिघले लोहे के छींटो से वे राज भी बुरी तरह घायल हो गये जो काफी दूर पर काम कर रहे थे। लोगो की चीख-पुकार और भाप की फुफकार से सारा इलाका गूँज उठा।

पहला ऐम्बुलेन्स घायलो मे से सिर्फ पाँच आदमियो को अस्पताल ले जा सका। जेनरल मैनेजर कीनन सिर्फ तीन घायलो को अपनी गाड़ी मे ले सकते थे। उन्होने ऐसे तीन घायलों को चुना जिनके बचने की अधिक संभावना थी। मगर उनमें से एक, हिन्दू मजदूर ने जाने से इन्कार कर दिया। "हम को मत ले जाओ" उसने कहा। अपनी भयानक हालत की जरा भी परवाह न करके उसने बड़ी तकलीफ से अपने एक मुसलमान साथी की ओर इशारा किया और कहा: "हमारे भाई को ले जाओ।" कीनन साहब बताते हैं: "उस हिन्दू को खुद भयानक दर्द था और मौत का खतरा था, फिर भी उसने यह नहीं सोचा कि मुसलमान दूसरे धर्म का है, बल्कि उसे अपना भाई समझा"।

एक साथ काम करने से उत्पन्न भाई-चारे की यह भावना जमशेदपुर की आत्मा का परिचय देती है जहाँ उद्योग सिर्फ रोजी-रोटी का जरिया ही नहीं, बल्कि जिन्दगी का रास्ता है।

The Tata Iron and Steel Company Limited JWTTN5350A

मुद्रकः—श्री सुरेश कुमार, अशोक प्रेस, पटना—६

स्वर्गीय पं० नलिन विलोचन शर्मा

—नलिनजी को मैं अच्छे मित्र के रूप में जानता था। संस्थाओं के निर्माण और सुन्दर रूप से संचालन के लिए नलिनजी जैसे त्यागियों की आवश्यकता है। नलिनजी की विशेषता यह थी कि जितना विशाल उनका शरीर था, उतनी ही विशाल उनकी आत्मा।

उच्च न्यायालय, पटना

सतीशचन्द्र मिश्र
(न्यायाधीश)

✣ ✣

—शर्माजी उदार प्रकृति के थे। संस्कृत विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के परिवर्त्तन के सम्बन्ध में शर्माजी से मैंने परामर्श मांगा था। वे राय देने को तैयार भी हो गये थे। दुर्भाग्य की बात है कि मैं उनकी राय से वंचित रह गया।

बोरिंग रोड, पटना—१

सत्येन्द्र नारायण सिंह
(शिक्षा-मंत्री, बिहार)

—नलिनजी मेरे शिष्य थे। मैंने कभी सोचा नहीं था कि मुझे उनकी शोक-सभा में आना पड़ेगा।

महेन्द्रू, पटना—६

(डाक्टर) ईश्वर दत्त

✣

Regd. No. .P 895

नई धारा

नलिन स्मृति अंक

तीन अंतिम झाँकियाँ